



परम पूज्य तपश्चर्या-चक्रवर्ती पट्टाधीशाचार्यश्री
सुविधिसागर जी महाराज

के

50 वें जन्मदिवस के पावन अवसर पर
सुविधि-परिवार के द्वारा आयोजित

जिनवाणी-महोत्सव



सहस्रग्रन्थसंग्रह

* जन्मदिवस 19-03-1971

* मुनिदीक्षा-11-05-1989

* आचार्यपद- 20-06-2004

पट्टाधीशपद- 24-12-2010 (20-06-2004 को की गई उद्घोषणा के अनुसार)

परम पूज्य आचार्यश्री सन्मत्तिसागर जी महाराज के द्वारा की गई उद्घोषणा:-

हमारी समाधि के पश्चात् आपको इस संघ के संचालकपद पर नियुक्त करते हैं।

(अंकलीकर वाणी-जुलाई 2004) (अक्षयज्योति-अक्तूबर 2004)



नाटक समयसार

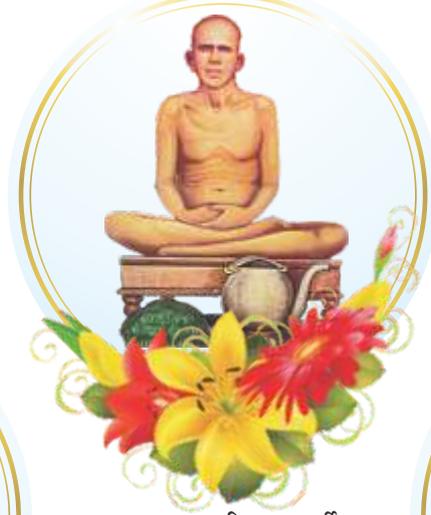
ग्रन्थकर्ता : पण्डितप्रवरश्री बनारसीदास जी



सम्पादक-अनुवादक
बुद्धिलाल जी श्रावक

प्रकाशक
जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय
हीराबाग-मुम्बई (महाराष्ट्र)

(परम्परानायक)



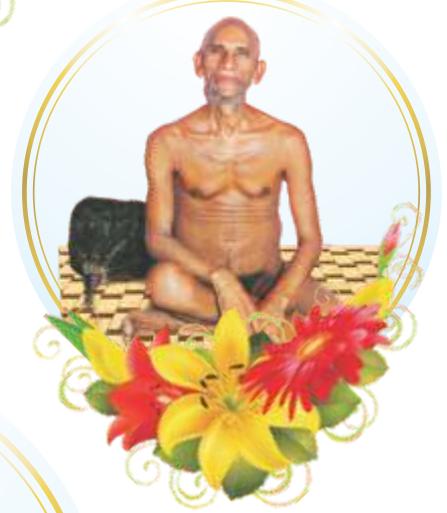
(द्वितीय पट्टाधीश)



परम पूज्य तीर्थभक्त-शिरोमणि,
आचार्यश्री महावीरकीर्ति जी महाराज

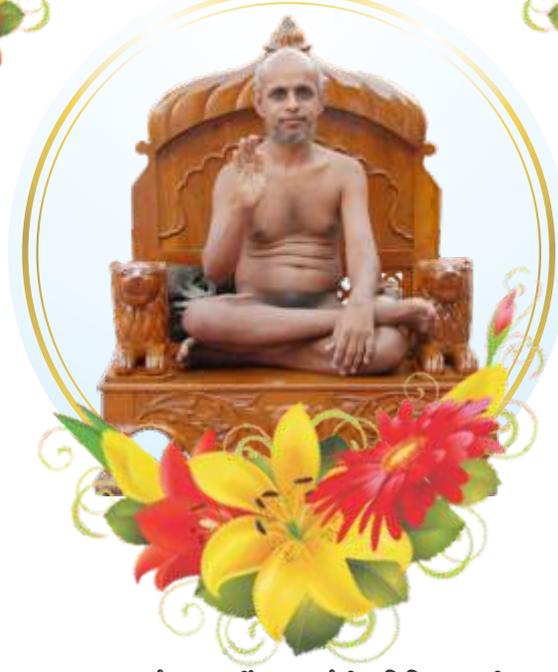
परम पूज्य चारित्र-चक्रवर्ती,
आचार्यश्री आदिसागर जी महाराज
(अंकलीकर)

(तृतीय पट्टाधीश)



परम पूज्य सिद्धान्त-चक्रवर्ती,
आचार्यश्री सन्मत्तिसागर जी महाराज

(चतुर्थ पट्टाधीश)



परम पूज्य तपश्चर्या-चक्रवर्ती, आचार्यश्री सुविधिसागर जी महाराज

दिगम्बर साधु निरन्तर पगविहार करते रहते हैं। ग्रन्थभण्डार को साथ में रख कर विहार करना अशक्यप्रायः होता है। फलतः उनको ग्रन्थों के सन्दर्भ देखने में असुविधा होती है। उनकी सुविधा के लिये इस कोश का निर्माण किया गया है। इस कोश के निर्माण में किसी भी प्रकार का व्यापारिक हेतु नहीं है।

आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न श्रावकबन्धुओं से निवेदन है कि वे ग्रन्थ का विक्रय कर अध्ययन करने की परम्परा को कायम रखें। मुखपृष्ठ पर हमने ग्रन्थकर्ता, अनुवादक, सम्पादक, प्रकाशक आदि के नाम दिये हैं। किसी संस्थान का कर्तृत्व हमने लुप्त नहीं किया है।

इस कोश के लिये आवश्यक ग्रन्थ हमें अनेक स्रोतों से प्राप्त हुये हैं। हम उन सभी का आभार मानते हैं।

सुविधि-परिवार



नमः सर्वज्ञाय ।

श्रीमदमृतचन्द्रसूरि विरचित

संस्कृतकलशा सहित

स्वर्गीय कविवर बनारसीदासजी रचित

नाटक समग्रसार

सरल हिन्दीटीका सहित ।

टीकाकार

देवरी (सागर) निवासी बुद्धिलाल श्रावक ।



प्रकाशक

जैन-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय,

हीराबाग, पो० गिरगांव-धम्बई ।

आषाढ, वि० सं० १९४६ ।

प्रथम संस्करण ।

मूल्य पाँच रुपये ।

प्रकाशक—

छगनमल धाकलीराल

मालिक

जैन-ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय,
हीराबाग, गिरगांव-बम्बई ।

ॐ
ॐ ॐ ॐ
ॐ

मुद्रक—

म० ना० पुळकणी,
कनाटक प्रेम,

३१८ए, ठाडुरदार, मुबई २-

×××××××××× प्रस्तावना *××××××××××*

— पाठक ! यह बात जगत् प्रसिद्ध है, कि स्वामीकुन्दकुन्द आचार्य समयसारणीकी रचना करके जैनसमाज क्या सारे संसारका अद्वितीय उपकार कर गये हैं। आचार्यरने इस ग्रन्थकी रचना प्राकृत भाषामें की है। जैनसमाज जिस प्रकार कि स्वामीकुन्दकुन्दके उपकारसे उपकृत है, उसी प्रकार स्वामीअमृतचंद्रसूरिका भी आभारी है, जिन्होंने इस ग्रन्थके संस्कृत पद्योंमें कलशा रचे और आत्मख्याति नामकी संस्कृत टीका करके गहनसे गहन विषयको भी सरल किया है। यह सब ठीक है, परन्तु यदि उपर्युक्त ग्रन्थकी विद्वद्धर पाड़े राजमल्लजीने वाउ बोधिनी टीका और पं० जयचन्द्रजीने भाषा वचनिका न की होती और विद्वान् पंडित बनारसीदासजीने इसे भाषा कवितामद्भ न किया होता तो हम सब अथराजकी प्राकृत संस्कृत रचना होते हुए भी जैनपदार्थ-विज्ञानसे वंचित ही रहते। यद्यपि गद्य काव्यका महत्व पद्यसे कम नहीं है, फिर भी हम कहेंगे कि पद्य काव्य विषयको हृदयस्थ रखने और दूसरोंके समक्ष उपस्थित करनेमें विशेष सहकारी होता है। इसलिये कहना होगा कि पं० बनारसीदासजी रचित नाटक समयसार आध्यात्मिक-विद्याके पठन पाठनके हेतु अत्युपयोगी और भाषा भाषी विद्वानोंके हेतु तो अद्वितीय अग्रदूत है।

यह ग्रन्थ यद्यपि हिन्दी भाषाका है, परन्तु गहन विषयोंसे समृद्ध है इसलिये पूर्ण और अर्वाचीन विद्वानोंने इसकी टीकाएँ करके इसे सरल किया है। उनमेंसे मन्मथेन्द्र सरलटीकानाडी हस्तलिखित प्रति, दूसरी नाना

रामचन्द्रनी नाग द्वारा प्रकाशित प्रति और तीसरी प्रकरणरत्नाकरमें सम्मिलित गुजराती मुद्रित टीका, ऐसी ये तीन प्रतियाँ हमें उपलब्ध हुई हैं, और उनहीक आगरसे यह प्रयत्न किया है।

यद्यपि उपर्युक्त तीनों टीकाएँ उपयुक्त हैं, तथापि वे वर्तमान कालानुसारी हिन्दीके प्रेमी सज्जनोंके हेतु आकर्षक नहीं कही जा सकतीं और न भारतके सम्पूर्ण प्रान्तोंके निवासी उपरि लिखित ग्रन्थोंकी भाषा समझ ही सकते हैं, इसलिये जैन ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालयके संचालक महाशयकी उक्त अभिलाषा देखकर यह परिश्रम किया है। आशा है कि समाजको रचिकर होगा और इससे उसे लाभ मिलेगा।

समय शब्दका अर्थ अपने स्वभाव व गुण पर्यायोंमें स्थिर रहनेका है, सो पारमार्थिक नयकी दृष्टिसे सब पदार्थ अपने गुण पर्यायोंमें स्थिर रहनेसे उहाँ द्रव्य समय हैं। उन उहाँ द्रव्योंमें आत्म द्रव्य सब द्रव्योंका ज्ञायक होनेके कारण सारभूत है। भाव यह है कि आत्म द्रव्य समयसार है। और नाटक शब्दका अर्थ स्पष्ट तथा प्रसिद्ध है और उसे ग्रन्थमें नीचे-लिखे उद्धों द्वारा दर्शाया है—

पूर्व वध नासै सो तो सगीत कला प्रकासै,
 नव वध रंधि ताल तोरत उछरि कै ।
 निसकित आदि अष्ट अंग सग सखा जोरि,
 ममता अलापचारी करै स्वर भरि कै ॥
 निरजरा नाद गाजै व्यान मिरदग बाजै,
 छत्रयौ महानंदमै समाधि रीझ करि कै ।
 मत्ता रगभूमिमें मुक्त भयौ तिहूँ काल,
 नाचै सुदृष्टि-नट ज्ञान स्वाग धरि कै ॥

या घटमें भ्रमरूप अनादि, विलास महा अविवेक अपारौ ।
 तामहि और मरूप न दीसत, पुग्गल नृत्य करै अति भारौ ॥
 फेरत मेख टिखावत कौतुक, सौंज लिये वरनादि पमारौ ।
 मोहसौं भिन्न जुदौ जडसौं, चिन्मूरति नाटक देखनहारौ ॥

तापर्य यह है कि नाटक समयसार ग्रन्थमें आत्माका स्वभाव विभाव नाटकके ढंगपर प्रतयाया है । विशेष इतना है कि शुद्ध द्रव्यार्थिक नयको मुराय करके कथन किया है, क्योंकि जीवकी जन्म तक पर्यायवृद्धि रहती है तत्र तक संसार ही है और जन्म वह शुद्ध नयका उपदेश ग्रहण करके द्रव्यघटिसे अपने आत्माको अनादि, अनन्त, शुद्ध, बुद्ध और आनन्दकन्द मानता है वा जाति, कुल, शरीर आदि वा उनके संबन्धियोंसे अहं वृद्धि ओड़ता है और परद्रव्योंके निमित्तसे उत्पन्न हुए विभाव भावोंसे भिन्न श्रद्धान करता है तत्र ही अपने स्वरूपका अनुभव करता है और शुद्धोपयोगमें ल्याकर निष्कर्म दशाको प्राप्त होता है । अस्तु, जैनधर्मके धर्मका दारमदार नय ज्ञानपर निर्भर है और इस ग्रन्थका कथन तो पद पदपर नयोंकी अपेक्षा रखता है । इसलिये समयसारमें प्रवेश करनेके पूर्वही नय-ज्ञानमें दृष्ट हो लेना नितान्त आवश्यक है, नहीं तो पदार्थका स्वरूप अन्यथा ग्रहण हो जानेकी अनिवार्य संभावना है । इस ग्रन्थकी सरल भाषामें चाहे जितनी टीकाएँ रची जायें वा चाहे नितने विस्तारसे लिखी जायें तो भी इस ग्रन्थका यथार्थ बोध गुह्यमके बिना उपलब्ध नहीं हो सकता । इससे प्रकाशककी इच्छा रहते हुए भी टीका प्रस्तुत नहीं की है, फिर भी विषयको स्पष्ट करनेमें संकीर्णता नहीं की गई है । इतनेपर भी यदि इस ग्रन्थके स्याध्यायी सज्जनोंको कहीं शंका उपजे तो उन्हें पत्रद्वारा हमें सूचित करना चाहिए, हम शक्ति भर समाधान करनेकी योजना करेंगे

अतमें यह लिख देना नितान्त आवश्यक है कि मैं किसी भी भाषाके साहित्यमें पूर्ण योग्यता नहीं रखता और न जैनधर्मके उच्च प्रर्थोंमें प्रशंसा योग्य प्रवेश हूँ। पर हूँ, पंचमहाल जिलेके दाहोद नगरमें आध्यात्मिक विद्याकी चर्चाका अच्छा प्रचार है, और स्वर्गीय विद्वान् श्रीदादा मनसु-खलाउजी हरीखालजी तो वहाँ इस विद्याके एक अद्वितीय रत्न तथा स्वामी कुन्दकुन्दके अनन्य भक्त थे। उन स्वर्गीय आमानुभवकी सम्जनका मैंने लगभग दो वर्ष सत्संग किया है, इसलिये मुझे जो कुछ प्राप्त है वह उन्हीं महानुभावका प्रसाद है वा प्रथ रचनामें जो कुछ भूषण हैं वे उन्हींके दिये हुए हैं, और जो कुछ दूषण रह गये हों वे मेरे अज्ञान और प्रमाद जनित हैं। विशेष यह कि उपर्युक्त श्रीदादाजीके अन्यतम शिष्य शाह संतोपचन्द माणिकचन्दजीने हमारी छतिकका सशोभन किया है इस लिये भूलोंका यथासंभव निराकरण भी किया है। फिर भी आगम अगम्य है 'को न विमुह्यति शास्त्र समुद्रे' की नीतिमें अनेक त्रुटिया प्रथमें रह गई होंगी, विद्वान् लोग हमें विदित करेंगे तो आगामी संस्करणमें उनके निवारण करनेके लिये प्रकाशक महोदयको वाच्य करनेकी चेष्टा की जायेगी। हमारी जन्मभूमि देवरीमें विद्वानोंका समागम आवश्यकतासे कम है, पर श्रीमान् नेगी लखीप्रसादजी वैद्य जैनप्रर्थोंका अच्छा सग्रह रखते हैं, सो प्रथ-रचनाके समय आपके पुस्तक भंडार तथा आपके अ्येष्ठ पुत्र भाइ हीराखलाउजी नेगी भूतपूर्व अध्यापक सिद्धान्तविद्यालय मारैनासे अनपेक्षित सहायता मिली है, इस कारण आप महानुभावोंका आभार मानता हूँ।

देवरी ७* (सागर) सी० पी० }
 माणिकचन्द पुस्तकालय ८ वी स० २४५५ }

समाजसेवक
 बुद्धिलाल श्रानक

ॐ ~~~~~ ॐ

प्रकाशकका निवेदन ६

ॐ ~~~~~ ॐ

नाटक समयसार ग्रन्थ हिन्दी-भाषा साहित्यका एक उज्ज्वल रत्न है। अभी तक इस ग्रन्थके मुद्रित चार संस्करण हमारे देखनेमें आये हैं, जिनमें तीन संस्करण तो मूलमात्रही छपे थे, एक संस्करण वयोवृद्ध नाना रामचन्द्र नाग महाशयने पुरानी भाषाकी टीनाम प्रकाशित किया था। वह भी विक्रय और कई वर्षोंसे नहीं मिलता है। इस कारण आध्यात्मिक रसके रसिया स्वाध्याय प्रेमियोंकी इच्छा देखकर हमने यह ग्रन्थ छपानेका विचार किया और मन लोगोंके समझमें आजाय ऐसी सरल हिन्दीभाषाटीका सहित छपनेपर लोगोंकी अधिक लाभकारक होगा ऐसा जानकर प० बुद्धालालजा थावर देवरी निवासीको सरल हिन्दीभाषाम टीका लिख देनेका आग्रह किया, हमारे आग्रहसेही उन्होंने यह हिन्दीभाषाटीका लिख दी। इस कारण पंडितजीका मैं बहुतही आभार मानता हूँ।

स्वर्गीय प० बनारसीदासजीने जो कविता की है, वह आचार्य अमृतचन्द्र सूरिके नाटक समयसारके कलशोंके श्लोकोंकी ही हैं, सो हमने कविताके नीचे टिप्पणीकी जगह कलशोंके श्लोक भी दे दिये हैं। जिनसे स्वाध्याय प्रेमियोंको स्मरण रहे कि यह कविता इन श्लोकोंका अनुवाद है। कहीं कहींपर तो प० बनारसी दासजीने एक श्लोकका कई छन्दोंमें वर्णन करके विषयको बहुतही सरलता पूर्वक समझाया है। ग्रन्थका स्वाध्याय करनेसे यह स्पष्ट मालूम हो जायगा।

कलशोंके छपानेका कार्य ईडरके जैनशास्त्रभण्डारकी एक अति प्राचीन प्रति परसे किया गया है जिनमें पहले मूल कलशा है, फिर उनकी रायमङ्गजीदृत भाषाटीका है, उसके बाद प० बनारसीदासजीकी कविता है। यह प्रति सेठ पूनम चन्दजी सौमलचन्दजी गाधीने मेजर हम बंधी सहायता दी।

कलशोंका सशोधनकाय काशीके पत्रालालना चौधरी द्वारा प्रकाशित सस्कृतके प्रथम गुच्छक और परमाध्यात्मतरंगिणी नामक मुद्रित प्रतिपरसे किया गया है,

जिसे सधी मोतीलालजी भाण्डर सचालू धीसन्मति पुस्तकालय जंपुरने भेजकर सहायता दी ।

मूल कविताका सशोधन पं० नाथूरामजी प्रेमी द्वारा एक समयसारकी सशोधित प्रति मिली जिसपरसे किया गया है । यह प्रति पं० नाथूरामजी प्रेमामे स्वयं छपानेके इरादासे सशोधन की थी ।

इस ग्रन्थके छपानेमें जो उक्त महानुभावोंसे सहायता मिली है उसका मैं हृदयसे आभार मानता हूँ ।

इस ग्रन्थके छपानेमें मेरे दृष्टि दोषसे व अज्ञानतासे जो भूलें रह गई हैं उनके लिए मैं क्षमा प्रार्थी हूँ । विद्वान् यदि भूलें लिखोकी कृपा करंगे तो धायामी सस्वरणमें सशोधन कर दी जावेगी ।

दिनीत

छगनमल चाकलीवाल



विषयसूची

— ० —

	पृष्ठांक		पृष्ठांक
कविवर बनारसीदामनीका जीवन		काल द्रव्यका स्वरूप	२०
चारन	१ से ३१	जीवका वर्णन	२१
हिन्दाटीकाकारका मंगलाचरण	१	अजीवका "	२२
प्रथकारका मंगलाचरण		पुण्यका "	२२
श्रीपार्श्वनाथ स्तुति	०	पापका "	२२
श्रीसिद्ध स्तुति	५	आप्तवका "	२२
श्रीसाधु स्तुति	६	सवरका "	२३
सम्यग्दृष्टीकी स्तुति	७	निजराका "	२३
उत्थानिका		घघका "	२३
मिथ्याचि लक्षण	११	मोक्षका "	२४
कविस्वरूप वर्णन	१२	वस्तुके नाम	२४
कविलघुता वर्णन	१३	शुद्ध जीव द्रव्यके नाम	२४
भगवानकी भक्तिसे हर्म बुद्धिवल		सामान्य जीव द्रव्यके नाम	२५
पाप्त हुआ है	१५	आकाशके नाम	२६
समयसारकी महिमा	१६	कालके नाम	२६
अनुभन वर्णन	१७	पुण्यके नाम	२६
" लक्षण	१७	पापके नाम	२६
" महिमा	१७	मोक्षके नाम	२७
जीव द्रव्यका स्वरूप	१८	बुद्धिके नाम	२७
पुद्गल द्रव्यका "	१९	विचक्षण पुरुषके नाम	२७
धम द्रव्यका "	१९	मुनीश्वरके नाम	२८
अघर्म द्रव्यका "	२०	दशनके नाम	२८
आकाश द्रव्यका "	२०	ज्ञान और चारित्रके नाम	२८
		सत्यके नाम	२८

	पृष्ठांक		पृष्ठांक
सूत्रके नाम	२९	भेदविज्ञानकी महिमा	५३
समयसारके धारह अधिकार	२९	परमार्थकी शिक्षा	५४
१ जीव द्वार		ताधकर भगवानका शरीरकी स्तुति	५५
विदानद भगवाकी स्तुति	३१	जिनराजका यथार्थ स्वरूप	५७
सिद्ध भगवानकी स्तुति	३१	पुत्रल और चैतन्यके भिन्न	
जिनवाणीकी स्तुति	३२	स्वभावपर दृष्टांत	५८
द्वि व्यपस्था	३४	तीर्थंकरके निश्चय स्वरूपकी स्तुति	५९
शास्त्रका माहात्म्य	३५	निश्चय और व्यवहार नयकी अपेक्षा	
निश्चयनयकी प्रधानता	३६	शरीर और जिनवरका भेद	६१
सम्यग्दर्शनका स्वरूप	३७	वस्तु स्वरूपका प्राप्तिमें गुण	
जीवकी दशापर अभिज्ञा दृष्टांत	३८	लक्ष्मका दृष्टांत	६२
जीवकी दशापर सुवर्णका दृष्टांत	३९	भेदविज्ञानकी प्राप्तिमें धानके	
अनुभवका दशापर सूत्रका दृष्टांत	४१	बदलका दृष्टांत	६३
गुणनयकी अपेक्षा जीवका स्वरूप	४२	जिज्ञासाका मत्त स्वरूप	६४
हितापदेश	४३	तत्त्वज्ञान ज्ञानपर जीवकी	
सम्यग्दर्शनका विलाम बणन	४४	अवस्थाना बणन	६५
गुण गुणी अभेद है	४५	वस्तु स्वभावकी प्राप्तिमें नदीका	
हात्थिका चिंतवन	४६	दृष्टांत	६६
साध्य साधकका स्वरूप वा द्रव्य	४७	प्रथम अधिभारकाकार	६७
गुण पयागोरी अभेद विरक्षा	४७	अजीव द्वार	
द्रव्य और गुण पयागोरी भेद		अजीव अधिकार बणन करनका	
विवक्षा	४८	पनिज्ञा	७०
व्यवहार नयसे जीवका स्वरूप	४९	मगलचरण भेदविज्ञान द्वारा	
निश्चय	५०	प्राप्त पूर्णज्ञानकी बदना	७०
गुण निश्चय नयसे	५०	श्रायुकी पारमार्थिक शिक्षा	७१
गुण अनुभवकी प्रामा	५१	जीव और पुत्रका लक्षण	७३
हाताकी असत्या	५२	आत्मज्ञानका परिणाम	७४
		गड चेतनकी भिन्नता	७५

	पृष्ठांक		पृष्ठांक
देह और जीवनी भिन्नतापर दृष्टांत	७५	जानता हमपर दृष्टांत	९७
जीव और पुद्गलका भिन्नता	७६	जीवको कर्मका कर्ता मानना	
देह और जीवनी भिन्नतापर		मिथ्यात्व है इसपर दृष्टांत	९९
दूसरा दृष्टांत	७७	भेदविज्ञानी जीव कर्मका कर्ता	
आत्माका प्रत्यक्ष स्वरूप	७७	नहीं है, मात्र दशरू है	१००
अनुभव विधान	७८	मिले हुए जीव और पुद्गलकी	
मूढ स्वभाव वर्णन	८०	पृथक् पृथक् परत	१०१
ज्ञाता विलास	८१	पदार्थ अपने स्वभावका कर्ता है	१०२
भेदविज्ञानका परिणाम	८२	इस विषयमें शिष्यकी शका	१०३
दूसरे अधिकारका सार	८३	अपरकी शकाका समाधान	१०४
३ कर्ता कर्म क्रिया द्वार		शिष्यका पुन प्रश्न	१०४
प्रतिज्ञा	८६	ऊपरकी शकाका समाधान	१०५
भेदविज्ञानमें जीव कर्मका कर्ता		मिथ्यात्वीके कर्तापनेकी सिद्धिपर	
नहीं है, निज स्वभावका		कुभकारका दृष्टांत	१०६
कर्ता है	८६	जीवको अकर्ता मानकर आत्म	
आत्मा कर्मका कर्ता नहीं है मात्र		ध्यान करनेकी महिमा	१०७
ज्ञाता दृष्टा है	८८	जीव निश्चयनयसे अकर्ता और	
भेदविज्ञानी जीव लोगोंको कर्मका		व्यवहारनयसे कर्ता है	१०८
कर्ता दिखता है, पर वास्त		नयज्ञान द्वारा वस्तु स्वरूप जान	
वम यह अकर्ता है	९०	कर समरस भावमें रहनेवा	
जीव और पुद्गलके जुदे जुदे स्वभाव	९१	लोंकी प्रशस्ता	१०९
कर्ता कर्म और क्रियाका स्वरूप	९२	सम्यग्ज्ञानसे आत्मस्वरूपकी	
कर्ता कर्म और क्रियाका एकत्व	९३	पहिचान होती है	११०
कर्ता कर्म और क्रियापर विचार	९४	ज्ञानीका आत्मानुभवमें विचार	१११
मिथ्यात्व और सम्यक्त्वका स्वरूप	९५	आत्मानुभवकी प्रशस्ता	११२
जैसा कर्म वैसा कर्ता	९६	अनुभवके अभावमें ससार और	
भेदज्ञानका भ्रम मिथ्यादृष्टी नहीं		सद्भावमें मोक्ष है, इनपर	
		दृष्टांत	११३
		मिथ्यादृष्टी जीवकर्मका कर्ता है	११४

	पृष्ठांक		पृष्ठांक
मिथ्याची जीव बर्मका कला और हानी अकता है	११५	चौथे अधिकारका सार	१३६
जो हानी है वह कर्ता नहीं है	११६	५ आमंत्रण अधिकार	
जाव कर्मका कला नहीं है	११६	प्रतिज्ञा	१३९
गुद अत्मनुभयका माहात्म्य	११७	सम्यग्ज्ञानका नमस्कार	१३९
तृतीय अधिकारका सार	११८	त्रयाक्षय भाषाक्षय और सम्य गानका लक्षण	१४०
४ पुण्य पाप एकत्व द्वार		ज्ञाता निराक्षयी है	१४१
प्रतिज्ञा	१२१	सम्यग्ज्ञाना निराक्षय रहता है	१४२
मंगलाचरण	१२१	शिष्यका प्रद्वन	१४३
पुण्य पापकी समानता	१२२	शिष्यका शक्तका समाधान	१४८
पाप पुण्यका समानतामें शिष्यकी शक्त	१२४	राग द्वेष मोह और गानका लक्षण	१४५
शिष्यकी शक्तका समाधान	१२५	राग द्वेष मोह ही आक्षय है	१४५
मोगमागमें शुद्धोपयोग ही उपायेय है	१२६	सम्यग्गुणी जीव निराक्षय है	१४६
शिष्य गुरुका प्रश्नोत्तर	१२७	निराक्षयी नीबोंका आनन्द	१४६
मुनि धापरुमी दगाम बध और मोक्ष दोनों हैं	१२९	उपशम तथा क्षयापशम भावोंकी अस्विरता	१४७
मोक्षकी प्राप्ति अन्तर्दृष्टिसे है	१३०	अशुद्ध नयसे बध और शुद्ध नयसे मुक्ति है	१४९
बाह्यदृष्टिसे मोक्ष नहीं है	१३०	जीवकी वाच्य तथा अतरंग अवस्था	१४९
इसपर शिष्य गुरुका प्रश्नोत्तर	१३१	शुद्ध आत्मा हा सम्यग्दर्शन है	१५०
ज्ञानमात्र मोगमाग है	१३२	पौंचव अधिकारका सार	१५०
ज्ञान और गुमाशुभ कर्मका व्यौरा	१३३	६ स्वर द्वार	
यथायोग्य कर्म आर ज्ञानसे माक्ष है	१३४	प्रतिज्ञा	१५४
मू क्रिया तथा विचक्षण क्रियाका वर्णन	१३५	ज्ञानरूप स्वरकी नमस्कार	१५४
		भद्रविज्ञानका मद्रव	१५५

पृष्ठांक	पृष्ठांक
सम्यक्त्वसे सम्यग्ज्ञान और आत्म स्वरूपकी प्राप्ति	१५७
सम्यग्दृष्टीकी महिमा	१५८
भेदज्ञान सवर निजरा और मोक्षका कारण है	१५९
आत्मस्वरूपकी प्राप्ति होनेपर भेद ज्ञान हेय है	१६०
भेदज्ञान परंपरा मोक्षका कारण है	१६१
भेदज्ञानसे आत्मा उज्ज्वल होता है	१६१
भेदविज्ञानकी क्रियाके दृष्टांत	१६२
मोक्षका मूल भेदविज्ञान है	१६३
छठे अधिकारका सार	१६४
७ निजरा द्वार	
प्रतिज्ञा	१६५
भगवाचरण	१६५
ज्ञान वैराग्यके बलसे शुभाशुभ क्रियायोंसे भी बंध नहीं होता	१६६
भोग भोगते हुए भी ज्ञानियोंको कर्म-कालिमा नहीं लगती	१६६
वैराग्य शक्ति वर्णन	१६८
ज्ञान वैराग्यसे मोक्षकी प्राप्ति है	१६९
सम्यग्ज्ञानके निना सम्पूर्ण चारित्र निस्तार है	१७०
भेदविज्ञानके निना समस्त चारित्र निस्तार है	१७१
श्रीगुरुका उपदेश अज्ञानी जीव नहीं मानते	१७४
जीवकी शयन और जाग्रत दशा कहनेकी प्रतिज्ञा	१७५
जीवकी शयन अवस्था	१७५
” जाग्रत दशा	१७६
जाग्रत दशाका फल	१७७
आत्मशुभव ग्रहण करनेकी शिक्षा	१७८
संसार सर्वथा अमृत्य है	१७८
सम्यग्ज्ञानीका आचरण	१७९
सम्यग्ज्ञानको समुद्रकी उपमा	१८०
ज्ञानरहित क्रियासे मोक्ष नहीं होता	१८०
व्यवहाररहीनताका परिणाम	१८३
ज्ञानके निना मुक्तिमाग नहीं जाना जा सकता	१८४
ज्ञानकी महिमा	१८५
अशुभवकी प्रशमा	१८६
सम्यग्दर्शनकी प्रशमा	१८७
परिग्रहके विशेष भेद कथन करनेकी प्रतिज्ञा	१८९
सामान्य विशेष परिग्रहका निर्णय	१९०
परिग्रहमें रहते हुए भी ज्ञानी जीव निष्परिग्रह हैं	१९०
परिग्रहमें रहनेपर भी ज्ञानी जीवोंको परिग्रह रहित कहना कारण	१९१
परिग्रहमें रहनेपर भी ज्ञानी जीव निष्परिग्रह हैं, इसपर दृष्टांत	१९२

	पृष्ठांक		पृष्ठांक
ज्ञानो जीव महा अक्षय है	१९४	सम्यग्दर्शनके अष्ट अंगोंके नाम	२१३
ज्ञानकी शान्तिही प्रशंसा	१९५	सम्यक्त्वके वाठ अंगोंका स्वरूप	२१४
ज्ञानकी शान्तिही प्रशंसा	१९६	धैर्य नष्टका नाटक	२१५
निरपयगन-अंगे निरप रहनेका उपाय	१९७	सातवें अधिचारका सार	२१६
ज्ञानी जीव निरयोर्नि निरुत्तर नहीं रहते	१९८	८ धर्म द्वार	
ज्ञान और सत्य एक साथ ही पाते हैं	१९८	प्रतिज्ञा	२१८
ज्ञानी जीवोंको क्या बंधने दिने और ज्ञानी जीवोंकी शिखाके नियम हैं	१९९	मग्नचरण	२१८
ज्ञानीके अक्षय और अज्ञानीके अक्षय	२००	ज्ञानचतना और कमचतनाका ध्यान	२१९
ज्ञानी जीव कमरू कला नहीं हैं	२००	कोषधरका कारण अज्ञानउपयोग है	२२०
सम्यग्दर्शनका विचार	२०१	यद्यपि ज्ञानी अक्षय हैं तो भी पुरुषार्थ करते हैं	२२३
ज्ञानका निश्चय	२०२	उदयरी प्रवृत्ता	२२४
ज्ञान भयके नाम	२०३	, पर दृष्टांत	२२५
ज्ञान भयका पृथक् पृथक् स्वरूप	२०४	माधनागमें अज्ञानी जीव पुरुषार्थहीन और ज्ञानी पुरुषार्थी होते हैं	२२६
ज्ञान भयका मय निराकरण उपाय	२०५	ज्ञानी और अज्ञानीकी परस्परिपर दृष्टान्त	२२६
परमभयका मय निराकरण करनेका उपाय	२०६	बही किया तैसा फल	२२७
माधनाग भय निराकरणका उपाय	२०७	अवतक ज्ञान है अवतक वैराग्य है	२२८
विचारका , , ,	२०८	चार पुरुषार्थ	२२९
अनुरोधका , , ,	२०९	चार पुरुषार्थोंपर ज्ञानी और अज्ञानीका विचार	२२९
ज्ञान	२१०	आत्महीनमें चारों पुरुषार्थ हैं	२३०
अज्ञान	२११	सत्सुखा अन्य स्वरूप और मूर्ख का विचार	२३१
सम्यग्दर्शनकी शान्तिही प्रशंसा	२१२		

पृष्ठांक	पृष्ठांक
उत्तम, मध्यम, अधम और अधमाधम जीवोंका स्वभाव	२३३
उत्तम पुरुषका स्वभाव	२३४
मध्यम " "	२३६
अधम " "	२३७
अधमाधम, " "	२३८
मिथ्यादृष्टीकी अहबुद्धिका वर्णन मूढ़ मनुष्य विषयोंसे विरक्त नहीं होते	२४० २४१
अज्ञानी जीवकी मूढ़तापर मृग जल और अंधेका दृष्टांत	२४२
अज्ञानी जीव बचनसे न मुलझ समनेपर दृष्टांत	२४३
अज्ञानी जीवकी अहबुद्धि पर दृष्टांत	२४४
अज्ञानीकी विषयासक्ततापर दृष्टांत	२४५
जो निर्माही है वह साधु है	२४६
सम्यग्दृष्टी जीव आत्मस्वरूपमें स्थिर होते हैं	२४६
शिष्यका प्रश्न	२४७
शिष्यकी शकाका समाधान	२४८
जड़ और चैतन्यकी पृथक्ता	२५०
आत्माकी शुद्ध परणति	२५०
क्षारकी अवस्था	२५१
संसारी जीवोंकी दशा कोल्लूके बेलके समान है	२५४
संसारी जीवोंकी हालत	२५६
घन सम्पत्तिसे मोह हटानेका उपदेश	२५७
लौकिक जनोंसे मोह हटानेका उपदेश	२५८
शरीरमें त्रिलोकके विलास गर्भित हैं	२५८
आत्मविलास जाननेका उपदेश	२५९
आत्मस्वरूपकी पहिचान ज्ञानसे होती है	२६०
मनकी चंचलता	२६१
मनकी चंचलतापर ज्ञानका प्रभाव	२६२
मनकी स्थिरताका प्रयत्न	२६३
आत्मानुभव करनेका उपदेश	२६४
आत्म-अनुभव करनेकी विधि	२६५
आत्मानुभवसे कर्मबंध नहीं होता	२६६
भेदज्ञानीकी क्रिया	२६७
" का पराक्रम	२६८
जाडवं अधिभारका सार	२६९
९ मोक्ष द्वार	
प्रतिज्ञा	२७०
मगलाचरण	२७०
सम्यग्ज्ञानसे आत्माकी सिद्धि होती है	२७१
सुबुद्धिका विलास	२७३
सम्यग्ज्ञानीका महत्व	२७४

	पृष्ठांक		पृष्ठांक
ज्ञानी जीवही चक्रवर्ती है	२७१	अभिमानी जीवोंकी दशा	३०३
नवभक्तिके नाम	२७७	ज्ञानी जीवोंकी दशा	३०४
ज्ञानी जीवोंका मन्तव्य	२७७	सम्यक्कारी आर्योंकी महिमा	३०५
आत्माक चैतन लक्षणका स्वरूप	२७८	सम्यग्गणी जीवोंको बढना	३०७
आत्मा नित्य है	२८०	मांश ग्रामिना क्रम	३०८
सुबुद्धि सखीका व्रणका स्वरूप		अष्ट कर्मोंके नष्ट होनेसे अष्ट	
सम्पन्नते है	२८१	गुणोंका प्रगट होना	३०९
आत्म अनुभवका दृष्टांत	२८२	नवम अधिस्तरका सार	३१०
हेय उपदेश भावोंपर उपदेश	२८३		
ज्ञानी जीव चाहे घरमें रहें चाहे		१० सब विशुद्धि द्वार	
वनमें रहें मोक्षमार्ग साधते हैं	२८३	प्रतिज्ञा	३१२
मोक्षमार्ग जीवोंकी परिणति	२८५	सब उपाधि रहित शुभ आत्माना	
सम्यग्गणी जीव साधु है और		स्वरूप	३१२
मिथ्यागणी खोर है	२८६	वास्तवमें जीव कर्मका कर्ता भोगता	
द्रव्य और सत्ताका स्वरूप	२८७	नहीं है	३१४
षट् द्रव्यकी सत्ताका स्वरूप	२८७	आप्तानमें जीव कर्मका कर्ता है	३१४
छह द्रव्यहीमे जगत्का उत्पत्ति है	२८८	जैसे जीव कर्मका अकर्ता है वैसे	
आत्ममत्तारा अनुभव निर्विकल्प		अभोगता भी है	३१५
है	२९०	अज्ञानी जीव विपर्योना भोगता	
जो आत्ममत्ताको नहीं जानता		है ज्ञानी नहीं है	३१६
वह अपराधी है	२९१	ज्ञानी कर्मका कर्ता भोगता नहीं है	
मिथ्यात्वकी विपरीत वृत्ति	२९२	इसका कारण	३१७
सम्यग्गणी जीवोंका सद्भिचार	२९४	अज्ञानी जीव कर्मका कर्ता भोगता	
समाधि वर्णन	२९७	है इसका कारण	३१८
शुभ क्रियाओंका स्पष्टीकरण	२९७	वास्तवमें जीव कर्मका अकर्ता है	
शुद्धोपयोगमें शुभोपवागना		इसका कारण	३१९
निषेध	२९८	अज्ञानम जीव कर्मका कर्ता और	
ज्ञानमें सब जीव एकसे भासते हैं	३०२	ज्ञानमें भक्तता है	३२०

पृष्ठांक	पृष्ठांक
अज्ञाना जीव अगुभ भावोंका कर्ता होनेसे भाव कर्मका कर्ता है ३०२	अनुभयमें विकल्प त्यागनेका दृष्टांत ३४०
इसके विषयमें शिष्यका प्रश्न ३०३	किस नयसे आत्मा कर्मोंका कर्ता है और किस नयसे नहीं है ३४१
इसपर श्रीगुरुद्वारा समाधान ३२४	ज्ञान ज्ञेयस्वरूप परिणामन होता है पर वह ज्ञेयरूप नहीं हो जाता ३४२
कर्मसे कर्ता भोगता वाचन एकांत पक्षपर विचार ३०५	जगत्के पदार्थ परस्पर अव्यापक हैं ३४३
स्याद्वादमें आत्माका स्वरूप ३२६	कर्म करना और फल भोगना यह जायका निज स्वरूप नहीं है ३४४
इस विषयका एकान्तपक्ष संज्ञन करनेवाले स्याद्वादका उपदेश ३२६	ज्ञान और ज्ञेयकी भिन्नता ३४५
इस निषयमें बौद्धमतवालोंका विचार ३२७	ज्ञेय और ज्ञानके सम्बन्धमें अज्ञानियोंका हेतु ३४६
बौद्धमतवालोंका एकान्त विचार दूर करनेको दृष्टांत द्वारा समझाते हैं ३२८	इस विषयमें अज्ञानियोंकी सरोधन ३४७
बौद्ध जीव द्रव्यको क्षणभंगुर कैसे मान बैठ इसका कारण ३०९	स्याद्वादा सम्यग्दृष्टीकी प्रशंसा ३४८
दुषुद्धिका दुर्गति ही होती है ३३०	ज्ञान ज्ञेयसे अव्यापक है इसपर दृष्टान्त ३४८
दुषुद्धीकी भूलपर दृष्टांत " परिणति ३३१	आत्मपदाथका यथाथ स्वरूप ३४९
अनेकान्तकी महिमा ३३३	परमात्मपदकी प्राप्तिका मार्ग ३५०
छद्म मतवालोंका जीव पदार्थपर विचार ३३६	राग द्वेषका कारण सिद्ध्यात्त्व है अज्ञानियोंके विचारमें राग द्वेषका कारण ३५०
पाँचों मतवाले एकान्ती और जैनी स्याद्वादी हैं ३३७	अज्ञानियोंको सत्यमागना उपदेश ३५३
पाँचों मतोंके एक एक अगवा जैनमत समर्थन है ३३८	ज्ञानका माहात्म्य ३५८
स्याद्वादका व्याख्यान निर्विकल्प उपयोग योग्य है ३४०	अज्ञानी जाव परद्रव्यमेंही लीन रहते हैं ३५५
	अज्ञानाने कुमति और ज्ञानीको सुमति उपजती है ३५५
	दुमति और बुद्ध्याकी समानता ३५६

	पृष्ठांक		पृष्ठांक
मुमुक्षुसे राधिकारी गुलना	३७८	आत्माके सिवाय अन्यत्र ज्ञान	
हुमनि सुमतिका वृत्त	३६०	नहीं है	३७९
द्रव्यरूप भावकर्म और विवेकका		ज्ञानके प्रिना विषयारी विषयके	
निर्णय	३६०	भिन्नारी है	३८०
कर्मके उदयपर चौपरमा दृष्टांत	३६१	अनुभवनी योग्यता	३८१
विश्व चक्रके स्वभावपर		आत्म अनुभवका परिणाम	३८२
सतरचना दृष्टान्त	३६१	आत्मअनुभव करनेका उपदेश	३८३
हुमनि हुना और सुमति		आत्म अनुभवके प्रिना बाह्य	
राधिकारक वृत्त	३६२	चारित्र होनेपरभी जीव	
जहाँ गुद्व जान है वहाँ चारित्र है	३६३	अत्रती है	३८४
जान चारित्रपर पशु अथेका		जन्मानी और ज्ञानियोंकी परिण	
दृष्टांत	३६५	तिम सेद है	३८६
ज्ञान आर त्रियाकी परणानि	३६५	समयसारका सार	३८७
कर्म आर जानका निरु निरु		अनुभव योग्य गुद्व आत्माका	
प्रभाव	३६६	स्वल्प	३८९
जानीकी आलोचना	३६७	प्रयकताका नाम और प्रयकी	
ज्ञानका उदय होनेपर अज्ञान		महिमा	३९०
दशा दृष्ट जाता है	३६८	नव रमांक नाम	३९१
कर्मप्रयत्न मिथ्या है	३६९	लौकिक स्थान	३९२
मोक्ष-मागनें त्रियाका निषेध	३७०	, पारमार्थिक स्थान	३९३
त्रियाकी निदा	३७०	दशव अधिनारका सार	३९५
ज्ञानियोंका विचार	३७१	११ स्याद्वाद द्वार	
वैराग्यकी महिमा	३७४	स्वामी धर्मूतचंद्र मुनिनी प्रणिश	३९८
ज्ञानीकी उन्नतिरा कर्म	३७४	स्याद्वाद ससार सागरसे तारने	
गुद्व आन द्रव्यको नमस्कार	३७५	बाला है	४०१
गुद्व आन द्रव्य जयान् परमा		नय समूहपर शिष्यकी शंका	
तारा स्वरूप	३७६	और गुद्वका समाधान	४०१
मुक्तका मूल कारण द्रव्यत्वि			
नहीं है	३७८		

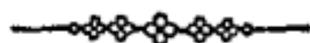
	पृष्ठांक		पृष्ठांक
पदाथ स्वचतुष्टयकी अपेक्षा		घन सम्पत्तिसे मोह हटानेका	
अस्तिरूप और परचतुष्टयकी		उपदेश	४३३
अपेक्षा नास्तिरूप हैं	४०२	कुटुम्बियों आदिमे मोह हटानेका	
स्याद्वादके सप्त भग	४०४	उपदेश	४३४
एकान्तवादियोंके चौदह नय भेद	४०६	इन्द्रादि उच्च पदकी चाह	
प्रथम पक्षका स्पष्टीकरण और खंडन	४०८	अज्ञानता है	४३५
द्वितीय " " " "	४०९	समता भाव मात्रहीम सुख हैं	४३५
तृतीय " " " "	४१०	जिन उन्नतिरी फिर अवनति है वह	
चतुर्थ " " " "	४११	उन्नति नहा है	४३७
पंचम " " " "	४१२	श्री गुरुने उपदेशम ज्ञानी जीव रुचि	
छठे " " " "	४१३	लगाते हे, और मूर्ख समझते ही	
सप्तम " " " "	४१५	नहा	४३८
अष्टम " " " "	४१६	दृष्टात द्वारा समथन	४३८
नवमे " " " "	४१७	पाँच प्रकारके जीव	४४१
दशम " " " "	४१९	इथा जीवना लक्षण	४४१
ग्यारहव, " " " "	४२०	चूषा " "	४४१
बारहवें " " " "	४२१	सूषा " "	४४२
तेरहव " " " "	४२२	ऊषा " "	४४२
चौदहव, " " " "	४२३	घूषा " "	४४२
स्याद्वादकी प्रशना	४२४	उपयुक्त पाँच प्रकारके जीवोंका विशेष	
ग्यारहव अधिभारका मार	४२५	वर्णन	४४३
		चूषा जीवना वर्णन	४४३
		सप्त व्यसनके नाम	४४४
		व्यसनकारे द्रव्य और भाव भेद	४४४
		सप्त भाव व्यसनाना स्वरूप	४४५
		साधन जीवना पुरुषाथ	४४६
		चौदह भाव रत्न	४४६
		चौदह रत्नमि कौन हेय और कौन	
		उपादेय हैं	
१२ साध्य साधक द्वार			
प्रतिज्ञा	४२९		
जीवकी साध्य साधन अवस्थाओंका			
वर्णन	४३०		
साधक अवस्थाका स्वरूप	४३१		
सद्गुरु	४३२		

पृष्ठांक	पृष्ठांक
मोक्षमार्गके साधक जीवोंकी अवस्था	४४८
गुण अनुभवसे मात्त और मिथ्यात्वसे	
संसार है	४४९
आत्म अनुभवका परिणाम	४५०
ज्ञान क्रियाका स्वरूप	४५१
सम्यक्त्वसे क्रमशः ज्ञानकी पूर्णता	
होती है	४५१
सम्यक्त्वकी महिमा	४५२
सम्यग्ज्ञानकी महिमा	४५३
अनुभवमें नबपक्ष नहीं है	४५४
आत्मा द्रव्य क्षेत्र काल भावसे	
अराहित है	४५६
ज्ञान और क्षेत्रका स्वरूप	४५७
स्याद्वादमें जीवका स्वरूप	४५९
साध्य स्वरूप केवलज्ञानका वर्णन	४६२
वामृतचन्द्र-नलाके तीन अर्थ	४६३
प्रपञ्चे अतम प्रथकारकी आशोचना	४६४
वारह्व अधिकारका सार	४६६
१३ चतुर्दश गुणस्थानाधिकार	
मंगलाचरण	४६८
जिनविम्बका महात्म्य	४६८
जिन मूर्ति पूजकोंकी प्राप्ति	४६९
चौदह गुणस्थानोंके नाम	४७२
मिथ्यात्व गुणस्थानका वर्णन	४७२
मिथ्यात्व गुणस्थानमें पाँच प्रकारके	
मिथ्यात्वका उदय रहता है	४७३
एकान्त मिथ्यात्वका स्वरूप	४७४
विपरीत , ,	४७४
विनय " "	४७४
सशय " "	४७५
अज्ञान मिथ्यात्वका स्वरूप	४७५
मिथ्यात्वके दो भेद	४७५
सादि मिथ्यात्वका स्वरूप	४७५
अनादि , ,	४७६
सामादन गुणस्थान वर्णन करनेकी	
प्रतिज्ञा	४७६
सासादन गुणस्थानका स्वरूप	४७९
तासारा गुणस्थान कहनेकी प्रतिज्ञा	४७८
, का स्वरूप	४७८
चौथा गुणस्थान वर्णन करनेकी	
प्रतिज्ञा	४७९
चौथा गुणस्थानका वर्णन	४७९
सम्यक्त्वके आठ विवरण	४८०
सम्यक्त्व स्वरूप	४८०
सम्यक्त्वकी उत्पत्ति	४८१
, के विह	४८१
सम्यग्दर्शनके आठ गुण	४८१
सम्यक्त्वके पाँच भूषण	४८२
सम्यग्दर्शन पचीस दोष वर्णित	
हता है	४८२
आठ महामदके नाम	४८२
आठ मल्लोंके नाम	४८२
छह अनायतन	४८३
तीन मूढता आर पचीस दोषोंका	
जोड़	४८३

	पृष्ठांक		पृष्ठांक
पाँच कारणोंसे सम्यक्त्वका		चौथी प्रतिमाका स्वरूप	४९७
मिनाश होता है	४८४	पाँचवीं " "	४९७
सम्यग्दर्शनके पाँच अतीचार	४८४	छठी " "	४९७
मोहनीय कर्मकी सात प्रकृतियोंके		सातवीं " "	४९८
अनोदयसे सम्यग्दर्शन प्रगट		नव बाइसे नाम	४९८
होता है	४८५	आठवीं प्रतिमाका स्वरूप	४९९
मोहनीय कर्मकी सात प्रकृतियों	४८५	नववीं " "	४९९
सम्यक्त्वोंके नाम	४८६	दशवीं " "	५००
सम्यक्त्वके नव भेदाका वर्णन	४८७	ग्यारहवीं " "	५००
झयोपशम सम्यक्त्वके तीन		प्रतिमाओंके सबधमें मुख्य	
भेदोंका वर्णन	४८७	अपेक्षा	५०१
वेदक सम्यक्त्वके चार भेद	४८८	प्रतिमाओंकी अपेक्षा श्रावणोंके	
यहाँ क्षायिक व उपशम सम्यक्त्वका		भेद	५०१
स्वरूप न कहनेका कारण	४८९	पाँचव गुणस्थानका काल	५०१
नव प्रकारके सम्यक्त्वोंका विवरण	४८९	एक पूर्वका प्रमाण	५०२
प्रतिज्ञा	४८९	अतमुद्धर्तका मान	५०२
सम्यक्त्वके चार प्रकार	४९०	छठे गुणस्थानका वर्णन	५०२
चतुर्थगुणस्थानके वर्णनका		छठे गुणस्थानका स्वरूप	५०३
उपसंहार	४९१	पाँच प्रमादोंके नाम	५०३
अणुव्रत गुणस्थानका वर्णन	४९१	साधुके अद्वाइस मूलगुण	५०३
श्रावणके इन्नीस गुण	४९१	पंच अणुव्रत और पंच महा	
बाइस अभङ्ग	४९२	व्रतका स्वरूप	५०४
प्रतिज्ञा	४९३	पाँच समितिका स्वरूप	५०५
ग्यारह प्रतिमाओंके नाम	४९४	छह आवश्यक	५०५
प्रतिमाका स्वरूप	४९५	स्थविरकल्पी और जिनकल्पी	
दर्शनप्रतिमाका "	४९५	साधुओंका स्वरूप	५०६
मत " "	४९५	वेदनीय कर्मजनित ग्यारह	
सामायिक " "	४९६	परीपह	५०६

	पृष्ठांक		पृष्ठांक
चारित्र्यमोह जीत सात परीपद	५०७	यपका मूठ आखव और	
ज्ञानावरणीयचरित दो परीपद	५०८	मोयका मूल खबर है	५२१
दशनमोहनाय जनित एक और		खबरको नमस्कार	५२१
अतरायजनित एक परीपद	५०९	प्रेमके अतर्ग खबरस्वरूप ज्ञानको	
वाङ्म परीपदोंका वर्णन	५०९	नमस्कार	५२२
स्थनिरम्बी और जिनकम्बी		तेरहवें अधिकारका मार	५२३
साधुकी तुलना	५१०	प्रथ समाप्ति और अन्तिम	
सप्तम गुणस्थानका वर्णन	५११	प्रस्तावित	
अष्टम गुणस्थानका वर्णन	५१२	प्रथ-माहिमा	५२५
नवमं गुणस्थानका वर्णन	५१३	जीव-नाटकी महिमा	५२६
दशवें ,	५१४	त्रय बचिनोंके नाम	५२८
ग्यारहव , ,	५१४	सुकवि लक्षण	५२९
बारहव	५१५	दुःखि लक्षण	५३०
उपनिषद्गीताकी अपेक्षा		वानी व्याख्या	५३२
गुणस्थानोंका काल	५१५	मृषा गुणगान कथन	५३३
क्षपकभेणीम गुणस्थानोंका काल	५१५	समयसार नाटककी व्यवस्था	५३५
तेरहवें गुणस्थानका वर्णन	५१६	प्रथमे सब पद्योंकी संख्या	५४१
, स्वरूप	५१६	इडर भंडारकी प्रतिज्ञा	
केवलज्ञानासी मुद्रा और स्थिति	५१७	अन्तिम अंश	५४३
केवली भगवानको १८ दोष		समयसारके पद्योंकी वर्णानु	
नहीं होते	५१८	क्रमगिरा	५४५
केवलज्ञानी प्रभुने परमादार्थिक		श्रीनन्दसूतचन्द्र सूरि विरचित नाटक	
शरीरका अनिश्चय	५१९	समयसार कलगींसी वर्णानुक्रम-	
आदरह्वं गुणस्थानका वर्णन	५२०	गिका	५५९
, स्वरूप	५२०		

कविवर बनारसीदासजी ।



यद्यपि जैनधर्मके धारक अनेक विद्वान् भारत-वसुधराको पवित्र कर गये है, तथापि किसीने अपना जीवनचरित लिखकर हम लोगोंकी अभि-
लाषाको तृप्त नहीं किया है । परंतु इस प्रथके निर्माता स्वर्गीय पण्डित
बनारसीदासजी इस लाञ्छनसे रक्षित हैं । आपने स्वयं अपनी लेखनीसे
पचपन वर्षका अतर्थाद्य सत्य-चरित्र लिखकर जैनसाहित्यको पवित्र किया
है और एक बड़ी भारी त्रुटिकी पूर्ति की है ।

श्रीमान्का पवित्र चरित बनारसीविलासमे जैनइतिहासके आधुनिक
रोजक श्रीमान् पं० नाधूरामजी प्रेमीने मुद्रित कराया था, उसीके
आधारसे प्रकाशककी इच्छानुसार सक्षित रूपमें यहाँ उद्धृत करते है आशा
है कि,—

“ पीयूष न हि निःशेषं पिबन्नेव सुरसायते ”

की उक्तिके अनुसार यह थोड़ा भी परिचय पाठकोंको सन्तोषप्रद हुए
दिना न रहेगा ।

मध्यभारतमें रोहतकपुरके पास बिहोली नामका एक ग्राम है । वहाँ
राजपूतोंकी वस्ती है । एक समय बिहोलीमें जैनमुनिऋा शुभागमन हुआ ।
मुनिराजके विद्वत्तापूर्ण उपदेश और पवित्र चारित्रसे मुग्ध होकर वहाँके
सम्पूर्ण राजपूत जैनी हो गये । और—

पहिरी भाला मंत्रकी, पायो कुल श्रीमाल ।

थाप्यो गोत्र बिहोलिया, बीहोली-रसपाल ॥

नवकारमंत्रकी भाला पहिनके श्रीमाल कुलकी स्थापना की और
बिहोलिया गोत्र बिहोलिया कुलने खूब श्रद्धे पाई और दूर पूर तक

फैल गया। इस कुलमें परंपरागत बहुत कालके पश्चात् गंगाधर और गौसल नामके दो पुत्र हुए। गंगाधरके वस्तुपाल, वस्तुपालके जेठमल, जेठमलके जिनदास और जिनदासके मूलदाम उत्पन्न हुए। उन दिनों मालवाके नरवर नगरमें मुगल बादशाहोंने राज्य था। मूलदासजीकी वणिक्कृति थी। अपनी विद्वत्ता और सचाईके कारण वे उक्त नगरके शाहीमोदी बन गये। कुछ दिनोंके पश्चात् अर्थात् अर्थात् सातन सुदी ५ वि० संवत् १६०२ को उन्हें एक पुत्र-रत्नकी प्राप्ति हुई, जिसका नाम खरगसेन रखा। दो वर्षके पश्चात् उनके यहाँ धनमल नामक दूसरे पुत्रने जन्म लिया। परंतु वह तीन वर्ष जीवित रहेके चल लसा।

धनमल धनदल उडिगये कालपनसजोग ।

मात पिता वरुनर तये, लहि आतप मुत सोग ॥

धनमलके शोक्ते व्यथित होकर मूलदासजी संवत् १६१३ में धनमलकी की गतिको प्राप्त हो गये। मूलदासजीका काल सुनकर मुगल सरदार वहाँ आया, और उसने इनका घर खालसा करके सब जायदाद जब्त करली, जिससे मूलदासजी की अनाथ मिथ्या अपने पुत्र खरगसेनकी साथ लेकर जौनपुर चली गई। वहाँ उसका पीहर था। बालक खरगसेन अपने नानाके घर सुक्ते रहने लगे, और थोड़े ही दिनोंमें हिसार कित्ता चिड़ी-पत्री आदिके कार्योंमें व्युत्पन्न होकर सोना चाँदी और जवाहिरातका व्यापार सीखने लगे, पश्चात् वे बगालके गौड नामक स्थानमें पहुँचकर वहाँके पोतदार बनकर रहने लगे। कुछ दिनोंके बादम फिर जौनपुर आये, और चार वर्ष जौनपुर रहकर वि० संवत् १६२६ में व्यापारके लिये आगरे आये। चार वर्षके उद्योगसे इनके पास बहुतसा धन संचय हो गया, और पाँचवें वर्ष इनकी माता व गुरुजनोंके प्रयत्नसे मेरठ नगरके मूरदासजी श्रीमालकी कन्याके साथ उनका विवाह भी हो गया। संवत् १६३३ में उन्होंने आगरा

छोड़ दिया और वे विपुल सम्पत्तिके अधिकारी होकर फिर जौनपुरमें वहाँके प्रसिद्ध धनिक टाला रामदासजी अग्रवाल के साथ साँझमें जनाहिरातका धया करने लगे ।

सन् १६३५ में उनके एक पुत्र उत्पन्न हुआ परन्तु वह आठ दस दिन ही जीवित रह सका । थोड़े दिन पीछे खरगसेनजी पुत्र-लाभकी इच्छासे रोहतकपुरकी सतीकी यात्रा करनेको सकुटुम्ब गये । परन्तु मार्गमें चोरोंने सर्वस्व छट लिया, एक कौड़ी भी पासमें न रही, बड़ी कठिनतासे घर लौटकर आये । कविनर कहते हैं—

गये हुते मांगनको पूत । यह फल दीनो सती अउत्त ।

प्रगट रूप देखें सत्र सोग । तऊ न समुझैं मूरख लोग ॥

सन् १६४३ में खरगसेनजी पुत्रलाभकी इच्छामे फिर सतीकी यात्राको सकुटुम्ब गये और सकुशल लौट आये, तथा थोड़े दिनोंके पश्चात् इनकी मनोकामना भी पूर्ण हो गई । आठ वर्षके पश्चात् पुत्रका मुख देखा, इसलिये विशेष आनन्द मनाया गया । पुत्रका जन्मकाल और नाम नीचेके पद्यसे प्रगट होगा ।

सवत्र सोलह सौ तेताल । माघ मास सितपक्ष रसाल ।

एकादशी वार रविनन्द । नखत रोहिणी वृषको चन्द ॥

रोहिनि त्रितिय चरन अनुसार । खरगसेन घर सुत अवतार ।

दीनों नाम विक्रमाजीत । गानहिं कामिनि मंगलगीत ॥

जत्र बालक छह सात महीनेका हुआ, तत्र खरगसेनजी सकुटुम्ब श्रीपार्थनाथकी यात्राको काशी गये । भगवन्की भावपूर्वक पूजन करके उनके चरणोंके समीप पुत्रको डाल दिया और प्रार्थनाकी,—

चिरजीवि कीजे यह बाल । तुम शरणागतके रखपाल ।

इस बालरूपर कीजे दया । अत्र यह दाम तुम्हारा भया ॥

प्रार्थना करते समय मन्दिरका पुजारी वहाँ खड़ा था। उमने थोड़ी देर कष्टरूप पवन साधने और मौन धारण करनेके पश्चात् कहा कि, पार्थनाथ भगवानका यज्ञ भरे ध्यानमें प्रयत्न हुआ है, उसने मुझसे कहा है कि, इस बालककी ओरसे कोई चिन्ता न करनी चाहिये। परन्तु एक कठिनता है, सो उसके लिये कहा है कि,—

जो प्रभु पार्श्वजन्मको गाव। सो दीजे बालकको नाम।

तो बालक चिरजीवी होय। यह कहि लोप भयो सुर सोय ॥

खरगसेनने पुजारीके इस मायाबालको सत्य समझ लिया और प्रसन्न होकर पुत्रका नाम बनारसीदाम रख दिया। यही बनारसीदाम हमारे इस चरितके पित्रनायक हैं।

बाल्यकाल।

हरपित कहै कुटुम्ब सन, स्वामी पास सुपाम।

दुहुको जनम बनारसी, यह बनारसीदास ॥

बालक बड़े लड़कानेके साथ बढ़ने लगा। माता पिताका पुत्रपर नि सीम प्रेम था। एक पुत्रपर कितना प्रेम नहीं होता? सन् १६४८ में पुत्र सग्रहणी रामसे प्रसित हुआ। माता पिताके शोकका ठिकाना न रहा। ज्यों त्यों मर यत्र तत्रके प्रयोगोंसं सग्रहणी उपशान्ति हुई कि, शीतराने आ घरा। इस प्रकार एक वर्षके लगभग बालक अतीत कष्टमें रहा। सन् १६५० में बालकने अष्टशालामें जाकर पांडे स्वप्नचन्द्रजीके पाम लिया पढ़ना प्रारभ किया। बालककी बुद्धि बहुत तीव्र थी, वह दो तीन वर्षमें ही अच्छा व्युत्पन्न हो गया।

१ जिन द्रपचकल्याणके कता पांडे स्वप्नचन्द्रजी अध्यामके विद्वान् और प्रसिद्ध कवि थे।

जिस समयका यह इतिहास है, उस समय देशमें मुसलमानोंका दौर-दौरा था । उनके अत्याचारोंके भयसे बालगिनाहका विशेष प्रचार था । इसलिये ९ वर्षकी वयमें ही खैरानादके सेठ कल्याणमलजीकी कन्याके साथ बालक बनारसीदासजीकी सगाई कर दी गई, और दो वर्षके उपरान्त स० १६५४ में माघ सुदी १२ को गिनाह हो गया । जिस दिन बधू आई थी, उसी दिन खरगसेनजीके एक पुत्रीका जन्म हुआ, उनी दिन उनकी वृद्धा नानीने कूच कर दिया । इसपर कवि कहते हैं,—

नानी मरन सुता जनम, पुत्रधू आगोन ।
तीनों कारज एक दिन, भये एक ही मौन ॥
यह संसार निडम्बना, देख प्रगट दुख खेद ।
चतुर चित्त त्यागी भये, मूढ न जानहिं भेद ॥

एक समय जौनपुरके हाकिम कुलीचने वहाँके सम्पूर्ण जौहरियोंको बुलवाया और एक बड़ा भारी नग(गहना) माँगा, परन्तु उन लोगोंके पास उतना बड़ा नग जितना हाकिम चाहता था, नहीं था । इससे वे बेचारे न दे सके । इसपर हाकिम बहुत ही क्रोधित हुआ और उन सब जौहरियोंको एक कोठरीमें कैद कर दिये । जब कुछ फल नहीं हुआ, तब सन्नेरे सबको फोड़ोंसे पिटना पिटना कर छोड़ दिया । इस अत्याचारसे दुखी होकर सम्पूर्ण जौहरियोंने एक मत हो जौनपुरका रहना छोड़कर जहाँ तहाँ चउ दिया । खरगसेनजी कड़ामाणिकपुरके पास शाहजादपुर नगरमें जा बसे । वहाँ दस महीने रहकर वे अनेक ही ध्यापारके लिये इलाहानादको चउे गये । पिताके चउे जानेके बाद यहाँ बनारसीदासजी नेसे कौड़ियाँ खरीदकर बेचने लगे, और इस कार्यमें जो दो सार पैसे कमाने, उन्हें अपनी दादीके सम्भोग लाकर रग देने थे । इस कमाईको भोली दादी अपने पौरसी

प्रथम वमाई समझकर उसकी शीरनी और नुमती टाकर सतीके तामसे वींट देती थी। दादीके भोड़पनक नियममें फगिरने बहुत कुछ ठिपा है। उसका साराश यह है कि, “हमारी दादीके मोह और मिथ्यात्वका मिक्काना नहीं था, वे समझती थीं कि यह बालक (बनारसी) सनीजीकी रूपाम ही हुआ है। और इसी रिचाममें रात्रि त्रिम भग्न रहती थीं। रात्रिको नित्य नये नये स्वप्न देखती थीं और उन्हें यथार्थ समझके तदनुसार आचरण भी करती थीं।”

तीन महीनक पीठ खरगसेनजीका पत्र आया कि, सबको टकर फतहपुर चले आओ। बनारसी, पिताकी आज्ञानुसार सब सामान लेकर फतहपुर आ गये। फतहपुरमें दिगम्बरी आसनाल जैनियोंका बड़ा समूह था, उनमें वामुसाहजी मुख्य थे। इनके पुत्र भगवतीदासजीने बनारसीदासजीका सत्कार किया, और एक उत्तम स्थान रहनेका दिया। खरगसेनजीका कुटुम्ब फतहपुरमें आनन्दस रहने लगा, कुछ दिन पीछेही उन्होंने पत्र लिखक बनारसीदासको इटाहावाद बुला लिया। इटाहावादमें उस समय जगद्विद्याका व्यापार अच्छा चल रहा था। दानाशाह सरकारकी जगद्विद्याली परमायदाको खरगसेनजीही पूरी करते थे। पिता पुत्र चार महीने इटाहावाद रहे, पश्चात् फतहपुर आके कुटुम्बसे मिले। इसी समय ग़रर लगी कि, नयाव कुलीच आगरेको चला गया है, जौनपुरमें सब प्रकार शान्ति है। खरगसेनजी सबकुटुम्ब जौनपुर चले आये। अन्य जौहरी आदि जो भाग गये थे, वे भी सब आ गये थे, और जौनपुर फिर ज्यों का त्यों ब्याप्त हो गया। संवत् १६५६ की यह बात है।

बनारसीदासजीकी वय इस समय १४ वर्षकी हो चुकी थी, बाल्यकाठ निकल गया था और युवावस्थाका प्रारम्भ था। इस समय

पं० दैवदत्तजीके पास पढ़नाही उनका एक मात्र कार्य था । धनंजय-
नाममालादि कई ग्रन्थ वे पढ़ चुके थे । यथा—

पद्मी नाममाला शत दोय । और अनेकारथ अवलोय ।

ज्योतिष अलंकार लघुलोक । खंडस्फुट शत चार श्लोक ॥

यौवनकाल ।

युवावस्थाका प्रारम्भ बुरा होता है, अनेक लोग इस अवस्थामें शरीरके
मदसे उमत्त होकर कुलकी प्रतिष्ठा संपत्ति सतति आदि सबका चौका
लगा देते हैं । इस अवस्थामें गुरुजनोंका प्रयत्नमात्र रक्षा कर सकता
है, अन्यथा कुशल नहीं होती । वनारसीदास अपने माता पिताके इक-
लैते लड़के थे, इसलिये माता पिता और दादीका उनपर अतिशय
प्रेम होना स्वाभाविक है । सो असाधारण प्रेमके कारण गुरुजनोंका
लड़केपर जितना भय होना चाहिए, उतना वनारसीदासजीको नहीं था ।
इससे—

तजि कुलकान लोककी लाज । भयौ वनारसि आसिखनाज ॥

और—

करै आसिखी धरत न धीर । दरदबन्द ज्यों शेख फकीर ॥

इकट्ठक देख ध्यानसों धरै । पिता आपुनेको धन हरै ॥

चौरै चूर्नी माणिक मनी । आने पान मिठाई धनी ॥

भेजे पेशकशी हित पास । आप गरीब कहावै दास ॥

हमारे चरितनायक जिस समय इस अनगरगमें मग्न हो रहे थे,
उस समय जौनपुरमें खडतरगच्छीय यति भानुचन्द्रजी (महाकवि
वाणभट्टकृत काठम्बरीके टीकाकार) का आगमन हुआ । यति

विस्फोटक अग्नित भये, हस्त चरण चौरग ।
कोऊ नर साले ससुर, भोजन करहिं न संग ॥
ऐसी अशुभ दशा भई, निकट न आरै कोय ।
साम्ब और विवाहिता, करहिं सेव तिय दौय ॥

खैरामादमें एक नाई कुष्ट रोगका धन्वन्तरि था । वह बनारसीदासजी की टहल चाकरी और साथ ही औषध करता था । उसने जीतोड़ परिश्रम करके हमारे चरितनायकके राहु प्रसित शरीरको पुन निर्मल प्रकाशित कर दिया । नाईको यथोचित दान देकर स्वास्थ्य लाभ करके बनारसीदासजी घरको लौटे । परन्तु सास ससुरने अपनी लडकीकी पिदाई नहीं की । घर आके—

आय पिताके पट गहे, मा रोई उर ठोकि ।
जैसी चिरी कुरीजकी, त्यों सुत दसा मिलोकि ॥
खरगसेन लज्जित भये, कुचन कहे अनेक ।
रोये बहुत बनारसी, रहे चकित छिन एक ॥

दश पाँच दिनके पश्चात् फिर पाठशालामें पढ़नेको जाने लगे और—

“कै पढ़ना कै आसिरगी, पहली पढ़री चाल ।”

खरगसेनजी इसी समय व्यापारके निमित्त पटनेको चले गये । चार महीने धीत जानेपर बनारसीदासजी फिर ससुरालगतो गये और भार्याको लेकर घर आ गये । अब आप गृहस्थ हो गये, इस कारण गुरुजन उपदेश देने लगे—

गुरुजन लोग देहिं उपदेश । आसिरवाज सुने दरवेश ॥
बहुत पढ़ें वामन अरु भाट । बनिक पुत्र तो नैठे हाट ॥
बहुत पढ़ें सो माँगै मीर । मानहु पूत बडोंकी सीर ॥

परतु गुजराती वचन बनारसीके हृदयमें उमताक कारण कब ठह-
 रनेगले थे ? बड़ने हुए यौवन पयोपिके प्रसाहको क्या कोई रोक सपना
 है ? सनका कहा इस कानन मुना और उस कानस निनाल दिया,
 फिर हडकेक हडके हो गये । रिगा पढ़ना और इस्कामाजी करना ये दो
 ही कार्य इन्हें मुक्के कारण प्रनीत होये थे । कुछ दिनोंक बाद रिगा पढ़ना
 भी बुरा जँचने लगा । सो ठीक ही है, रिगा और अरिदासी एका
 कैसी ? सन् १६६० में पढ़ना छोड़ दिया । इसी साठमें आपके एक
 पुत्रीने जन्म लिया, वह पुत्री ६—७ दिा रहक चल प्रसी और रिदासीमें
 पिताको बीमार करती गई । बनारसीदासजीको बड़ीभारी बीमारी लगी ।
 बीस लघनं करनके पश्चात् २१ वें दिन प्रैयो और भी १०—५ छत्रो
 करानकी बात कही, और यहाँ क्षुधाके मारे उनक प्राण निपलत थे, तब
 रात्रिको घर सुना पानर आप आर सर पूरी चुराक उदा गये । आश्चर्य है कि,
 व पूरी आपका पथ्यना काम कर गई और आप जन्दी निरोग हो गये ।

सन् १६६१ में एक संन्यासीने बड़े आदमीका लटका समझके बना-
 रसीदासजीको कँसानेके लिये एक जाउ फैलाया । संन्यासीन रा जमाया
 कि, मरे पास एक एसा मंत्र है कि, यदि कोई उसे एक वर्ष तक नियम
 पूरक जपै, तब किर्मापर प्रगट न करे, तो साठ जीनेपर गृहशरपर
 प्रतिदिन एक स्वर्णमुद्रा पानी हुई पाय । संन्यासीका यह जाउ काम कर
 गया । इस्कामाजीको द्रव्यकी बहुत आवश्यकता रहती है, सो इस कल्पद्रुम
 मंत्रको सीखनेके लाउचसे बनारसीदासजी लगे मन्वासीकी सेवा शुश्रूषा
 करने, उभर संन्यासी लगा पैस ठानेकी बातें बनाने । निदान भरपूर द्रव्यसर्व
 करके संन्यासीसे मंत्र सीख लिया और तत्काउ ही जप करना प्रारंभ कर
 दिया । इधर संन्यासीजी मौका पाकर चम्पत हो गये । मंत्र जपते जपते एक वर्ष
 बनी कठिनतासे पूरा हुआ । प्रात काउही खान ध्यान करके बनारसीदासजी

बड़ी उत्कठासे आनदित होते हुए गृहद्वारपर आये और लगे जमीन सूँघने, परन्तु वहाँ क्या खाक पडी थी ? आशा बुरी होती है, निचारा कि कहीं दिन गिननेमें मेरी भूल न हुई हो, इससे दो चार दिन और भी जपना चाहिये । और भी चार छह दिन माथा पटका, परन्तु मुहर तो क्या फूटी कौडी भी नहीं मिली, सन्यासीकी तरफसे अब आपकी आँखें खुलीं ।

थोड़े दिन पीछे एक जोगीने आकर अपना एक दूसरा ही रँग जमाया । एक बार शिक्षा पा चुके थे, फिर भी बनारसीदासजी पर रँग जमते देर न लगी । जोगीने एक शंख तथा पूजाके कुछ उपकरण देकर कहा कि, यह सदाशिवकी मूर्ति है । इसकी पूजासे महापापी भी शीघ्रही मोक्ष प्राप्त करता है । भोले बनारसीने जोगीकी बात मानकर जोगीकी सेवा शुश्रूषा करना शुरू कर दी, और यथायोग्य भेंटादि देके उसे सब सतुष्ट किया । दूसरे दिनसे ही सदाशिव की पूजन होने लगी, और शिव शिव कहकर एक सौ आठ बार जप भी करने लगे । यदि किमी कारणवश किसी दिन पूजन नहीं की जा सके, तो उसके प्रायश्चित्त स्वरूप दूखा भोजन करनेकी प्रतिज्ञा थी । उन्होंने यह पूजन गृह-कुटुम्बीजनोंसे गुप्त रखकर बहुत दिनोंतक की । सन् १६६१ में हीरानंदजी ओसवालने शिखरजीको संघ चलाया और खरगसेनजी उनके आप्रहसे यात्राको चले गये । जब बनारसीको यह समाचार मिले, तब पिताके जानेपर वे निरंकुश हो गये, और घरमें कलह मचाने लगे । एक दिन उन्होंने श्री पार्श्वनाथजी की यात्राका विचार किया और मातासे आज्ञा माँगी पर उसने अनसुनी कर दी, तब उन्होंने प्रतिज्ञा की कि जयतक यात्रा नहीं करूँगा तब तक दूध, दही, घी, चावल, चना, तेल, ताम्बूल और पुष्प आदि पदार्थोंको भोगमें नहीं लाऊँगा । जब

कार्तिकेयी पौर्णमासके शैव लोग गंगास्नानके लिये तथा जैनी पार्श्वनाथ की यात्राके लिये चले तो अन्तर पाकर बनारसी भी बिना किसीसे पूछे-ताछे बनारसमें चढ़ दिये। वहाँ उन्होंने गङ्गा स्नानपूर्वक भगवान् पार्श्व-सुपार्वर्द्धी भावसहित पूजन दस दिन की। वहाँ भी वे सदाशिव की पूजन कर लिया करते थे। य यात्रा करके शंखोड़ी त्रिए हुए बड़े हर्षके साथ घर आ गये। उन्होंने सदाशिवकी पूजामें इस प्रकार उल्लेखा लिखी है—

शंख रूप शिव देव, महाशय बनारसी ।

दोऊ मिले अनेक, माहिन सेवक एकसे ॥

उस समय रेल तार नहीं होनेके कारण यात्रामें बहुत एक वर्ष बीत जाता था। अब हीरानन्दजीका संघ बहुत दिनोंमें लौट सका। आते आते अनक लोग मर गये, अनेक बीमार हो गये और अनक लुट गये। खरासेननी उदर रोगसे पीड़ित हो गयी। जैसे तैम बड़ी कठिनतासे सत्रके साथ अपने घर जौनपुर तक आये। जौनपुरमें संघका परगसेन-जीकी आरसे अच्छा सत्कार किया गया और यहाँमें संघ निगर गया। कबिरने लिखा है—

सब फूटि चहुँदिशि गयो, आप आपकी होय ।

नदी नाम संजोग ज्यों, बिदुरि मिलै नहिं कोय ॥

धीरे धीरे खरासेनजीका स्वास्थ्य सुगर गया। यात्रामें आनेके पहिले ही उनके एक पुत्र उत्पन्न हुआ था, परंतु वह दो चार ही दिनोंमें मर गया। इसी समय बनारसीदासजीके भी पुत्र हुआ और वह भी न ठहरा।

एक समय बनारसीदासजी घरकी मीठीपर बैठे हुए थे। इन्हें खबर मिली, कि अकबर बादशाहका स्वर्गगम हो गया है। कबिर अकबरकी

घर्मरक्षा आदि सद्गुणोंके बड़े भक्त थे, सो यह शोक समाचार सुनते ही वे मूर्छित होकर सीढ़ीसे नीचे गिर पड़े, माथा फूट गया और उनके कपड़े खूनसे तर हो गये । माता पिता दौड़े हुए आये और पुत्रको गोदमें उठा लिया । पंखा करके पानीके छंटे डालनेसे मूर्छा शांत हुई, घावमें कपड़ा जलाकर भर दिया और वे थोड़े समयमें अच्छे हो गये । इन दिनों भी वे सदाशिवकी पूजा किया करते थे । एक दिन एकान्तमें बैठे बैठे सोचने लगे कि—

जब मैं गिरचौ परचौ मुरझाय ।

तब शिव कुछ नहीं करी सहाय ! ॥

जब उनके इस जटिल प्रश्नका समाधान उनके हृदयमें न हुआ तब उन्होने सदाशिवजीको एक ओर विराजमानकर दिया और पूजन करना छोड़ दिया । अब बनारसीदासजीके निचारोंमें परिवर्तन हुआ, सम्यग्ज्ञानकी ज्योति जागृत हुई और श्रृंगार रससे अरवि होने लगी । एक दिन वे अपनी मित्र मडलीके साथ गोमतीके पुलपर सच्चाके समय समीर-सेजन कर रहे थे, और सरिताकी तरल-तरंगोंको चित्तवृत्तिनी उपमा देते हुए कुछ सोच रहे थे । बगलमें एक पोथी दबी थी । कविवर आप ही आप बड़बड़ाने लगे “लोगोंसे सुना है कि, जो कोई एक बार भी झूठ बोलता है, वह नरक निगोदके अनेक दु एोंमें पड़ता है, परन्तु मेरी न जाने क्या दशा होगी, जिसने झूठका एक पुंज बनाके रक्खा है । मैंने इस पुस्तकमें स्त्रियोंके कपोलकल्पित नख शिखरकी रचनाकी है । हाय ! मैंने यह अच्छा नहीं किया । मैं तो पापका भागी हो ही चुका, अब और लोग भी इसे पढ़कर पापके भागी होंगे, तथा चिरकालके लिये पाप परम्परा बढ़ेगी ।” वस, इस उच्च निचारसे उनका हृदय दगमगाने लगा । वे और कुछ नहीं सोच सके और न किसीकी सम्मति ली, चुपचाप

वह पोथी गोमतीके अग्रह और वेगप्रवाह युक्त जलमें फेंक दी । उनके मित्रगण पुस्तकके पन्ने अलग अलग होकर बहते हुए देखकर हाय हाय करने लगे, परन्तु गोमतीके गहरे जलमेंसे पुस्तक प्राप्त कर लेनेका साहस किसीसे न हो सका, सब लोग हताश होकर घर चले आये । उस दिनसे बनारसीदासजीन एक नयीन अरुसा धारणकी—

तिम दिनसों बनारसी, करी धर्मकी चाह ।

तजी जासिखी फासिखी, परुरी कुलकी राह ॥

खरगसेनजी पुत्रकी परणतिमें यह परिवर्तन देखकर बहुत प्रसन्न हुए ।
और कहने लगे—

कहै दोष कोउ न तजै, तजै अरुसा पाय ।

जैसे घालककी दशा, तरुण भये मिट जाय ॥

और—

उदय होत शुभ कर्मके, भई अशुभकी हानि ।

तातैं तुरत बनारसी, गही धर्मकी बानि ॥

जो बनारसी सन्तापजन्य रसके रसिया थे, वे अब जिनेन्द्रके शान्त रममें मस्त रहने लगे । लोग निहें गली कूचोंमें भटकते देखते थे, उन्हें अब जिनमन्दिरमें अष्टद्रव्ययुक्त जाने देखने लगे । बनारसीको जिन-दर्शनके बिना भोजनयागकी प्रतिज्ञा, चतुर्दश नियम, व्रत, सामायिक, प्रतिभ्रमणादि अनक आचार विचारमें तमय देखने लगे ।

तत्र अपजसी बनारसी, अब जस भयो विख्यात ।

पथात्—

बानारसिके दूसरो, भयो और सुतकीर ।

कछुक कालमे उडि गयो, तन पिंजरा शरीर ॥

इस पोतेके मरनेसे खरगसेनजीको बहुत दुःख हुआ, परन्तु पुत्रके रँग ढँग अच्छे देखकर उन्हें शान्तमन भी मिळता रहा । सन् १६६७ में एक दिन खरगसेनजीने अपने पुत्रको एकान्तमें बुलाके कहा, “बेटा, अब तुम सयाने हो गये । हमारी वृद्ध अवस्था भी आई । पुत्रका धर्म है कि, योग्य वय प्राप्त होनेपर पिताकी सेवा करे, इसलिये अब तुम घरका सब काम काज सम्हालो और हम दोनोंको भोजन देओ ।” यह सुनकर पुत्र लज्जित होकर रह गया, उससे कुछ नहीं कहा गया और आँखोंमें आँसू भर आये । पिताने उसे गोदमें लेकर हन्दीका तिलक कर दिया और घरका सब काम काज सौंप दिया । पीछे दो मुद्रिका, चौतीस माणिक, चौतीस मणि, नौ नीलम, बीस पन्ना, और चार गाठ पुष्टकर चुन्नी, इस प्रकार तो जनाहिरात, बीस मन घी, दो कुप्पे तैल, दो सौ रुपयेका कपडा और कुछ रुपये नकद देकर व्यापारके लिये आगरा जानेकी आज्ञा दी । बनारसीदासजीने सब माल गाड़ियोंमें लदाकर अनेक माथियोंके साथ आगरेको चल दिया । वहाँ वे मोती कट्टेमें अपने जेठे रहनेऊके यहाँ ठहरे और उनकी सम्मतिसे किरायेसे मकान ले लिया, और खरीद बेच शुरू कर दी । इन्होंने कपड़ा, घी और तेलकी मिक्रीका रुपया हुडीसे जौनपुर भेज दिया । आगरेमें अच्छे अच्छे ठग जाते हैं, परन्तु अच्छा हुआ कि, किसी लुच्चे लफंगेकी दृष्टि इनपर नहीं पड़ी । फिर भी अशुभ कर्मने इन्हें रस दिया, इन्होंने खमालमें कुछ छुड़ा जनाहिरात बंध लिया था, वह न जाने कहीं खिसक गया । इतने हीमें निपत्तिपर ओर निपत्ति आई कि कुछ माणिक कपड़ेमें बंधे हुए डेरेमें रक्खे ये, उन्हें चूहे घसीट ले गये ? दो जदाऊ पड्डुंची एक शराफकी बेची थी, दूसरे दिन उसका दिवाला निकल गया ! एक जदाऊ मुद्रिका सडकपर गाठ लगाने समय नीचे गिर पड़ी, परन्तु जब नीचे देगा तब कुछ पता नहीं लगा,

किमी लठाईगीरेके हाथकी सफाई चउ गई । इस प्रकार एकपर एक आपत्तियोंके आनेमे बनारसीका कोमल हृदय क्षुभित हो गया । सौंसको खूब जोरसे ज्वर चढ़ आया । चिन्ताके कारण बीमारी बढ़ गई । वैद्यने दस लंघने कराई पीठे पथ्य दिया । अशक्तताके कारण महीने भर तरु बाजारका आना जाना न हो सका । इस बीचमें पिनाके कई पत्र आये, परन्तु किमीका भी उत्तर नहीं दिया । तो भी बात प्रगट हो ही गई । उत्तमचद जोहरी जो बनारसीके बडे बहनेऊ थे, उन्होंने खरगमेनजीको पत्र लिखा कि, बनारसीदास जमा पूजी सत्र खोके भिखारी हो गये हैं । इस ममाचारसे खरगसेनजीके घरमें रोना पीटना होने लगा । वे कलह-पूर्वक अपनी स्त्रीसे कहने लगे कि, मैं तो पहिले ही जानता था, कि पूत धूल लगावेगा परन्तु तेरे कहनेमे निलक किया था, उसका यह परिणाम हुआ—

कहा हमारा सब थया, भया भिखारी पूत ।
पूजी खोई बेहया, गया बनज गय सूत ॥

यहाँ बनारसीदासजीके पास जो कुछ वस्तु थी, सो सत्र बेंच बेंच कर पाने लग, जब बनज दो चार टके रह गय, तब हाट बाजारका जाना भी छाड़ दिया । दिन व्यतीत करनेक लिये डेरेंमें बटे हुए पुस्तकें पढ़ करते थे । पोरियों मुननेके लिये दो चार रसिक पुरय भी आ बंठते थे, और मुनकर प्रसन्न होते थे । श्रोताओंमें एक कचौड़ीमाला था, उसके यहाँसे आप प्रतिदिन दोनों बक्त कचौड़ी उमार खाया करते थे । जब उधार खाने पाने बहुत दिन हो गये, तब एक दिन पोनी मुनकर जात समय कचौड़ीमालेको एकान्तमें बुलाकर लजित होने हुए बनारसीदासजीने कहा कि—

न बनारसी औरहि भयो ।

स्याद्वाद परणति परणयो ।

मुनि मुनि रूपचन्दके बैन ।

गानारसी भयो ढिढ़ घैन ॥

इसे कछु कालिमा, हुती सरदहन बीच ।

मिटी समता भई, रही न ऊँच न नीच ॥

१८४ में बनारसीदासजीको तीसरी भार्यासे पुत्र अमतरित

थोड़े ही दिन जीकर चल बसा। फिर सन् १६८५ में दूसरा

तीसरा दो वर्ष जीकर परलोक पनारा। सन् १६८७ में तीसरा पुत्र

१९ में एक पुत्री हुई। पुत्री तो थोड़े दिनकी होकर मर गई परन्तु

उसने लगा। इस सात आठ वर्षके बीचमें इन्होंने सूक्तिमुक्ता-

ज्यात्मनचीसी, मोक्षपैडी, फाग, धमाल, सिन्धुचतुर्दशी

कवित्त, शिपचीसी, भावना, महसूनाम, कर्मछत्तीसी,

गीत, वचनिका आदि कविताओंकी रचना की। ये सब कवितायें

गमके अनुकूल ही हुई हैं—

सोलह सौ बानवे लौ, कियो नियत रस पान ।

पै करीसुरी सर भई, स्याद्वाद परमान ॥

गोम्भटमारके पद चुकनेपर जब इनके हृदयके पट खुल गये, तब

भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यप्रणीत समयमारका भाषा पद्यानुवाद करना प्रारम्भ

किया। भाषा-साहित्यमें यह ग्रन्थ अद्वितीय और अनुपम है। इसमें उड़ी

सरलतासे अब्यात्म जैसे कठिन विषयका वर्णन किया है। सन् १६९६

में इनका प्रिय इकलौता पुत्र भी इस असार ससारसे त्रिदा माँग गया।

स पुत्रशोककी उनके हृदयपर उड़ी गहरी चोट लगी, उन्हें यह ससार

नक दिखाई देने लगा। क्योंकि—

१६८० में वैरागदके बैशाशाहजीनी पुत्रक माथ इनका तीसरा विवाह हो गया ।

आगरमें अर्धमल्लनी नामक अध्यात्म-रसके रमिक एक सज्जन थे । कविरका उनके साथ विशप समागम रहता था । वे कविरकी निष्कण काव्यशक्ति देखकर आनन्दित होते थे, परतु उनकी करिनामें आध्यामिक विद्याका अभाव देखकर कभी कभी दुःखी भी होते थे । एक दिन अक्सर पाकर उन्होंने कविरका पं० राममल्लजीके समयसारटीका देकर कहा कि, आप इसका एक बार पण्य और सत्यकी खोज कीजिये । उन्होंने उस ग्रंथको कई धार पढ़ा, परन्तु विना गुरुके उन्हें अध्यात्मका यथार्थ मार्ग नहीं सूझ सका, और वे निश्चय नयमें इतन लपलीन हो गये कि, वाय क्रियाओंसे निरक्त हान लगे—

कर्नाको रम मिट गयो, भयो न आतमस्वाद ।

भई बनारसकी दशा, जथा ऊँटको पाद ॥

उन्होंने जप, तप, सामायिक, प्रतिक्रमण आदि क्रियाओंको बिलकुल छोड़ दिया, यहाँतक कि भगवानका चहा हुआ नैत्रय (निर्मान्य) भी खान लगे गये । यह दशा केवल इनकी ही नहीं हुई थी, धरन इनक मित्र चन्द्रभान, उदयकरन और यानमल्लजी आदि भी इसी अँरमें पड़ गये थे । और निश्चय नयसे इतने एकान्तरूपसे प्रवृत्त कर लिया था कि—

नगन होहि चारों जनै, फिरहिं कोठरी माहिं ।

कहहिं भये मुनिरान हम, कठ परिग्रह नाहिं ॥

सौभाग्यवश पं० रूपचन्द्रजीका आगरमें आगमन हुआ । पंडितजीने इन्हें अध्यात्मक एकान्त रोगसे प्रमित देखकर गोम्मटसाररूप औपनका उपचार किया । गुणस्थानोंके अनुसार ज्ञान और क्रियाओंका विधान भली भाँति समझत ही उनकी आँमें सुँ गई—

तव बनारसी औरहि भयो ।
 स्याद्वाद परणति परणयो ।
 सुनि सुनि रूपचन्दके वैन ।
 वानारसी भयो दिढ़ चैन ॥

हिरदेमे कट्टु कालिमा, हुती सरदहन बीच ।
 सोउ मिटी समता भई, रही न ऊँच न नीच ॥

सन् १६८४ में बनारसीदासजीको तीसरी भार्यासे पुत्र अरतरित हुआ, परन्तु थोड़े ही दिन जीकर चल बसा। फिर सन् १६८५ में दूसरा पुत्र हुआ जो दो वर्ष जीकर परलोक पधारा। सन् १६८७ में तीसरा पुत्र और १६८९ में एक पुत्री हुई। पुत्री तो थोड़े दिनकी होकर मर गई परन्तु पुत्र क्रमशः बढ़ने लगा। इस सात आठ वर्षके बीचमें इन्होंने सूक्तिमुक्तावली, अज्यात्मवत्तीसी, मोक्षपेढी, फाग, धमाल, सिन्धुचतुर्दशी फुटकर कवित्त, शिरपचीसी, भावना, सहस्रनाम, कर्मलक्ष्मीसी, अष्टकगीत, वचनिका आदि कविताओंकी रचना की। ये सब कवितायें जिनागमके अनुकूल ही हुई हैं—

सोलह सौ वानवे लौ, कियो नियत रस पान ।

पै कवीसुरी सन भई, स्यादवाद परमान ॥

गोम्मटसारके पढ़ चुकनेपर जन इनके हृदयके पट खुल गये, तब भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यप्रणीत समयसारका भाषा पद्यानुवाद करना प्रारम्भ किया। भाषा-साहित्यमें यह ग्रन्थ अद्वितीय और अनुपम है। इसमें बड़ी सरलतासे अध्यात्म जैसे कठिन विषयका वर्णन किया है। सन् १६९६ में इनका प्रिय डकलौता पुत्र भी इस असार ससारमें त्रिदा भौंग गया। इस पुत्रशोककी उनके हृदयपर बड़ी गहरी चोट लगी, उन्हें यह ससार भयानक दिखाई देने लगा। क्योंकि—

ना बालक हुए भुवे, रहे नारिनर दोष ।
ज्यों तख्खर पतझाग है, रह दूठसे होय ॥

य विचारने लगे कि—

तत्त्वटापि जो देखिये, मत्प्यारथकी भाति ।
ज्यों जाको परिग्रह घटै, त्यों ताको उपशाति ॥

परन्तु—

समारी जाने नहीं, सत्प्यारथकी बात ।
परिग्रहमें माने निभव, परिग्रह विन उतपात ॥

विदित हो कि अभाग्यवश कनिरका पूण जीवनचरित प्राप्त नहीं है । शुभोदयमें जो कुछ प्राप्त है, वह उनकी ५५ वर्षीय अवस्था तक का वृत्तान्त है, और यह पुस्तक अर्द्धकथानकके नामसे प्रसिद्ध है । उसे कनिरने स्वयं अपनी पत्रि देखनीसे लिखा है । लेखकने प्रथमें अपने गुण और दोष दोनों निष्पक्ष रीतिसे वर्णन किये हैं, वे यहीं अक्षरश उद्धृत करते हैं —

अन धनारसीके कहों, वर्तमान गुणदोष ।
विद्यमान पुर आगरे, सुखमें रहै सजोष ॥

कहै सवनिशैं हित उपदेश । हिरद सुष्ट दृष्ट नहिं लेश ॥
 पररमनीको त्यागी सोय । कुव्यसन और न ठानै कोय ॥
 हृदय शुद्ध समकितकी टेक । इत्यादिकु गुन और अनेक ॥
 अल्प जघन्य कहै गुन जोय । नहिं उतकिष्ट न निर्मल होय ॥

दोष कथन ।

क्रोध मान माया जलरेख । पै लक्ष्मीको मोह विशेष ॥
 पोतै हास्य कर्मदा उदा । घरसैं हुआ न चाहै जुदा ॥
 करै न जप तप सजमरीत । नहीं दान पूजामों प्रीत ॥
 थोरे लाभ हर्ष बहु धरै । अल्प हानि नहु चिन्ता करै ॥
 मुख अघ भाषत न लजाय । सीसै भडकला मन लाय ॥
 भापै अकथ-कथा विरतंत । ठानै नृत्य पाय एरुन्त ॥
 अनदेखी अनसुनी बनाय । कुरुया कहै सभामें आय ॥
 होय निमग्न हास्य रस पाय । मृपानाद विन रखौ न जाय ॥
 अकस्मात भय व्यापै घनी । ऐसी दशा आयकर घनी ॥

उपसंहार ।

कन्हू दोष कबहुँ गुन कोय । जाको उदय सु परगट होय ॥
 यह बनारसीजीकी बात । कही धूल जो हुती विख्यात ॥
 और जो सूच्छम दशा अनंत । ताकी गति जानै भगवंत ॥
 जे जे बातें सुमिरन भई । तेते वचनरूप परनई ॥
 जे बूझी प्रमाद इहि माहि । ते काटूषै कहीं न जाहिं ॥
 अल्प धूल भी कहै न कोय । भापै सो जु केवली होय ॥
 एक जीपकी एक दिन, दशा होत जेतीक ।
 सो कहि सकै न केवली, यद्यपि जानै ठीक ॥

सत्र लागोनी नाई दर्शन पूजनसो जाना टीक नहीं जैचा, जत्र तरु कि मुनि परीक्षित न हों । इस्स खय परीक्षाके त्रिये दया हुए । एक त्रिन उक्त त्रेनों मुनिगज मन्दिरक टाजानमें एक क्षगतेरु निकट बैठ हुए थ और सम्मुख भक्तजन धर्मोपदेश मुननेकी आशामे बैठ थ । क्षगतेक दूसरी आर एक बाग था । उस बागमें मुनियोंकी दृष्टि भद्रीभौति पहुँचती थी और बागमें टहलनाग पुण्यरी दृष्टि भी मुनियोंपर सटाया पड़ती थी । बनारसीदासनी उस बगीचमें पहुँचे और क्षगतेरु पाम खदे हो गये । जत्र किमी मुनिकी दृष्टि उनरी आर आती थी, तत्र थ अंगुत्री हितके उमे विहाते थ । मुनियोंने उनरी यह कृति कइ बार दगजर मुख पर लिया, परन्तु कपिलने अपनी अंगुनी मन्साग बग नहीं किया । निदान मुनिद्वय क्षमा निर्मजन करने को तैयार हा गय, और भक्तजनोंकी आर मुँ करक बाग कि, दया ता बागमें फाई वृक्ष ऊधम मचा रहा है । इतने शब्दोंके मुनने ही जत्र तरु कि, लाग बागमें दग नेको आये, कपिलर लम्बे लम्बे पर खके चत्र दिय । दया ता वहाँ फाई न था, बनारसीदासजी पर बढाये हुए चत्रे जा रहे थे । लागोंने किरके मुनि महाशयोंमे कहा, महाराज, वहाँ और तो बूकर शूरर कोई नहीं था, हमार यँके सुप्रतिष्ठित पण्डित बनारसीदासजी थे, जा हम लोगोंके पहुँचनेके पहिठे ही गहाँसे चत्रे गये । यह जान्तर कि, वह काई निदान परीक्षक था, मुनियोंको बुठ चिन्ता हुई, और दो चार दिन रहक थ अन्यत्र विहार कर गये । कहते हैं कि, कपिलर परीक्षा कर चुननेपर किर मुनियोंके दशनोंका नहीं गय ।

६ एक बार गोस्वामी तुलसीदासजी बनारसीदासजीकी काव्य प्रशंसा सुनकर अपने कुछ श्रेयोंके साथ आगरे आये तथा कपिलरस किर । कई दिनोंके समागमके पश्चात् वे अपनी बनाई हुई रामायणकी एक प्रति भेंट

देकर निदा हो गये, और पार्श्वनाथ स्वामीकी स्तुति मय दो तीन कविताओंके जो बनारसीदासजीने भेंट में दी थीं, साथमें लेते गये । इसके दो तीन वर्षके उपरान्त जब दोनों कवि श्रेष्ठोंका पुन मित्रप हुआ, तब तुलसीदासजीने रामायणके सौन्दर्यके विषयमें प्रश्न किया । जिसके उत्तरमें कविवरने एक कविता उर्ती समय रचके मुनाई—

विराजै रामायण घटमाहिं । मरमी होय मरम
 सो जानै, मूरख मानै नाहि । विराजै रामायण० ॥ १ ॥
 आत्म राम ज्ञान गुन लछमन, सीता सुमति समेत ।
 शुभपयोग बानरदल मंडित, वर विवेक रनखेत, विराजै० ॥२॥
 ध्यान घनुष टकार शोर सुनि, गई विषयदिति भाग ।
 भई भस्म मिथ्यामत लंका, उठी धारणा आग, विराजै० ॥३॥
 जरे अज्ञान भाव राक्षसकुल, लरे निफाछित सूर ।
 जूझे रागद्वेष सेनापति, ससै गढ़ चक्रचूर, विराजै० ॥ ४ ॥
 विलसत कुंभकरण भव विभ्रम, पुलकित मन दरयाव ।
 थकित उदार वीर महिरावण, सेतुबंध समभाव, विराजै० ॥५॥
 मूर्छित मंदोदरी दुराशा, सजग चरन हनुमान ।
 घटी चतुर्गति परणति सेना, छुटे छपकगुण बान, विराजै० ॥६॥
 निरसि सकति गुन चक्रस्तुदर्शन, उदय निभीषण दीन ।
 फिरै कबंध मंही रावणसी, प्राणभाप शिरहीन, विराजै० ॥७॥
 इह विधि सकल साधु घट अतर, होय सहज संग्राम, ।
 यह विनहारदृष्टि रामायण, केवल निश्चय राम, विराजै० ॥८॥

बनारसीविलास पृष्ठ २४२ ७

तुटसीतासजी इस अव्यामचातुयको देखकर बहुत प्रसन्न हुए और बोले “आपकी कविता मुझे बहुत प्रिय लगी है,” मैं उसके बदलेमें आपसे क्या मुाऊ ? उस दिन आपकी पार्श्वनाथस्तुति पढ़के मैंने भी एक पार्श्वनाथ स्तोत्र बनाया था, उस आपका ही भेंट करता हूँ । ऐसा कहेके “भक्तिपरिदावली” नामक एक सुन्दर कविता कविरको अर्पण की । कविरको उस कवितासे बहुत सतोष हुआ, और पीछे बहुत दिनों तक दोनों सजनोंकी भट समय समय पर होती रही ।

७ कविरका देहात्सर्गकाल अत्रिणित है, परन्तु मृत्युकालकी एक कित्तदन्ती प्रसिद्ध है कि, अन्तकालमें कविरका कठ रँय गया था, इस कारण वे गोल नहीं सकते थे । और अपने अन्त समयका निश्चय कर घ्यागस्थित हो रहे थे । लोगोंको निश्वास हा गया था कि, ये अब घटे दो घटेमें अधिक जीवित नहीं रहेंगे । परन्तु जब घटे दो घटेमें कविरकी घ्यानास्था पूर्ण नहीं हुई, तब लोग तरह तरह के रयाउ करने लगे । मूर्ख लोग कहने लगे कि, इनके प्राण माया और कुटुम्बियोंमें अटक रहे हैं, जब तक कुटुम्बी जन इनके सम्मुख न होंगे और दौलतकी गट्टी इनके सम्भन न होगी, तब तक प्राण प्रिसर्जन न होंगे । इस प्रस्तानमें सबन अनुमति प्रकाश की, कितीने भी निरोप नहीं किया । परन्तु लोगोंके इस मूर्खतापूर्ण विचारोंको कविर सहन नहीं कर सके । उन्होंने इस लाक-मृदताका निवारण करना चाहा, इसलिये एक पटिका और लेखनीके रानेके लिये निकटस्थ लोगोंको इशारा किया । बड़ी कठिनातासे लोगोंने उनके इस सकेतको समया । जब लेखनी आ गई, तब उन्होंने दो उन्द गढ़नर लिख दिये । उन्हें पढ़कर लोग अपनी भूटका समझ गये, और कविरको कोई परम विद्वान् और धर्मात्मा समझकर वैयावृथ्यमें खलीन हुए ।

ज्ञान कुतका हाथ, मारि अरि मोहना ।
 प्रगट्यौ रूप स्वरूप, अनंत सु सोहना ॥
 जा परजैको अंत, सत्य कर मानना ।
 चले बनारसिदास, फेर नहि आपना ॥

बनारसीदासजीकी रचना ।

कविरके रचे हुए १ नाटक समयसार, २ बनारसीविलास, ३ नाममाला और ४ अर्द्धकथानक ये चार ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं, जो भाषाके जैनसाहित्यमें अनुपम रत्न हैं । न० १ का ग्रन्थ आपके हाथमें है, न० २ का ग्रन्थ २३ वर्ष पहले छपा था, जो अब अप्राप्य हो रहा है, नाममाला भी छपनेवाली है, अर्द्धकथानक का सम्पादन प० नाथूरामजी प्रेमी ने किया है, जो शीघ्र ही निद्विक्तापूर्ण भूमिका सहित प्रकाशित होगी ।

देवरीकरा (सागर)
 फार्मिक कृष्णा १४
 वी० सं० २४५४

}

सज्जनोंका सेवक—
 हीरालाल नेगी ।

भाषा-काव्य-ग्रंथ ।

समयसारनाटक—भूष्मात्र स्व० कविपर बनारसीदासजीकृत	१)
महाविलास—स्व० कविपर भगवतीदासजीकृत मूल्य	२)
घृन्दायनविलास—स्व० कविपर वृन्दायनजीकृत कविताओंका संग्रह जीवनीगहित	३)
प्रयत्नासारपरमागम—स्व० कविपर घृन्दायनजीकृत	१)
जैनपद्मप्रह प्रथम भाग—स्व० कवि० दीक्षितरामजीके सुन्दर मन्त्र	॥)
जैनपद्मप्रह—द्वितीय भाग—	" भागचन्द्रजीके " १)
जैनपद्मप्रह—तृतीय भाग—	" भूपरदासजीके " १)
पादर्व्यपुराण—स्व० कविपर भूपरदासजीकृत	१)
जैशतक—	१०० मनोहर पद्य १)
चरचा-शतक—भाषागीकासहित कविपर दानतरायकृत	१)
चर्मरत्नोद्योत—भारानिवासी स्व० बाबू जगमोहनदासकृत सुन्दर कवितायें	१)
मधिसदक्षचरित—स्व० कवि मनवारीलालकृत	१)
धन्यकुमारचरित—स्व० कवि सुशालचंद्रकृत	१०)
चाण्डक्षचरित—शीलकृपाके कृता स्व० कवि भारामणजीकृत राजिन्दका	१)
जैनसमायण—स्व० कवि मनरंगलालकृत	॥)
यारहभायना—स्व० कवि यति नयनसुखदासकृत	१)॥
निराणीसप्रह—२१३ पाठोंका संग्रह—मूल्य २)	राजिन्दका १॥)
जैनमिद्धातसप्रह—१८९ "	२)
यद्वाजैनप्रधसप्रह—१९१ "	२)
जैनाणन—१०० "	१)

नोट—इसारे यहाँ सब तरहके सब जगहके छपे हुए जैनग्रंथ मिलते हैं । वग सूचीपत्र सुप्त मेंका लीजियेगा ।

पता—श्रीजैन ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय, डि० हीराबाग बम्बई न ४



श्रीपरमात्मने नमः ।

स्व० पं० बनारसीदासविरचित

समयसार नाटक

भाषाटीका सहित ।



हिन्दी टीकाकारकी ओरसे मंगलचरण ।

दोहा ।

निज स्वरूपकौ परम रस, जामैं भरौ अपार ।

बन्दौ परमानन्द मय, समयसार अविकार ॥ १ ॥

कुन्दकुन्द मुनि-चन्दवर, अमृतचन्द मुनि-इन्द ।

आत्मरसी बानारसी, बंदौ पद अरविन्द ॥ २ ॥

ग्रन्थकारकी ओरसे मंगलाचरण ।

धीपाश्वनाथजीकी स्तुति । वर्ष ३१ छन्द मनहर ।

(चाल-शङ्कराजी)

करम भरम जग-तिमिर हरन खग,
 उरग-लखन पग सिवमगदरसी ।
 निरसत नयन भविक जल वरखत,
 हरखत अमित भविकजन-सरसी ॥
 मदन-कदन जित परम धरमहित,
 सुमिरत भगति भगति सब डरसी ।
 सजल-जलद-तन मुकुट सपत फन,
 कमठ दलन जिन नमत वनरसी ॥ १ ॥

शब्दार्थ—खग=(ख=आकाश, ग=गमन) सूर्य । कदन=युद्ध ।
 सजल=पानी सहित । जलद=(जल=पानी, द=देनेवाले) भेष । सपत=
 सात ।

अर्थ—जो ससारम कर्मके अमरूप अधिकारको दूर करनेके
 लिये सूर्यके समान है, जिनके चरणमे सापका चिह्न है, जो मोक्षका
 मार्ग दिखाने वाले हैं, जिनके दर्शन करनेसे भय जीवोंके नेत्रोंसे
 आनदरु जाँचू वह निकलते है और अनेक भव्यरूपी सरोवर

१ इस छन्दमें अत वर्षको छोड़कर सब वर्ष लघु हैं, मनहर छन्द ' अत
 इष मुख्य पद अवशिष्ट धरिष ' ऐसा छन्द शास्त्रका नियम है ।

प्रसन्न हो जाते हैं, जिन्होंने कामदेवको युद्धमें हरा दिया है, जो उत्कृष्ट जैन धर्मके हितकारी हैं, जिनका स्मरण करनेसे भक्तजनोंके सत्र डर दूर भागते हैं, जिनका शरीर पानीसे भरे हुए मेघके समान नीला है, जिनका मुकुट सात फणका है, जो कमठके जीवको असुर पर्यायमें परास्त करनेवाले हैं, ऐसे पार्श्वनाथ जिनराजको (पंडित) बनारसीदासजी नमस्कार करते हैं ॥ १ ॥

छन्द छप्पय । (इस छन्दमें सब वर्ण लघु हैं ।)

सकल-करम-खल-दलन,

कमठ-सठ-पवन कनक-नग ।

धवल परम-पद-रमन,

जगत-जन-अमल-कमल-खग ॥

परमत-जलधर-पवन,

सजल-धन-सम-तन समकर ।

पर-अध-रजहर जलद,

सकल जन-नत भव-भय-हर ॥

१ जब भगवान पार्श्वनाथ स्वामीकी मुनि अवस्थामें कमठके जीवने उपसग लिया था तब प्रभुकी राज्य अवस्थामें उपदेश पाये हुए नाग नागनीके जीवने धरणेन्द्र पद्मावतीकी पयासमें उपसग निवारण किया था और सात फनका सर्प बनकर प्रभुके ऊपर छाया करके अखंड जल वृष्टिसे रक्षा की थी, उसी प्रयोजनसे इन भगवानकी प्रतिमापर सात फणका चिह्न प्रचलित है और इसी लिये कविने मुकुटकी उपमा दी है ।

जमदलन नरकपद-छयकरन,
 अगम अतट भवजलतरन ।
 वर-सवल मदन वन-हरदहन,
 जय जय परम अभयकरन ॥ २ ॥

शब्दार्थ—कनक-नग=(कनक सोना, नग=पहाड़) सुमेरु ।
 परमत=जैनमतके सिवाय दूसरे सब मिथ्यामत । नन=वदनीय । हर
 दहन=रद्रकी अग्नि ।

अर्थ—जो सपूर्ण दुष्टकर्मोंको नष्ट करनेवाले हैं, कमठकी
 वायुके समक्ष मेरुके समान हैं अर्थात् कमठके जीवकी चलाई
 हुई तेज आधीके उपसर्गसे जो नहीं हिलनेवाले हैं, निर्विकार
 सिद्ध पदमे रमण करते हैं, ससारी जीवों रूप कमलोंको प्रफु-
 लित करनेके लिये सूर्यके समान हैं, मिथ्यामतरूपी भेषोंको
 उडा देनेके लिये प्रचण्ड वायु रूप हैं, जिनका शरीर पानीसे
 भरे हुए भेषके समान नीलवर्ण है, जो जीवोंको समता देने-
 वाले हैं, अशुभ कर्मोंकी धूल धोनेके लिये भेषके समान हैं,
 सपूर्ण जीवोंके द्वारा वन्दनीय हैं, जन्म मरणका भय हरनेवाले
 हैं, जिन्होंने मृत्युको जीता है, जो नरक गतिसे उचानेवाले हैं,
 जो बड़े और गम्भीर ससार सागरसे तारनेवाले हैं, अत्यन्त
 बलवान कामदेवके वनको जलानेके लिये रुद्रकी अग्निके समान
 हैं, जो जीवोंको विलकुल निडर बनानेवाले हैं, उन (पार्श्वनाथ
 भगवान) की जय हो ! जय हो !! ॥ २ ॥

१ यह वैष्णवमतका दृष्टांत है, उनके मतमें कथन है कि महादेवजीने तीसरा
 नम्र निकाला और कामदेवको भस्म कर दिया । यद्यपि जैनमतमें यह घाता
 अप्रमाण है तथापि दृष्टान्त मात्र प्रमाण है ।

सवैया इक्तीसा ।

जिन्हके वचन उर धारत जुगल नाग,
 भए धरनिंद पटुमावति पलकमे ।
 जाकी नाममहिमासौ कुधातु कनक करे,
 पारस पखान नामी भयो है खलकमे ॥
 जिन्हकी जनमपुरी-नामके प्रभाव हम,
 अपनो स्वरूप लख्यो भानुसौ भलकमें ।
 तेई प्रभु पारस महारसके दाता अव,
 दीजै मोहि साता दृगलीलाकी ललकमे ॥३॥

शब्दार्थ—कुधातु=डोहा । पारसपखान=पारस पत्थर । खलक=जगत । भलक=प्रभा । महारस=अनुभवका स्वाद । साता=शान्ति ।

अर्थ—जिनकी वाणी हृदयमें धारण करके सांपका जोडा क्षणभरमें धरणेन्द्र पद्मावती हुआ, जिनके नामके प्रतापसे जगतमें पत्थर भी पारसके नामसे प्रसिद्ध है जो लोहेको मोना बना देता है, जिनकी जन्मभूमिके नामके प्रभावसे हमने अपना आत्मस्वरूप देखा है—मानों सूर्यकी ज्योति ही प्रगट हुई है, वे अनुभव रसका स्वाद देनेवाले पार्श्वनाथ जिनराज अपनी प्यारी चित्तजनसे हमें शान्ति देवें ॥ ३ ॥

श्रीसिद्धस्तुति । अरिहृ छन्द ।

अविनासी अविकार परमरसधाम है ।
 समाधान सरवंग सहज अभिराम है ॥

सुद्ध बुद्ध अविरुद्ध अनादि अनंत हैं ।

जगत शिरोमणि सिद्ध सदा जयवंत हे ॥४॥

शब्दार्थ—सत्त्वग (सर्वांग)=सब आत्म प्रदेश । परमसुख=आत्मीय सुख । अभिराम=प्रिय ।

अर्थ—जो नित्य और निर्विकार हैं, उत्कृष्ट सुपके स्थान हैं, साहसिक शान्तिसे सर्वांग सुन्दर हैं, निर्दोष है, पूर्ण ज्ञानी हैं, विरोधरहित हैं, अनादि अनंत हैं, वे लोकके शिष्यामणि सिद्ध भगवान सदा जयवत होव ॥ ४ ॥

श्रीसाधुस्तुति । सर्वया इकतीसा ।

ग्यानकौ उजागर सहज-सुखसागर,

सुगुन-रतनागर विराग रस भन्यौ है ।

सरनकी रीति हरै मरनको न भै करै,

करनसौं पीठि दे चरन अनुसन्धौ है ॥

धरमकौ मंडन भरमको विहंडन है,

परम नरम हैकै करमसौ लन्धौ है ॥

ऐसौ मुनिराज भुवलोकमें विराजमान,

निरखि वनारसी नमसकार कन्धौ है ॥५॥

शब्दार्थ—उजागर=प्रकाशक । रतनागर (रत्नाकर)=मणियोंकी खानि । भै (भय)=डर । करन (करण)=इन्द्रिय । चरन (चरण)=

चारित्र । विह्वलन=विनाश करनेवाला । नरम=कोमल अर्थात् निष्कषाय ।
 भुव (भू)=पृथ्वी ।

अर्थ—जो ज्ञानके प्रकाशक हैं, सार्हजिक आत्मसुखके समुद्र हैं, सम्यक्त्वादि गुणरत्नोंकी खानि हैं, वैराग्य रससे परिपूर्ण हैं, किसीका आश्रय नहीं चाहते, मृत्युसे नहीं डरते, इन्द्रिय विषयोंसे विरक्त होकर चारित्र पालन करते हैं, जिनसे धर्मकी शोभा है, जो मिथ्यात्वका नाश करनेवाले हैं, जो कर्मोंके साथ अत्यन्त शान्तिपूर्वक लड़ते हैं; ऐसे साधु महात्मा जो पृथ्वी तलपर शोभायमान हैं उनके दर्शन करके ५० बनारसीदासजी नमस्कार करते हैं ॥ ५ ॥

सम्यग्दृष्टीकी स्तुति । सत्रया छन्द (८ भगण)

भेदविज्ञान जग्यौ जिन्हके घट,
 सीतल चित्त भयौ जिम चंदन ।
 केलि करै सिव मारगमें,
 जग माहि जिनेसुरके लघु नंदन ॥
 सत्यसरूप सदा जिन्हके,
 प्रगट्यौ अवदात मिथ्यात-निकदन ।
 सांतदसा तिन्हकी पहिचानि,
 करै कर जोरि बनारसि वंदन ॥ ६ ॥

१ जो आत्म जनित है, किसीके द्वारा उत्पन्न नहीं होता । २ यह धर्मोंकी लड़ाई क्रोध आदि कषायोंके उद्वेग रहित होती है । ३ हृदयमें दर्शन करनेका अभिप्राय है ।

शब्दार्थ—भेद विज्ञान=निज और परका विवेक । केलि=मौज ।
 छुनदन=छोटे पुत्र । अग्रदात=स्वच्छ । मिथ्यात निरुदन=मिथ्यात्वको नष्ट
 करनेवाला ।

अर्थ—जिनके हृदयमें निजपरका विवेक प्रगट हुआ है,
 जिनका चित्त चन्दनके समान शीतल है अर्थात् कषायोंका
 आताप नहीं है, और निज पर विवेक होनेसे जो मोक्ष मार्गमें
 मौन करते हैं, जो ससारमें जरहत ढक्के लघु पुत्र हैं अर्थात्
 थोड़े ही कालमें अग्रहत पद प्राप्त करनेवाले हैं, जिन्हें मिथ्या
 दर्शनको नष्ट करनेवाला निर्मल सम्यग्दर्शन प्रकट हुआ है;
 उन सम्यग्दृष्टी जीवोंकी आनन्दमय अवस्थाको निश्चय करके
 प० बनारसीदासजी हाथ जोड़कर नमस्कार करते हैं ॥ ६ ॥

सर्वथा द्रष्टीसा ।

स्वारथके साचे परमारथके साचे चित्त,
 साचे साचे वैन कहे साचे जैनमती हे ।
 काहूके विरुद्धि नाहि परजाय-बुद्धि नाहि,
 आत्मगवेपी न गृहस्थ है न जती हैं ॥
 सिद्धि रिद्धि वृद्धि दीसै घटमें प्रगट सदा,
 अतरकी लच्छिसों अजाची लच्छपती हैं ।
 दास भगवतके उदास रहें जगतसो,
 सुखिया सदैव ऐसे जीव समकिती हे ॥७॥

शब्दार्थ—स्वारथ (स्वार्थ स्व=आत्मा, अर्थ=पदार्थ) आत्म पदार्थ । परमारथ (परमार्थ)=परम अर्थ अर्थात् मोक्ष । परजाय (पर्याय)=शरीर । लच्छि=लक्ष्मी । अजाची=नहीं माँगनेवाले ।

अर्थ—जिन्हें निज आत्माका सच्चा ज्ञान है और मोक्ष पदार्थसे सच्चा प्रेम है, जो हृदयके सच्चे हैं और सत्य वचन बोलते हैं तथा सच्चे जैनी हैं, किसीसे भी जिनका विरोध नहीं है, शरीरमे जिनको अह बुद्धि नहीं है, जो आत्मस्वरूपके खोजक हैं न अणुप्रती हैं न महाप्रती हैं, जिन्हे सदैव अपने ही हृदयमें आत्महितकी सिद्धि, आत्मशक्तिकी रिद्धि और आत्मगुणोंकी वृद्धि प्रगट दिखती है, जो अतरङ्ग लक्ष्मीसे अजाचि लक्षपति अर्थात् सम्पन्न हैं, जो जिनराजके सेवक हैं, ससारसे उदासीन रहते हैं, जो आत्मीय सुखसे सदा आनंदरूप रहते हैं, इन गुणोंके धारक सम्यग्दृष्टी जीव होते हैं ॥ ७ ॥

सवैया इकतीस्ता ।

जाके घट प्रगट विवेक गणधरकौसौ,
हिरदै हरखि महामोहको हरतु है ।

१ जैन धर्ममें धम, अर्थ, काम, मोक्ष ये चार पदार्थ कहे हैं उनमें मोक्ष परम पदार्थ है । २ जिनराजके वचनों पर जिनका अटल विश्वास है । ३ समस्त नयोंक क्षाता होनेसे उनके ज्ञानमें किसी भी मतका विरोध नहीं भासता । ४ यद्यपि असजत सम्यग्दृष्टीको ध्यानमें रखके कहा है जिन्हें “चरित मोह वश लेश न सयम पं सुरनाथ जजै है ।”

साचौ सुख मानै निजमहिमा अडौल जानै,
 आपुहीमें आपनौ सुभाउ ले घरतु है ॥
 जैसे जल-कर्म कतकफल भिन्न करै,
 तैसें जीव अजीव विलञ्जु करतु है ।
 आत्म सकति माथै ग्यानकौ उदो आराधै,
 सोई समकिती भवसागर तरतु है ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—कर्म=कीचड़ । कतकफल=निर्मली । विलञ्जु=पृथक्-
 करण । सगति=शक्ति ।

अर्थ—जिमके हृदयमें गणधर जैसा निज परका त्रिवेक प्रगट हुआ है, जो आत्मानुभवसे आनन्दित होकर मिथ्यात्वको नष्ट करता है, सचे स्वाधीन सुखको सुख मानता है, अपने ज्ञानादि गुणोंको अविचल श्रद्धान करता है, अपने सम्यग्दर्शनादि स्वभावको आपहीमें धारण करता है, जो अनादिके मिले हुए जीव और अजीवका पृथक्करण जल कर्मसे कतकफलके समान करता है, जो आत्मबल नढ़ानेमें उद्योग करता है और ज्ञानका प्रकाश करता है, वही सम्यग्दृष्टी सत्ता समुद्रसे पार होता है ॥ ८ ॥

१ गंदे पानीमें निर्मली डालनेसे कीचड़ नीचे बैठ जाता है और पानी साफ हो जाता है ।

मिथ्यादृष्टिका लक्षण । सवैया इकतीसा ।

धरम न जानत वखानत भरमरूप,
 ठौर ठौर ठानत लराई पच्छपातकी ।
 भूल्यौ अभिमानमें न पाउ धरै धरनीमें,
 हिरदमें करनी विचारै उतपातकी ॥
 फिरै डांवाडोलसौ करमके कलोलिनिमें,
 व्है रही अवस्था सु बघूलेकैसे पातकी ।
 जाकी छाती ताती कारी कुटिल कुवाती भारी,
 ऐसौ ब्रह्मघाती है मिथ्याती महापातकी १।

शब्दार्थ—धरम (धर्म)=स्तु स्वभाव । उतपात=उपद्रव ।

अर्थ—जो वस्तु स्वभावसे अनभिज्ञ है, जिसका कथन मिथ्यात्वमय है और एकान्तका पक्ष लेकर जगह जगह लड़ाई करता है, अपने मिथ्याज्ञानके अहकारमें भूलकर धरतीपर पाँव नहीं टिकाता और चित्तमें उपद्रव ही सोचता है, कर्मके शको-रोंसे ससारमें डाँवाडोल हुआ फिरता है अर्थात् विश्राम नहीं पाता सो ऐसी दशा हो रही है जैसे बघरूडेमें पत्ता उड़ता फिरता है, जो हृदयमें (क्रोधसे) तप्त रहता है, (लोभसे) मलिन रहता है, (मायासे) कुटिल है, (मानसे) बड़े कुनोल बोलता है, ऐसा आत्मघाती और महापापी मिथ्यात्वी होता है ॥ ९ ॥

नेहा ।

वदो सिव अवगाहना, अरु वदो सिव पथ ।

जसुप्रसाद भाषा करौ, नाटकनाम गरथ ॥ १० ॥

शब्दार्थ—अवगाहना=आकृति ।

अर्थ—मैं सिद्ध भगवानको और मोक्षमार्ग (रत्नत्रय)को नमस्कार करता हूँ, जिनके प्रसादसे देश भाषामे नाटक समय-सार ग्रन्थ रचता हूँ ॥ १० ॥

कविस्वरूप वर्णन । मन्त्रेया मत्तगय'द । (वर्ण २३)

चेतनरूप अनूप अमूरति,

सिद्धसमान सदा पद मेरौ' ।

मोह महातम आतम अग,

कियौ परसग महा तम धेरौ' ॥

ग्यानकला उपजी अव मोहि,

कहौ गुन नाटक आगमकेरौ ।

जासु प्रसाद सधै मिवमारग,

वेगि मिटै भववास वसेरौ ॥ ११ ॥

शब्दार्थ—अमूरति (अमूर्ति)=निराकार । परसग (प्रसग)=सम्बन्ध ।

१ यहाँ निश्चय नयकी अपेक्षा कथन है । २ यहाँ व्यवहार नयकी अपेक्षा कथन है ।

अर्थ—मेरा स्वरूप सदैव चैतन्यरूप उपमा रहित और निराकार सिद्ध सदृश है। परन्तु मोहके महा अधकारका सम्बन्ध होनेसे अधा बन रहा था। अब मुझे ज्ञानकी ज्योति प्रगट हुई है इसलिये नाटक समयसार ग्रन्थको कहता हूँ, जिसके प्रसादसे मोक्षमार्गकी सिद्धि होती है और जल्दी ससारका निगम अर्थात् जन्म मरण छूट जाता है ॥ ११ ॥

कविलघुता वर्णन । छन्द मनहर । (वर्ण ३१)

जैसे कोऊ मूरख महा समुद्र तिरिवेकौ,
 भुजानिसौ उद्यत भयो है तजि नावरौ ।
 जैसे गिरि ऊपर विरखफल तोरिवेकौ,
 वावनु पुरुष कोऊ उमगे उतावरौ ॥
 जैसे जलकुंडमें निररिव ससि-प्रतिविव,
 ताके गहिवेकौ कर नीचौ करै टावरौ ।
 तैसे मैं अल्पबुद्धि नाटक आरभ कीनौ,
 गुनी मोहि हसैगे कहैगे कोऊ वावरौ ॥१२॥

शब्दार्थ—निरख (वृक्ष)=पेड़ । वावनु (वीना)=बहुत छोटे कदका मनुष्य । टावरौ=त्रालक । वावरौ=पागल ।

अर्थ—जिस प्रकार कोई मूर्ख अपने बाहुबलसे बड़ा भारी समुद्र तैरनेका प्रयत्न करे, अथवा कोई नानशूट पहाडके वृक्षमें

लगे हुए फलको तोड़नेके लिये जल्दीसे उछले, जिस प्रकार कोई बालक पानीमें पड़े हुए चन्द्रबिम्बको हाथसे पकड़ता है, उसी प्रकार मुझ मन्द बुद्धिने नाटक समयसार (महाकार्य) प्रारम्भ किया है, विद्वान् लोग हँसी करेंगे और कहेंगे कि कोई पागल होगा ॥ १२ ॥

सवैया इन्तीसा ।

जैसें काहू रतनसौ वीं यो है रतन कोऊ,
तामै सूत रेसमकी डोरी पोई गई है ।
तैसें बुध टीकाकरि नाटक सुगम कीनौ,
तापरि अल्पबुधि स्रधी परिनई है ॥
जैसें काहू देसके पुरुष जैसी भाषा कहें,
तैसी तिनिहूके बालकनि सीस लई है ।
तैसें ज्यों गरथकौ अरथ कह्यौ गुरु त्योंहि,
हमारी मति कहिवेकौ सावधान भई है ॥१३॥

शब्दार्थ—बुध=विद्वान् । परनई (परणई)=डुई है ।

अर्थ—जिस प्रकार हीराकी कनीसे किसी रत्नमें छेदकर रक्खा हो तो उसमें रेशमका धागा डाल देते हैं उमी प्रकार विद्वान् स्वामी अमृतचन्द्रने टीका करके समयसारको सरल कर दिया है इससे मुझ अल्पबुद्धिकी समझमें आ गया । अथवा जिस प्रकार किसी देशके निरामी जैसी भाषा बोलते हैं वैसी

उनके बालक सीख लेते हैं उसी प्रकार मुझको गुरु परंपरासे
जैसा अर्थ ज्ञान हुआ है वैसा ही कहनेको मेरी बुद्धि तत्पर
हुई है ॥ १३ ॥

अथ कवि कहते हैं कि भगवानकी भक्तिसे हमें बुद्धिबल प्राप्त हुआ है ।
सवेया इक्तीसा ।

कवहू सुमति व्है कुमतिकौ विनास करै,
कवहू विमल जोति अंतर जगति है ।
कवहू दया व्है चित्त करत दयालरूप,
कवहू सुलालसा व्है लोचन लगति है ॥
कवहू आरती व्है कै प्रभु सनमुख आवे,
कवहू सुभारती व्है वाहरि वगति है ।
धरै दसा जैसी तव करै रीति तैसी ऐसी,
हिरदै हमारे भगवतकी भगति है ॥ १४ ॥

शब्दार्थ—सुभारती=सुन्दरगणी । लालसा=अभिप्राय । लोचन=
नेत्र ।

अर्थ—हमारे हृदयमें भगवानकी ऐसी भक्ति है जो कभी
तो सुबुद्धिरूप होकर कुबुद्धिको हटाती है, कभी निर्मल ज्योति
होकर हृदयमें प्रकाश डालती है, कभी दयालु होकर चित्तको
दयालु बनाती है, कभी अनुभवाकी पिपासारूप होकर नेत्रोंको
स्थिर करती है, कभी आरतीरूप होकर प्रभुके सन्मुख आती
है, कभी सुन्दर वचनोंमें स्तोत्र बोलती है, जब जैसी अवस्था
होती है तब तैसी क्रिया करती है ॥ १४ ॥

अथ नाटक समयसारकी महिमा वर्णन करते हैं । सद्येया इकतीमः

मोक्ष चलिकेको सौन करमको करे वौन,
 जाके रस-भौन बुध लौन ज्यो घुलत है ।
 गुनको गरथ निरगुनको सुगम पथ,
 जाको जसु कहत सुरेश अकुलत है ॥
 याहीके जु पच्छीते उडत ग्यानगगनमे,
 याहीके विपच्छी जगजालमें रुलत है ।
 हाटकमौ विमल विराटकसौ विसतार,
 नाटक सुनत हीये फाटक खुलत है ॥ १५

शब्दार्थ—सौन=सौंदर्य, वौन=वमन, हाटक=सुवर्ण, मौः
 (भवन) जल ।

अर्थ—यह नाटक मोक्षको चलनेके लिये सिद्धि स्वरूप
 कर्म रूपी विकारका वमन करता है, इसके रसरूप ज
 विद्वान् लोग नमस्के समान लीन हो जाते हैं, यह मन्म
 दर्शनादि गुणोंका गढा है, मुक्तिका सरल रास्ता है, इम
 महिमा वर्णन करते हुए इन्द्र भी लज्जित होते हैं, जिन्हें
 ग्रन्थकी पथरूप पखे प्राप्त हैं वे ज्ञानरूपी आकाशम वि
 करते हैं और जिमको इस ग्रन्थकी पथरूप पथ नहीं हैं
 जगतके जजालमे फँसता है, यह ग्रन्थ शुद्ध सुवर्णके सम
 निर्मल है, विष्णुके विराटरूपके सदृश निस्तृत है, इस ग्रन्
 सुननेसे हृदयके कषाट खुल जाते हैं ॥ १५ ॥

अनुभवका वर्णन । दोहा ।

कहाँ सुद्ध निहचैकथा, कहीं सुद्ध विवहार ।
मुकतिपंथकारन कहीं अनुभौकौ अधिकार ॥ १६ ॥

अर्थ—शुद्ध निश्चय नय, शुद्ध व्यवहार नय और मुक्ति-
मार्गमे कारण भूत आत्मानुभवकी चर्चा वर्णन करता हूँ ॥१६॥

अनुभवका लक्षण । दोहा ।

वस्तु विचारत ध्यावतै, मन पावै विश्राम ।
रस स्वादत सुख ऊपजै, अनुभौ याकौ नाम ॥१७॥

अर्थ—आत्म पदार्थका विचार और ध्यान करनेसे चित्तको
जो शान्ति मिलती है तथा आत्मीक रसका आस्वादन करनेसे
जो आनद मिलता है उसीको अनुभव कहते हैं ॥ १७ ॥

अनुभवकी महिमा । दोहा ।

अनुभव चिंतामणि रतन, अनुभव है रसकूप ।
अनुभव मारग मोखकौ, अनुभव मोख सरूप ॥१८॥

शब्दार्थ—चिंतामणि=मनोमोहित पदार्थोंका देनेवाला ।

अर्थ—अनुभव चिंतामणि रत्न है, शान्ति रसका कूआ है,
मुक्तिका मार्ग है और मुक्ति स्वरूप है ॥ १८ ॥

सवैया मनहर ।

अनुभौके रसकौ रसायन कहत जग,
अनुभौ अभ्यास यहु तीरथकी ठौर है ।

अनुभौकी जो रसा कहावे सोई पोरमा सु,
 अनुभौ अधोरसासो ऊरघकी दौर है ॥
 अनुभौकी केलि यहै कामधेनु चित्रावेलि,
 अनुभौको स्वाद पच अमृतको कौर है ।
 अनुभौ करम तोरै परममो प्रीति जोरै,
 अनुभौ समान न धरम कोऊ और है ॥१९॥

शब्दार्थ—रसा=पृथ्वी । अधोरसा=तरक । पारसा=उपजाऊ भूमि । चित्रावेलि=एक तरहकी जड़ीका नाम ।

अर्थ—अनुभवके रसको जगतके ज्ञानी लोग रसायन कहते हैं, अनुभवका अभ्यास एक तीर्थभूमि है, अनुभवकी भूमि सरल पदार्थोंको उपजानेवाली है, अनुभव नरकसे निकालकर स्वर्ग मोक्षम ले जाता है, इसका आनंद कामधेनु और चित्रावेलिके समान है, इसका स्वाद पचामृत भोजनके समान है । यह कर्मोंको क्षय करता है और परम पदसे प्रेम जोड़ता है, इसके समान अन्य कोई धर्म नहीं है ॥ १९ ॥

नोट—सत्कारम पचामृत रसायन कामधेनु चित्रावेलि भादि सुखदायक पदार्थ प्रसिद्ध हैं, सो इनका दृष्टान्त दिया है परन्तु अनुभव इन सबसे निराला और अजुपम है ।

छह द्रव्योंका ज्ञान अनुभवके लिये कारण है अतः उनका विवेचन किया जाता है । जीव द्रव्यका स्वरूप । दाहा ।

चेतनवत् अनन्त गुण, परजै सकति अनन्त ।

अलस अखण्डित सर्वगत, जीव दरव विरतत ॥२०॥

शब्दार्थ—अलख=इन्द्रियगोचर नहीं है । सर्वगत=सब लोकमें ।

अर्थ—चैतन्यरूप है, अनंत गुण अनंत पर्याय और अनंत शक्ति सहित है, अमूर्तीक है, अखंडित है, सर्व व्यापी है । यह जीव द्रव्यका स्वरूप कहा है ॥ २० ॥

पुद्गल द्रव्यका लक्षण । दोहा ।

फरस-वरन-रस-गंध मय, नरद-पास-संठान ।

अनुरूपी पुदगल दरव, नभ-प्रदेश-परवान ॥ २१ ॥

शब्दार्थ—फरस=स्पर्श । नरद पास=चौपडका पासा । संठान=आकार । परवान (प्रमाण)=बराबर ।

अर्थ—पुद्गल द्रव्य परमाणु रूप, आकाशके प्रदेशके बराबर, चौपडके पाशके आकारका स्पर्श, रस, गंध, वर्णवन्त है ॥ २१ ॥

धर्म द्रव्यका लक्षण । दोहा ।

जैसे सलिल समूहमें, करै मीन गति-कर्म ।

तैसे पुदगल जीवकौ, चलनसहाई धर्म ॥ २२ ॥

शब्दार्थ—सलिल=पानी । गति-कर्म=गमन क्रिया ।

अर्थ—जिस प्रकार मछलीकी गमन क्रियामें पानी महा-चक होता है, उसी प्रकार जीव पुद्गलकी गतिमें सहकारी धर्म द्रव्य है ॥ २२ ॥

१ लोक अलोक प्रतिबिम्बित होनेसे पूर्ण ज्ञानकी अपेक्षा सर्व व्यापी है ।
२ छह पहलुका जैसे चपेटा होता है । ३ उदासीन निमित्त कारण है, प्रेरक नहीं है ।

अधर्म द्रव्यका लक्षण । दोहा ।

ज्यौ पथी ग्रीष्मसमै, वैठै छायामॉहि ।
त्यौ अधर्मकी भूमिमें, जड चेतन ठहरॉहि ॥२३॥

शब्दार्थ—पथी=पथिक ।

अर्थ—जिस प्रकार ग्रीष्म कालमें पथिक छायाका निमित्त पाकर बैठते हैं उसी प्रकार अधर्म द्रव्य जीव पुद्गलकी स्थितिमें निमित्त कारण है ॥ २३ ॥

आकाश द्रव्यका लक्षण । दोहा ।

सतत जाके उदरमें, सकलपदारथवास ।
जो भाजन सब जगतको, सोई दरव अकास ॥२४॥

शब्दार्थ—सतत=सदाकाल । भाजन=वर्तन, पात्र ।

अर्थ—जिम्हें पेटमें सदैव सम्पूर्ण पदार्थ निवास करते हैं, जो सम्पूर्ण द्रव्योंको पात्रके समान आधारभूत है, वही आकाश द्रव्य है ॥ २४ ॥

नोट—अवगाहना आकाशका परम धर्म है, सो आकाशद्रव्य अन्य द्रव्योंको अवकाश दिये हुए है और अपनेका भी अवकाश दिये हुए है । जैसे—ज्ञान जीवका परम धर्म है सो जीव अन्य द्रव्योंको जानता है और अपनेको भी जानता है ।

काल द्रव्यका लक्षण । दोहा ।

जो नवकरि जीरन करै, सकल वस्तुथिति ठानि ।
परावर्त वर्तन धरै, काल दरव सो जानि ॥ २५ ॥

शब्दार्थ—जीरन (जीर्ण)=पुराना ।

अर्थ—जो वस्तुका नाश न करके सम्पूर्ण पदार्थोंकी नयीन हालतोंके प्रगट होने और पूर्व पर्यायोंके लय होनेमें निमित्त कारण है, ऐसा वर्तना लक्षणका धारक काल द्रव्य है ॥ २५ ॥

नोट—काल द्रव्यका परम धर्म वर्तना है, सो यह अथ द्रव्यादी पर्यायोंका वर्तन करता है और अपनी भी पर्याय पलटता है ।

नय पदार्थोंका ज्ञान अनुभवके लिये कारण है अतः उनका विवेचन किया जाता है । जीवका वर्णन । दोहा ।

समता-रमता उरधता, ग्यायकता सुखभास ।

वेदकता चैतन्यता, ए सब जीवविलास ॥ २६ ॥

शब्दार्थ—समता=राग द्वेष रहित वीतराग भाव । रमता=ठीन रहना । उरधता (ऊर्ध्वता)=ऊपरको चउनेका स्वभाव । ग्यायकता=जानपना । वेदकता=स्वाद लेना ।

अर्थ—वीतराग भावमें लीन होना, ऊर्ध्वगमन, ज्ञायक स्वभाव, साहजिक सुखका सम्भोग, सुखदुःखका स्वाद और चैतन्यता ये सब जीवके निज गुण हैं ॥ २६ ॥

अजीवका वर्णन । दोहा ।

तनता मनता वचनता, जड़ता जडसम्मेल ।

लघुता गुरुता गमनता, ये अजीवके खेल ॥ २७ ॥

शब्दार्थ—सम्मेल=मध । लघुता=हलकापन । गुरुता=भारीपन । गमनता=लीन होना ।

अर्थ—तन, मन, वचन, अचेतनता, एक दूसरेसे मिलना, हलका और भारीपन तथा अपने स्वभावमें तल्लीनता ये सब अजीवकी परणति हैं ॥ २७ ॥

पुण्यका वर्णन । दोहा ।

जो विशुद्धभावनि वधै, अरु ऊरधमुख होइ ।

जो सुखदायक जगतमें, पुन्य पदारथ सोइ ॥ २८ ॥

अर्थ—जो शुभभावोंसे बँधता है, स्वर्गादिके सम्मुख होता है और लौकिक सुखका देनेवाला है वह पुण्य पदार्थ है ॥ २८ ॥

पापका वर्णन । दोहा ।

सकलेश भावनि वधै, सहज अधोमुख होइ ।

दुखदायक ससारमें, पाप पदारथ सोइ ॥ २९ ॥

अर्थ—जो अशुभ भावोंसे बँधता है तथा अपने आप नीच गतिमें गिरता है और ससारमें दुखका देनेवाला है, वह पाप पदार्थ है ॥ २९ ॥

आस्रवका वर्णन । दोहा ।

जोई करमउदोत धरि, होइ क्रिया रसरत्त ।

करपै नूतन करमको, सोई आस्रव तत्त ॥ ३० ॥

शब्दार्थ—करम उदात्त=कर्मका उदय होना । क्रिया=योगोंकी प्रवृत्ति । रस रत्त=राग सहित । रत्त=मग्न होना । तत्त=तत्त्व ।

अर्थ—कर्मके उदयमें योगोंकी जो राग सहित प्रवृत्ति होती है वह नवीन कर्मको खींचती है उसे आस्रव पदार्थ कहते हैं ॥ ३० ॥

१ यहाँ सांप्रदायिक आस्रवकी मुख्यता और ऐयापयिक आस्रवकी गौणता पूर्वक वर्णन है ।

सवरका वर्णन । दोहा ।

जो उपयोग स्वरूप धारि, वरतै जोग विरत्त ।
रोकै आवत करमको, सो है संवर तत्त ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ—विरत्त=अलहदा होना ।

अर्थ—जो ज्ञान दर्शन उपयोगको प्राप्त करके योगोकी क्रियासे विरक्त होता है और आस्रवको रोक देता है वह संवर पदार्थ है ॥ ३१ ॥

निर्जरा वर्णन । दोहा ।

जो पूरव सत्ता करम, करि थिति पूरन आउ ।
खिरवेको उद्यत भयौ, सो निर्जरा लखाउ ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ—थिति=स्थिति । सत्ता=अस्तित्व । खिरवेको=झड़नेके लिये । उद्यत=तैयार, तत्पर ।

अर्थ—जो पूर्वस्थित कर्म अपनी अवधि पूर्ण करके झड़नेको तत्पर होता है उसे निर्जरा पदार्थ जानो ॥ ३२ ॥

बधका वर्णन । दोहा ।

जो नवकरम पुरानसौ, मिलैं गांठि दिढ़ होइ ।
सकति बढ़ावै वंसकी, बध पदारथ सोइ ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ—गांठि=गाठ । दिढ़ (दृढ़)=पक्की ।

१ बधके नष्ट होनेसे मोक्ष अवस्था प्राप्त होती है इससे यहां मोक्षके पूर्व बध तत्त्वका कथन किया है और आस्रवके निरोध पूर्वक संवर होता है इस लिये संवरसे पहिले बधका कथन किया है ।

अर्थ—जो नवीन कर्म पुगने कर्मसे परस्पर मिलकर मज-
बूत बंध जाता है और कर्मशक्तिकी परपराको बढ़ाता है वह
यथ पदार्थ है ॥ ३३ ॥

मोक्षका वणन । दोहा ।

यिति पूरन करि जो करम, खिरै बधपद भानि ।
हंस अस उज्जल करै, मोक्ष तत्त्व सो जान ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ—भानि=नष्ट करके ।

अर्थ—जो कर्म अपनी स्थिति पूर्ण करके बध दशाको नष्ट
कर लेता है और आत्मगुणोको निर्मल करता है उसे मोक्ष
पदार्थ जानो ॥ ३४ ॥

वस्तुके नाम । दोहा ।

भाव पदारथ समय धन, तत्त्व वित्त वसु दर्व ।
द्रविण अरथ इत्यादि बहु, वस्तु नाम ये सर्व ॥ ३५ ॥

अर्थ—मान, पदार्थ, समय, धन, तत्त्व, वित्त, वसु, द्रव्य,
द्रविण, आदि सब वस्तुके नाम हैं ॥ ३५ ॥

शुद्ध जीव द्रव्यके नाम । सवैया इकतीसा ।

परमपुरुष परमेशुर परमज्योति,

परब्रह्म पूरन परम परधान है ।

अनादि अनत अविगत अविनाशी अज,

निरदुद मुक्त मुकुद अमलान है ॥

निराबाध निगम निरजन निरविकार,

निराकार ससारसिरोमनि सुजान है ।

सरवदरसी सरवज्ञ सिद्ध स्वामी सिव,
धनी नाथ ईस जगदीस भगवान है ॥३६॥

सामान्यत जीव द्रव्यके नाम ।

चिदानंद चेतन अलख जीव समेसार,
बुद्धरूप अबुद्ध असुद्ध उपजोगी है ।

चिद्रूप स्वयभू चिनमूर्ति धरमवत,
प्राणवंत प्राणी जंतु भूत भवभोगी है ॥

गुणधारी कलाधारी भेषधारी विद्याधारी,
अंगधारी सगधारी जोगधारी जोगी है ।

चिन्मय अखंड हंस अक्षर आत्मराम,
करमको करतार परम विजोगी है ॥ ३७ ॥

अर्थ—परमपुरुष, परमेश्वर, परमज्योति, परब्रह्म, पूर्ण,
परम, प्रधान, अनादि, अनंत, अव्यक्त, अविनाशी, अज,
निर्द्वंद, मुक्त, मुकुट, अमलान, निराप्राध, निगम, निरजन,
निर्विकार, निराकार, ससारशिरोमणि, सुज्ञान, सर्वदर्शी सर्वज्ञ,
सिद्ध, स्वामी, शिव, धनी, नाथ, ईश, जगदीश, भगवान् ॥३६॥

अर्थ—चिदानंद, चेतन, अलक्ष, जीव, समयसार, बुद्धरूप,
अबुद्ध, अशुद्ध, उपयोगी चिद्रूप, स्वयभू, चिन्मूर्ति, धर्मवंत,
प्राणवत, प्राणी, जंतु, भूत, भवभोगी, गुणधारी कलाधारी,
भेषधारी, विद्याधारी, अंगधारी, सगधारी, योगधारी, योगी,
चिन्मय, अखंड, हंस, अक्षर, आत्माराम, कर्मकर्ता, परम-
वियोगी ये सब जीवद्रव्यके नाम हैं ॥ ३७ ॥

आकाशके नाम । दोहा ।

स विहाय अवर गगन, अतरिच्छ जगधाम ।

व्योम वियत नभ मेघपथ, ये अकाशके नाम ॥३८॥

अर्थ—स, विहाय, अवर, गगन, अतरिच्छ, जगधाम, व्योम, वियत, नभ, मेघपथ ये आकाशके नाम हैं ॥ ३८ ॥

कालके नाम । दोहा ।

जम कृतांत अतक त्रिदस, आवर्ती मृतथान ।

प्राणहरन आदिततनय, काल नाम परवान ॥३९॥

अर्थ—जम, कृतांत, अतक, त्रिदश, आवर्ती, मृत्युस्थान, प्राणहरण, आदित्यतनय ये कालके नाम हैं ॥ ३९ ॥

पुन्यके नाम । दोहा ।

पुन्य सुकृत ऊरधवदन, अकररोग शुभकर्म ।

सुखदायक ससारफल, भाग वहिर्मुख धर्म ॥ ४० ॥

अर्थ—पुण्य, सुकृत, ऊर्ध्वदहन, अकररोग, शुभकर्म, सुख-दायक, ससारफल, भाग्य, वहिर्मुख, धर्म ये पुन्यके नाम हैं ४०

पापके नाम । दोहा ।

पाप अधोमुख एन अध, कप रोग दुखधाम ।

कलिल कलस किल्विस दुरित, असुभ करमके नाम

अर्थ—पाप, अधोमुख, एन, अध, कप, रोग, दुखधाम, कलिल, कलस, किल्विस और दुरित ये अशुभ कर्मके नाम हैं ॥ ४१ ॥

मोक्षके नाम । दोहा ।

सिद्धक्षेत्र त्रिभुवनमुकुट, शिवथल अविचलथान ।
मोक्ष मुकति वैकुण्ठ सिव, पंचमगति निरवान ॥४२॥

अर्थ—सिद्धक्षेत्र, त्रिभुवनमुकुट, शिवथल, अविचलस्थान,
मोक्ष, मुक्ति, वैकुण्ठ, शिव, पंचमगति, निर्वाण ये मोक्षके नाम
हैं ॥ ४२ ॥

बुद्धिके नाम । दोहा ।

प्रज्ञा धिसना सेमुसी, धी मेधा मति बुद्धि ।
सुरति मनीषा चेतना, आशय अंश विसुद्धि ॥४३॥

अर्थ—प्रज्ञा, धिपणा, सेमुषी, धी, मेधा, मति, बुद्धि,
सुरती, मनीषा, चेतना, आशय, अंश और विसुद्धि ये बुद्धिके
नाम हैं ॥ ४३ ॥

विचक्षण पुरुषके नाम । दोहा ।

निपुन विचच्छन विबुध बुध, विद्याधर विद्वान ।
पटु प्रवीण पंडित चतुर, सुधी सुजन मतिमान ॥४४॥

कलावंत कोविद कुशल, सुमन दच्छ धीमंत ।
ज्ञाता सज्जन ब्रह्मविद, तज्ञ गुणीजन संत ॥ ४५ ॥

अर्थ—निपुण, विचक्षण, विबुध, बुद्ध, विद्याधर, विद्वान्,
पटु, प्रवीण, पंडित, चतुर, सुधी, सुजन, मतिमान् ॥ ४४ ॥
कलावंत, कोविद, कुशल, सुमन, दक्ष, धीमंत, ज्ञाता, सज्जन,
ब्रह्मविद्, तज्ञ, गुणीजन, संत ये विद्वान् पुरुषके नाम हैं ॥ ४५ ॥

मुनीश्वरके नाम । दोहा ।

मुनि महत् तापस तपी, भिच्छुक चारितधाम ।
जती तपोधन सयमी, व्रती साधु ऋषि नाम ॥४६॥

अर्थ—मुनि, महत्, तापस, तपी, भिक्षुक, चारित्रधाम, यती, तपोधन, सयमी, व्रती, साधु और ऋषि ये मुनिके नाम हैं ॥ ४६ ॥

दर्शनके नाम । दोहा ।

दरस विलोकनि देखनौ, अवलोकनि दृगचाल ।
लखन दृष्टि निरखनि जुवनि, चितवनि चाहनि भाल

अर्थ—दर्शन, विलोकन, देखना, अवलोकन, दृगचाल, लखन, दृष्टि, निरीक्षण, जोवना, चितवन, चाहन, भाल, ये दर्शनके नाम हैं ॥ ४७ ॥

ज्ञान ओर चारित्रके नाम । दोहा ।

ग्यान बोध अवगम मनन, जगतभान जगजान ।
सजम चारित आचरन, चरन वृत्ति थिरवान ॥४८॥

अर्थ—ज्ञान, बोध, अवगम, मनन, जगत्भानु, जगत्ज्ञान, ये ज्ञानके नाम हैं । सजम चारित्र आचरण, चरण, वृत्ति, थिरवान, ये चारित्रके नाम हैं ॥ ४८ ॥

सत्यके नाम । दोहा ।

सम्यक सत्य अमोघ सत्, निसदेह निरधार ।
ठीक जथारथ उचित तथ, मिया आदि अकार ॥

अर्थ—सम्यक्, सत्य, अमोघ, सत्, निसंदेह, निरधार, ठीक, यथार्थ, उचित, तथ्य, ये सत्यके नाम है । इन शब्दोंके आदिमें अकार लगानेसे झूठके नाम होते हैं ॥ ४९ ॥

झूठके और नाम । दोहा ।

अजथारथ मिथ्या मृपा, वृथा असत्त अलीक ।
मुधा मोघ निःफल वितथ, अनुचित असत्त अठीक ॥

अर्थ—अयथार्थ, मिथ्या, मृपा, वृथा, असत्य, अलीक, मुधा, मोघ, निःफल, वितथ, अनुचित, असत्य, अठीक ये झूठके नाम है ॥ ५० ॥

नाटक समयसारके चारह अधिकार । सबेया इकतीसा ।

जीव निरजीव करता करम पुन्र पाप,
आस्रव सवर निरजरा बंध मोप है ।
सरव विसुद्धि स्यादवादसाध्य साधक,
दुवादस दुवार धरै समैसार कोप है ॥
दरवानुयोग दरवानुजोग दूरि करै,
निगमकौ नाटक परमरसपोप है ।
ऐसौ परमागम बनारसी वखानै जामै,
ग्यानकौ निदान सुद्ध चारितकी चोप है ५१

अर्थ—समयसारजीके भडारमें (जीव, 'अजीव, 'कर्ताकर्म, 'पुण्यपाप, 'आस्रव, 'संवर, निर्जरा, बंध, मोक्ष, सर्वविशुद्धि, स्याद्वाद

और साध्य साधक ये चारह अधिकार हैं । यह उत्कृष्ट ग्रन्थ द्रव्यानुयोग रूप है आत्माको पर द्रव्योंके सयोगसे पृथक करता है अर्थात् मोक्षमार्गम लगाता है । यह आत्माका नाटक परमशान्ति रसको पुष्ट करनेगला है, सम्यग्ज्ञान और शुद्धचारित्रका कारण है इसे पण्डित बनारसीदासजी पद्य रचनामें वर्णन करते हैं ॥ ५१ ॥

समयसार नाटक ।

जीवद्वार ।

(१)

चिदानन्द भगवानकी स्तुति । दोहा ।

शोभित निज अनुभूति जुत, चिदानन्द भगवान ।
सार पदारथ आत्मा, सकल पदारथ जान ॥ १ ॥

शब्दार्थ—निज अनुभूति=अपनी आत्माका स्वसवेदित ज्ञान ।
चिदानन्द (चित्+आनन्द)=जिसे आत्मीय आनन्द हो ।

अर्थ—वह चिदानन्द प्रभु अपने स्वानुभवसे सुशोभित है ।
सब पदार्थोंमें सारभूत आत्मपदार्थ है और सम्पूर्ण पदार्थोंका
ज्ञाता है ॥ १ ॥

सिद्ध भगवानकी स्तुति, जिसमें शुद्ध आत्माका वर्णन है ।
सबैया तेईसा ।

* जो अपनी दुति आप विराजत,
है परधान पदारथ नामी ।

*नीचे टिप्पणीमें जो श्लोक दिये गये हैं वे श्रीमद् अमृतचन्द्रसूरि विरचित
नाटक समयसार कलसाके श्लोक हैं । जिन श्लोकोंका प० बनारसदासजीने
पद्यानुवाद किया है ।

नम समयसाराय स्वानुभूत्वा चक्रासते ।

चित्स्वभावाय भावाय सर्वभावान्तरच्छिदे ॥ १ ॥

चेतन अंक सदा निकलंक,
 महा सुख सागरकौ विसरामी ॥
 जीव अजीव जिते जगमें,
 तिनकौ गुन ज्ञायक अतरजामी ।
 सो सिवरूप वमै सिव थानक,
 ताहि विलोकि नमै शिवगामी ॥ २ ॥

शब्दार्थ—द्वुति (द्युति)=ज्योति । विराजत=प्रकाशित । परधान=प्रधान । विसरामी (विश्रामी)=शान्तिरसका भोक्ता । शिवगामी=भोक्षको जानेवाले सम्यग्दृष्टि, ध्यानक, साधु, तीर्थकर आदि ।

अर्थ—जो अपने आत्मज्ञानकी ज्योतिसे प्रकाशित हैं, सब पदार्थोंमें मुख्य है, जिनका चैतन्य चिह्न है, जो निर्विकार हैं, बड़े भारी सुख समुद्रम आनंद करते हैं, समारमे जितने चेतन अचेतन पदार्थ हैं उनके गुणोंके ज्ञाता घटघटकी जानने वाले हैं, वे सिद्ध भगवान मोक्षरूप हैं, मोक्षपुरीके निवासी हैं, उन्हें मोक्षगामी जीव ज्ञानदृष्टिसे देखकर नमस्कार करते हैं ॥२॥

जिनवाणीकी स्तुति । सर्वथा तेईसा ।

जोग धरै रहै जोगमौ भिन्न,
 अनत गुनातम केवलज्ञानी ।

अनतधर्मेणस्तत्र पश्यती प्रत्यगात्मन ।
 अनेकात्मयी भूर्तिर्नित्यमेव प्रकाशताम् ॥ २ ॥

तासु हृदै-द्रहसौं निकसी,
 सरितासम व्हे श्रुत-सिधु समानी ॥
 याते अनंत नयातम लच्छन,
 सत्य स्वरूप सिधंत वखानी ।
 बुद्ध लखै न लखै दुरबुद्ध,
 सदा जगमोहि जगै जिनवानी ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—बुद्ध=पवित्र जैनधर्मके विद्वान् । दुरबुद्ध=मिथ्यादृष्टी,
 कोरे व्याकरण कोप आदिके ज्ञाता परन्तु नय ज्ञानसे शून्य ।

अर्थ—अनंत गुणोंके धारक केवलज्ञानी भगवान यद्यपि
 संयोगी है तथापि योगोंसे पृथक् हैं^१ उनके हृदय रूप
 द्रहसे नदी रूप जिनवाणी निकलकर शास्त्र रूप समुद्रमे प्रवेश
 कर गई है, इससे सिद्धान्तमे इसे सत्य स्वरूप और अनंत नया-
 त्मक कहा है । इसे जैन धर्मके मर्मा मम्यगृष्टी जीन पहचा-
 नते हैं, मूर्ख मिथ्यादृष्टी लोग नहीं समझते । ऐसी जिनवाणी
 जगतमे सदा जयवत होवे ॥ ३ ॥

१ ऐसे लोगोंको आदिपुराणमे अक्षर म्लेक्ष कहा है । २ तेरहवें गुणस्थानमें
 मन, वचन, कायके सात योग कहे हैं परन्तु योगोंद्वारा ज्ञानका अनुभव नहीं
 करते इस लिये अयोगी ही ह ।

परि व्यवस्था । छद् छप्पय ।

हो निहचै तिहुँकाल, सुद्ध चेतनमय मूरति ।
पर परनति सजोग, भई जडता विसफूरति ॥
मोहकर्म पर हेतु पाइ, चेतन पर रचइ ।
ज्यो धतूर-रस पान करत, नर बहुविध नचइ ॥

अब समयसार वरनन करत,
परम सुद्धता होहु मुझ ।
अनयास बनारसिदास रुहि,
मिटहु सहज भ्रमकी अरुझ ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—पर परणति=निज आत्माके भिन्नय अन्य चेतन अचे-
तन पदार्थमें अहंबुद्धि^१ रोगद्वेष । विसफूरति (विस्फूर्ति)=जाग्रत
तिहुँकाल=तानकाळ (भूत, वर्तमान, भविष्यत) । रचइ=रागकरना
नचइ=नाचना । अनयास=प्रय पढ़ने आदिना प्रय न प्रिय प्रिन
अवस्मात् । अरुझ=उलझन ।

अर्थ—मैं निश्चयनयसे सदाकाल शुद्ध चैतन्य मूर्ति
परन्तु पर परणतिके समागमसे अज्ञान तथा प्राप्त हुई है । मो

१ या, हूँ और रहूँगा ।

परपरिणतिहेतोर्मोहनाम्नोऽनुभावा
दप्रित्तमनुभाययातिस्त्वमागिताया ।
मम परमविशुद्धि शुद्धचिमाप्रमूर्त्ते
सैवतु समयसारव्याख्यैरानुभूतः ॥ ३ ॥

कर्मका पर निमित्त पाकर आत्मा पर पदार्थोंमें अनुराग करता है, इससे घटूरेका रस पीकर नाचनेवाले मनुष्य जैसी दशा हो रही है । पं० बनारसीदासजी कहते हैं कि अब समयसारका वर्णन करनेसे मुझे परम विशुद्धता प्राप्त होवे और बिना प्रयत्न ही मिथ्यात्वकी उलझन अपने आप मिट जावे ॥ ४ ॥

शास्त्रका भाहात्म्य । सवेया इकतीसा ।

निहचैमै रूप एक विवहारमें अनेक,
याही नै-विरोधमै जगत भरमायौ है ।
जगके विवाद नासिवेकौ जिन आगम है,
जामै स्याद्वादनाम लच्छन सुहायौ है ॥
दरसनमोह जाकौ गयौ है सहजरूप,
आगम प्रमान ताके हिरदैमै आयौ है ।
अनेसौ अखंडित अनूतन अनंत तेज,
ऐसौ पद पूरन तुरंत तिनि पायौ है ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—नै=नय । दर्शन मोह=त्रिमके उदयम जीव तरय श्रद्धा-
नसे गिर जाता है । पूरणपद (पूर्णपद)=मोक्ष ।

अर्थ—निश्चयनयमे पदार्थ एक रूप है और व्यवहारमे अनेक रूप है । इस नय विरोधमे संसार भूल रहा है, सो इस विवादको

उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदाङ्के

जिनवचसि रमन्ते ये स्वयं चान्तमोहा ।

सपदि समयसार ते पर ज्योतिरुच्चै-

रनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षन्त पद्य ॥ ४ ॥

नष्ट करनेवाला जिनागम है जिसमें स्याद्वाक्यका शुभ चिह्न है। जिस जीपको दर्शन मोहनीय उदय नहीं होता उसके हृदयमें स्वतः स्वभाव यह प्रमाणिक जिनागम प्रवेश करता है और उसे तत्काल ही नित्य, अनादि और अनंत प्रकाशवान मोक्षपद प्राप्त होता है ॥ ५ ॥

निश्चय नयनी प्रधानता । सर्वथा तेरस्ता ।

ज्यों नर कोउ गिरै गिरिसौ तिहि,
 सोइ हितू जो गहै दिढवाहीं ।
 त्यों बुधकों विवहार भलौ
 तवलों जवलों गिव प्रापति नाहीं ॥
 यद्यपि यो परवान तथापि,
 सधै परमारथ चेतनमाहीं ।
 जीप अब्यापक हे परसों,
 विवहारसो तो परकी परछाहीं ॥ ६ ॥

शब्दार्थ - गिरि=पर्वत । वाहीं=भुजा । बुध=ज्ञानी ।

१ मुहर छाप लगी हुई है—स्याद्वाक्ये ही पहिचाना जाता है कि यह जिनागम है ।

व्यवहरणनय स्याद्यद्यपि प्राक्पदव्या
 भिद निद्वितपदाना हन हस्ताप्रलम्भ ।
 तद्यपि परममथ तच्चमत्तारमात्र
 परविरहितमन्तःप्रत्यता किञ्चि ॥ ५ ॥

अर्थ—जैसे कोई मनुष्य पहाड़परसे फिसल पड़े और कोई हितकारी उनकर उसकी भुजा मजूतीसे पकड़ लेवे उसी प्रकार ज्ञानियोंको जब तक मोक्ष प्राप्त नहीं हुआ है तब तक व्यवहारका अवलम्ब है, यद्यपि यह बात सत्य है तो भी निश्चय नय चैतन्यको सिद्ध करता है तथा जीवको परसे भिन्न दर्शाता है और व्यवहारनय तो जीवको परसे आश्रित करता है ।

भावार्थ—यद्यपि चौथे गुणम्यानसे चौदहवें गुणम्यान तक व्यवहारका ही अवलम्बन है, परन्तु व्यवहारनयकी अपेक्षा निश्चयनय उपादेय है, क्योंकि उससे पदार्थका असली स्वरूप जाना जाता है और व्यवहार नय अभूतार्थ होनेसे परमार्थमें प्रयोजनभूत नहीं है ॥ ६ ॥

सम्यग्दर्शनका स्वरूप । सजेया इफतीसा ।

शुद्धनय निहचै अकेलौ आपु चिदानंद,
 अपनेही गुन परजायकों गहतु है ।
 पूरन विग्यानघन सो है विवहारमाहि,
 नव तत्त्वरूपी पच दर्बमें रहतु है ॥
 पच दर्ब नव तत्त्व न्यारे जीव न्यारौ लखै,
 सम्यकदरस यहै और न गहतु है ।

एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो व्याप्नुयदस्यात्मन

पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनमिह द्रव्यान्तरेभ्य पृथक् ।

सम्यग्दर्शनमेतदेव नियमाद्वात्मा च तावानयम्

तन्मुक्ता नवतत्त्वसन्ततिमिमांसात्मायमेकोऽस्तु न. ॥ ६ ॥

सम्यक्दरस जोई आत्म मरूप सोई,
मेरे घट प्रगटो बनारसी कहतु है ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—छेबे=श्रद्धान करे । घट=हृदय ।

अर्थ—शुद्ध निश्चय नयसे चिदानन्द अकेला ही है और अपने गुण पर्यायोंमें परिणमन करता है । व्यवहारनयमें वह पूर्णज्ञानका पिण्ड वा पाच द्रव्य न तत्त्वमें एकमा हो रहा है । पाच द्रव्य और न तत्त्वोंसे चेतियता चेतन निराला है, ऐमा श्रद्धान करना और इसके सिवाय अन्य भांति श्रद्धान नहीं करना सो सम्यक्दर्शन है, और सम्यक्दर्शन ही आत्माका स्वरूप है । ५० बनारसीदासजी कहते हैं कि वह सम्यक्दर्शन अर्थात् आत्माका स्वरूप मेरे हृदयमें प्रगट होये ॥ ७ ॥

जीवकी दशापर अग्निका दृष्टान्त । सबैया इक्तीसा ।

जैसे तृण काठ वास आरने इत्यादि और,
ईधन अनेक विधि पावकमें दहिये ।

१ लखन दर्शन, अवलोकन आदि शब्दोंका अर्थ जैनागममें कहीं तो 'दिखना' होता है जो दणनावरणीय कर्मके क्षयोपगमकी अपेक्षा रखता है और कहीं इन शब्दोंका अर्थ 'श्रद्धान करना' लिया जाता है जो दशन मोहनीयके अनोदयकी अपेक्षासे है सो यहां दशनमोहनीयके अनोदयका ही प्रयोजन है ।

२ जैनागममें छह द्रव्य कहे हैं पर यहां काल द्रव्यकी गौणकरके पचास्तिका यको ही द्रव्य कहा है ।

अतः शुद्धनयायत्त प्रत्यग्जयातिश्चकास्ति तत् ।
नद्यतत्त्वगतत्वेऽपि यदेकत्र न मुञ्चति ॥ ७ ॥

आकृति विलोकित कहावै आग नानारूप,
 दीसै एक दाहक सुभाव जब गहिये ॥
 तैसै नव तत्त्वमै भयौ है बहु भेषी जीव,
 सुद्धरूप मिश्रित असुद्ध रूप कहिये ।
 जाही छिन चेतना सकतिकौ विचार कीजे,
 ताही छिन अलख अभेदरूप लहिये ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—आरने=जगलके । दाहक=जलानेवाला । अलख=अरूपी ।
 अभेद=भेद व्यवहारसे रहित ।

अर्थ—जैसे कि घाम, काठ, घाम वा जगलके अनेक ईंधन
 आदि अग्निमें जलते हैं, उनकी आकृतिपर ध्यान देनेसे अग्नि
 अनेक रूप दिखती है, परन्तु यदि मात्र दाहक स्वभावपर दृष्टि
 डाली जावे तो सब अग्नि एक रूप ही है, उसी प्रकार जीव
 (व्यवहारनयसे) नव तत्त्वोंमें शुद्ध, अशुद्ध, मिश्र आदि अनेक
 रूप हो रहा है, परन्तु जब उसकी चैतन्य शक्तिपर विचार किया
 जाता है तब वह (शुद्धनयसे) अरूपी और अभेद रूप ग्रहण
 होता है ॥ ८ ॥

जीवकी दशा पर सुवर्णका दृष्टान्त । सवेया इकतीसा ।

जैसे वनवारीमें कुधातके मिलाप हेम,
 नानाभांति भयौ पै तथापि एक नाम है ।

चिरमिति नवतत्त्वच्छन्नमुद्गीयमान

कनकमिव निमग्न वर्णमालाकलापे ।

अथ सततचिपिक दृश्यतामेकरूप

प्रतिपदमिदमात्मज्योतिरुद्योतमानम् ॥ ८ ॥

कसिके कसौटी लीकु निरसै सराफ ताहि,
 वानके प्रवान करि लेतु देतु दाम है ॥
 तैसे ही अनादि पुद्गलमों मंजोगी जीव,
 नव तत्त्वरूपमै अरूपी महा धाम है ।
 दीसै उनमानसो उदोतवान ठौर ठौर,
 दूसरो न और एक आतमाही राम है ॥९॥

शब्दार्थ—अनारी=धरिया । लीकु=रेखा । उनमान (अनुमान)=
 साधनमें साध्यके ज्ञानको अनुमान कहते हैं, जैसे धूमको देखकर अग्निसा
 ज्ञान करना । वान=चमक ।

अर्थ—जिम प्रकार सुवर्ण कुधातुके संयोगसे अग्निके तापमें
 अनेक रूप होता है, परन्तु तो भी उसका नाम एक सोना ही
 रहता है तथा सराफ कसौटीपर कसकर उसकी रेखा देखता है
 और उसकी चमकके अनुसार दाम देता लेता है, उसी प्रकार
 अरूपी महा दिग्गज जीव अनादिकालसे पुद्गलके समागममें नव
 तत्त्वरूप दिखता है, परन्तु अनुमान प्रमाणसे सब हालतोंमें
 ज्ञानस्वरूप एक आत्मरामके सिवाय और दूसरा कुछ नहीं है ।

भावार्थ—जब आत्मा अशुभ भावमें वर्तता है तब पाप तत्त्व
 रूप होता है, जब शुभ भावमें वर्तता है तब पुण्य तत्त्व रूप होता
 है, और जब शम, दम, समयभावमें वर्तता है तब सत्त्व रूप
 होता है, इसी प्रकार भावास्त्रय भावबंध आदिमें वर्तता हुआ
 आस्रवणधादि रूप होता है, तथा जब शरीरादि जड़ पदार्थोंमें

अहबुद्धि करता है तत्र जड़ स्वरूप होता है, परन्तु वास्तवमे इन सन अपस्थाओंमे वह शुद्ध सुमर्णके समान निर्णिकार है ॥ ९ ॥

अनुभवकी दशामें सूर्यका दृष्टान्त । सबैया इकतीसा ।

जैसे रवि-मंडलके उदै महि-मंडलमे,

आतप अटल तम पटल विलातु है ।

तैसे परमातमाकौ अनुभौ रहत जौलौ,

तौलौ कहूँ दुविधा न कहूँ पच्छपातु है ॥

नयकौ न लेस परवानकौ न परवेस,

निच्छेपके वंसकौ विधुंस होत जातु है ।

जे जे वस्तु साधक हे तेऊ तहां बाधक हे,

वाकी राग दोपकी दसाकी कौन वातु है ॥१०

शब्दार्थ—महिमंडल=पृथ्वीतल । परवान=प्रमाण । परवेस(प्रवेश)=पहुँच ।

अर्थ—जिम प्रकार सूर्यके उदयमे भूमंडल पर धूप फैल जाती है और अधकारका लोप हो जाता है उसी प्रकार जन्म तक शुद्ध आत्माका अनुभव रहता है तत्र तत्र कोई विकल्प वा नय आदिका पक्ष नहीं रहता । वहा नय विचारका लेश नहीं

उदयति न नयथीरस्तमेति प्रमाण

कच्चिदपि च न विज्ञो याति निक्षेपचक्रं ।

किमपरमभिद्धमो धाम्नि सर्वकपेऽस्मि

अनुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव ॥ ९ ॥

है, प्रमाणकी पहुँच नहीं है और निक्षेपोंका समुदाय नष्ट हो जाता है। पूर्वकी दशामे जो जो बातें सहायक थीं वे ही अनुभवकी दशामे बाधक होती हैं और राग ड्रेप तो बाधक हैं ही।

भाचार्य—नय तो वस्तुका गुण सिद्ध करता है और अनुभव सिद्ध वस्तुका होता है इससे अनुभवमें नयका काम नहीं है, प्रत्यक्ष परोक्ष जादि प्रमाण असिद्ध वस्तुको सिद्ध करते हैं तो अनुभवमें वस्तु सिद्ध ही है अतः प्रमाण भी अनावश्यक है, निक्षेपसे वस्तुकी स्थिति समझम आती है तो अनुभवम शुद्ध आत्म पदार्थका भान रहता है अतः निक्षेप भी निष्प्रयोजन है, इतना ही नहीं ये तीनों अनुभवकी दशामे बाधा कारक हैं परन्तु इन्हें हानिकर समझकर प्रथम अवस्थामे छोड़नेका उपदेश नहीं है, क्योंकि इनके बिना पदार्थका ज्ञान नहीं हो सकता। ये नय आदि साधक हैं और अनुभव साध्य है, जैसे कि दड चक्र आदि साधनोंके बिना घटकी सृष्टि नहीं होती। परन्तु जिन प्रकार घट पदार्थ सिद्ध हुए पीछे दड चक्र जादि विडम्बना रूप ही होते हैं उसी प्रकार अनुभव प्राप्त होनेके उपरान्त नय निक्षेप आदिके विकल्प हानिकारक है ॥ १० ॥

शुद्धनयकी अपेक्षा जीवना स्वरूप। अडिह।

आदि अतः पूरन सुभाव मयुक्त है।

पर-सरूप पर-जोग-कल्पनामुक्त है॥

आत्मस्वभाव परभावभिन्नमापूर्णमाद्यन्तप्रिमुक्तमेव।

विलीनसङ्घटपविकल्पजाल प्रकाशयन् शुद्धनयोऽभ्युदेति ॥ १० ॥

सदा एकरस प्रगट कही है जैनमें ।

सुद्धनयातम वस्तु विराजै वेनमें ॥ ११ ॥

शब्दार्थ—आदि अत=सदैव । जोग=सयोग ।

अर्थ—जीव, आदि अवस्था निगोदसे लगाकर अत अवस्था सिद्ध पर्याय पर्यन्त अपने परिपूर्ण स्वभाजसे सयुक्त है और परद्रव्योंके संयोगकी कल्पनासे रहित है, मदैव एक चैतन्य रससे सम्पन्न है ऐसा शुद्ध नयकी अपेक्षा जिनजाणीमें कहा है ॥११॥

हितोपदेश । कवित्त (३१ मात्रा) ।

सद्गुरु कहै भव्यजीवनिसौ,

तोरहु तुरित मोहकी जेल ।

समकितरूप गहौ अपनोगुन,

करहु सुद्ध अनुभवकौ खेल ॥

पुदगलपिंड भाव रागादिक,

इनसो नहीं तुम्हारौ मेल ।

ए जड प्रगट गुपत तुम चेतन,

जैसें भिन्न तोय अरु तेल ॥ १२ ॥

न हि विदधति बद्धस्पृष्टमात्रादयोऽमी

स्फुटमुपरि तरन्तोऽप्येत्य यत्र प्रतिष्ठा ।

अनुभवतु तमेव द्योतमान समताञ्ज

गदपगतमोहीभूय सम्यक् स्वभाव ॥ ११ ॥

शब्दार्थ—विभाज्य=पर वस्तुके संयोगसे जो विकार हों। विभूति=सम्पदा।

अर्थ—शुद्ध नयके विषयभूत जात्माको अनुभव ही ज्ञान सपदा है, आत्मा और ज्ञानमे नामभेद है वस्तुभेद नहीं है। (आत्मा गुणी है ज्ञान गुण है सो गुण और गुणीको पहिचान कर जन कोई जात्म-भ्यान करता है तब उसकी रागादि अशुद्ध दशा नष्ट होकर शुद्ध अवस्था प्राप्त होती है।

भावार्थ—आत्मा गुणी है और ज्ञान उसका गुण है, इनमे वस्तुभेद नहीं है। जैसे जगिजा गुण उष्णता है, यदि कोई जग्गि और उष्णताको पृथक् पृथक् करना चाहे तो नहीं हो सकते। उसी प्रकार ज्ञान और आत्माका सहभावी सपध है पर नाम भेद अवश्य है कि यह गुणी है और यह उसका गुण है ॥ १४ ॥

ज्ञानियोंना चितवन । सर्वैया इकतीसा ।

अपनेही गुन परजायमो प्रवाहरूप,
परिनयो तिहू काल अपने आधारसो ।
अन्तर-बाहर-परकासवान एकरस,
सिन्नता न गहै भिन्न रहै भौ विकारसो ॥

अप्रण्डितमनाकुल प्रसन्न-न्तम-तर्हि

मैह परममस्तु न सहजमुद्विलास सदा ।

चिदुच्छ्वलनिर्भर सकलकालमालम्बते

यदेकरसमुल्लसल्लवणबिन्दुसालायित ॥ १४ ॥

चेतनाके रस सरवंग भरि रह्यौ जीव,
जैसे लौन-कांकर भन्यो है रस खारसों ।
पूरन-मुरूप अति उज्जल विग्यानधन,
मोको होहु प्रगट विसेस निरवारसों ॥१५॥

शब्दार्थ—मौ (भव)=ससार । लौन काकर=नमरुकी डली ।
निरवार=निवारण ।

अर्थ—जीव पदार्थ सदैव अपने ही आधार रहता है और अपने ही धारा प्रवाह गुण पर्यायोंमें परिणामन करता है, राह जाग अभ्यन्तर एकमा प्रकाशमान रहता है कभी कमती नहीं होता, यह ससारके प्रकारसे पृथक् है, उसमें चैतन्य रस ऐसा ठमाठम भर रहा है, जैसे कि नमरुकी डली खारेपनसे भरपूर रहती है । ऐसा परिपूर्ण स्वरूप, अत्यन्त निर्भिकार, विज्ञानधन आत्मा मोहके अत्यन्त अयसे मुझे प्रगट होवे ॥ १५ ॥

साध्य साधकका स्वरूप चाट्टय और गुण पर्यायोंको धभेद विवक्षा ।
प्रवृत्त ।

जंह ध्रुवधर्म कर्मछय लच्छन,
सिद्धि समाधि साधिपद सोई ।
सुद्धपयोग जोग महिमंडित,
साधक ताहि कहै सब कोई ॥

एष ज्ञानधनो नित्यमात्मा सिद्धिमभीष्टुभिः ।

साध्यसाधकभावेन द्विधैका समुपास्यताम् ॥ १५ ॥

निहचै-दृष्टि एकरस चेतन,
भेदरहित अविचल अविकार ॥

सम्यकदसा प्रमान उभै नय,
निर्मल समल एक ही वार ।

यौ समकाल जीवकी परिणति,
कहै जिनेद गहै गणधार ॥ १७ ॥

शब्दार्थ—ममल=यहा समल शब्दसे असत्यार्थ, अभूतार्थका प्रयोजन है । निर्मल=इस शब्दसे यहा सत्यार्थ, भूतार्थका प्रयोजन है । उभै नय=दोनों नय (निश्चय और व्यवहार नय) । गणधार=गणवर (समदर्शणके प्रधान आचार्य) ।

अर्थ—व्यवहार नयसे आत्मा दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य तीन गुणरूप हैं, यह व्यवहार नय निश्चयकी अपेक्षा अभूतार्थ है, निश्चय नयसे आत्मा एक चैतन्य रस सम्पन्न, अभेद, नित्य और निर्विकार है । ये दोनों निश्चय और व्यवहार नय सम्यग्दृष्टिको एक ही कालमें प्रमाण है ऐसी एक ही समयमें जीवकी निर्मल समल परिणति जिनराजने कही है और गणवर स्वामीने धारण की है ॥ १७ ॥

व्यवहार नयसे जीवका स्वरूप । दोहा ।

एकरूप आत्म दरव, ग्यान चरन दृग तीन ।
भेदभाव परिनामसौ, विवहारै सु मलीन ॥ १८ ॥

दर्शनज्ञानचारित्र्यैस्त्रिभि परिणतत्वत ।

एकोऽपि त्रिस्वभावरवाद् व्यवहारेण मेचकः ॥ १७ ॥

अर्थ—आत्म द्रव्य एक रूप है, उमको दर्शन, ज्ञान, चारित्र तीन भेदरूप कहना सो व्यवहार नय है—असत्यार्थ है ॥ १८ ॥

निश्चय नयसे जीवका स्वरूप । दोहा ।

जदपि समल विवहारसों, पर्यय-सकति अनेक ।
तदपि नियत-नय देखिये, शुद्ध निरजन एक ॥१९॥

शब्दार्थ—नियत=निश्चय । निरजन=कर्म मल रहित ।

अर्थ—यद्यपि व्यवहार नयकी अपेक्षा आत्मा अनेक गुण और पर्यायवन्त ह तो भी निश्चय नयसे देखा जावे तो एक, शुद्ध, निरजन ही है ॥ १९ ॥

शुद्ध निश्चय नयसे जीवका स्वरूप । दोहा ।

एक देखिये जानिये, रमि रहिये इक ठौर ।
समल विमल न विचारिये, यहै सिद्धि नहि और ॥

शब्दार्थ—रमि रहना=विश्राम लेना । ठौर=स्थान ।

अर्थ—आत्माको एक रूप श्रद्धान करना वा एक रूप ही जानना चाहिये, तथा एकमें ही विश्राम लेना चाहिये, निर्मल

१ दोहा—जेते भेद विवक्ष्य है ते ते सब विवहार ।

निराबाध निरकल्प सो, निश्चय नय निरधार ॥

परमार्थेन तु व्यक्त ज्ञातृत्वज्योतिर्पक्व ।

सर्वभावा तरभ्यसिस्वभावत्वादमेक्ष्य ॥ १८ ॥

आत्मनश्चिन्तयन्वाल् मेचकामेचकत्वयो ।

दर्शनज्ञानचारिभैः साध्यसिद्धिर्न चान्यथा ॥ १९ ॥

समलला विकल्प न करना चाहिये । इसीमें सर्वसिद्धि है, दूसरा उपाय नहीं है ।

भावार्थ—आत्माको निर्मल समलके विकल्प रहित एक रूप श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, एक रूप जानना सम्यक्ज्ञान है और एक रूपमें ही स्थिर होना सम्यक्चारित्र्य है, यही मोक्षका उपाय है ॥ २० ॥

शुद्ध अनुभवकी प्रशंसा । सर्वैया इकतीसा ।

जाकै पद सोहत सुलच्छन अनंत ग्यान,
विमल विकासवंत ज्योति लहलही है ।

यद्यपि त्रिविधिरूप विवहारमें तथापि,
एकता न तजै यों नियत अंग कही है ॥

सो है जीव कैसीहूं जुगतिकै सदीव ताके,
ध्यान करिवैको मेरी मनसा उनही है ।

जाते अविचल रिद्धि होत और भांति सिद्धि,
नाहीं नाहीं नाहीं यामें धोखो नाहीं सही है २१

शब्दार्थ—जुगति=युक्ति । मनसा=अभिलाषा । उनही है=तत्पर
इई है । अविचल रिद्धि=मोक्ष । धोखो=सन्देह ।

कथमपि समुपात्तत्रित्वमप्येकताया

अपतितमिदमात्मज्योतिरुद्वच्छदच्छम् ।

सततमनुभवामोऽनन्तचतन्यचिह्नम्

न खलु न खलु यस्मादन्यथा साध्यसिद्धिः ॥ २० ॥

अर्थ—आत्मा अनंत ज्ञानरूप लक्षणसे लक्षित है, उसके ज्ञानकी निर्मल प्रकाशवान ज्योति जग रही है, यद्यपि वह व्यवहार नयसे नीरं रूप है तौ भी निश्चय नयसे एक ही रूप है, उमका किसी भी युक्तिसे सदा ध्यान करनेको मेरा चित्त उत्साहित हुआ है, इसीसे मोक्ष प्राप्त होती है और कोई दूसरा तरीका कार्य सिद्ध होनेका नहीं है ! नहीं है !! नहीं है !!! इसमें कोई सन्देह नहीं है विलकुल सच है ॥ २१ ॥

ज्ञाताकी अवस्था । सर्वथा तेईसा ।

कै अपनौ पद आप संभारत,
 कै गुरुके मुरझकी मुनि वानी ।
 भेदविग्यान जग्यौ जिन्हके,
 प्रगटी सुविवेक-कला-रजधानी ॥
 भाव अनंत भए प्रतिविवित,
 जीवन मोरु दसा ठहरानी ।
 ते नर दर्पन ज्यौं अविकार,
 रहैं थिररूप सदा सुरदाणी ॥ २२ ॥

१ दर्शन, ज्ञान चारित्र्य अथवा बहिरात्मा, अतरात्मा परमात्मा । २ यहा बार बार 'नही है' व्हके कथनका समर्थन किया है ।

यद्यमपि हि एभन्ते भेदविज्ञानमूला
 मचलितमनुभूति ये स्वतो चान्यतो वा ।
 प्रतिफलननिमग्नाऽनन्तमापस्वभावे
 मुकुटधदविकारा सतत स्युस्त एव ॥ २१ ॥

शब्दार्थ—रजधानी=शक्ति । जीवन मोक्षदशा=मानों यहाँ ही मोक्ष प्राप्त कर चुके ।

अर्थ—अपने आप अपना स्वरूप सम्हालनेसे^१ अथवा श्रीगुरुके मुखारविंद द्वारा उपदेश सुननेसे^२ जिनको भेदविज्ञान जाग्रत हुआ है अर्थात् स्वपर विवेककी ज्ञान शक्ति प्रगट हुई है, उन महात्माओंको जीवनमुक्त अवस्था प्राप्त हो जाती है । उनके निर्मल दर्पणप्रत् स्वच्छ आत्मामें अनत भाव झलकते हैं परन्तु उनसे कुछ विकार नहीं होता । वे सदा आनंदमें मस्त रहते हैं ॥ २२ ॥

भेद विज्ञानकी महिमा । सर्वैया इकतीसा ।

याही वर्तमानसमै भव्यनिकौ मिटौ मोह,
 लग्यौहै अनादिकौ पग्यौ है कर्ममलसो ।
 उदै करै भेदज्ञान महा रुचिकौ निधान,
 उरकौ उजारौ भारौ न्यारौ दुंद-दलसौं ॥
 जातै थिर रहै अनुभौ विलास गहै फिरि,
 कवहूं अपनपौ न कहै पुदगलसौं ।

१ यह नैसर्गिक सम्यग्दर्शन है । २ यह अधिगमज सम्यग्दर्शन है ।

त्यजतु जगद्दिदानीं मोहमाजन्मलीढ
 रसयतु रसिकाना रोचन ज्ञानमुद्यत् ।
 इह कथमपि नात्मानात्मना साकमेक
 किल कल्पयति काले ह्यपि तादात्म्यवृत्तिम् ॥ २२ ॥

यहै करतूति यो जुदाई करै जगतसो,
पावक ज्यो भिन्न करै कचन उपलमो ॥२३॥

शब्दार्थ—निधान=खजाना । दुद (दूद)=मंशय । उपर=पत्थर ।
महातचि=दृढ़ श्रद्धान । जगत=जन्म मरण रूप सत्तार ।

अर्थ—इस समय भव्य जीवोंका जनादिकालसे लगा हुआ
और कर्म मलसे मिला हुआ मोह नष्ट हो जाये । इसके नष्ट हो
जानेसे हृद्यमें महाप्रकाश करनेवाला, सगय ममूहकी मिटाने-
वाला, दृढ़ श्रद्धानकी रुचि स्वरूप भेदविज्ञान प्रगट होता है ।
इससे स्वरूपमें विश्राम और अनुभवका आनन्द मिलता है तथा
शरीरादि पुद्गल पदार्थोंमें रुमी अहनुद्धि नहीं रहती । यह क्रिया
उन्ह सत्तारसे ऐसे पृथक् बना देती है जिम प्रकार अग्नि स्वर्णको
किट्टिकासे भिन्न कर देती है ॥ २३ ॥

परमार्थकी शिक्षा । सर्वथा इफतीमा ।

वानारसी कहे भैया भव्य गुनौ मेरी मीख,
कैहू भाति कैसेहूकै ऐसौ काजु कीजिए ।
एकहू मुहूरत मिथ्यातकौ विधुस होइ,
ग्यानको जगाइ अस हस खोजि लीजिए ॥

अपि कथमपि मृत्वा तरुकीतूहली स
ननुभव भव मूर्त्ते पादर्वर्त्ती मुहूर्त्तम् ।
पृथगथ विलसत स्व समालोक्य येन
त्यजति श्रुति मूर्त्या साकमेकत्वमोह ॥ २३ ॥

वाहीकौ विचार वाकौ ध्यान यहै कौतूहल,
 योही भरि जनम परम रस पीजिए ।
 तजि भव-वासकौ विलास सविकाररूप,
 अतकारि मोहकौ अनंतकाल जीजिए ॥२४॥

शब्दार्थ—कैहू भाति=किसी भी तरीकेस । कैसैहूके=आप किसी प्रकारके जनकर । हस=आत्मा । कौतूहल=कीड़ा । भव वासकौ विलास=जन्ममरणकी भटकना । अनतकाल जीजिए=अमर हो जाओ अर्थात् सिद्ध पद प्राप्त करो ।

अर्थ—प० जनारसीदासजी कहते हैं—हे भाई भव्य ! मेरा उपदेश सुनो कि किसी प्रयत्नसे और कैसे ही जनकर ऐसा काम करो जिससे मात्र अतर्मुहूर्तके लिये मिथ्यात्वका उदय न रहै, ज्ञानका अंश जाग्रत हो और आत्म स्वरूपकी पहिचान होवे । यावजीव उसहीका विचार, उसहीका ध्यान, उसहीकी लीलामें परमरमका पान करो और रागद्वेषमय ससारकी भटरुना छोड़कर तथा मोहका नाश करके सिद्धपद प्राप्त करो ॥ २४ ॥

तीर्थकर भगवानके शरीरकी स्तुति । सत्रैया इफतीसा ।

जाके देह-द्युतिसौ दसौ दिसा पवित्र भई,
 जाके तेज आगै सब तेजवंत रुके है ।

१ दो घडी अघात् ४८ मिनिटमेंसे एक समय कम ।

कान्त्यैव स्रपयन्ति ये दशदिशो धाम्ना निरुन्धन्ति ये
 धामोद्दाममहस्त्रिना जनमनो मुष्णन्ति रूपेण च ।
 दिव्येन ध्वनिना सुर्य श्रवणयो साक्षात्क्षरन्तोऽमृतम्
 घन्द्यास्नेऽष्टसहस्रलक्षणधरास्तीर्थद्वरा सुर्य ॥ २४ ॥

जाको रूप निरखि थकित महा रूपवत,
जाकी वपु-वाससों सुवास और लुके हैं ॥
जाकी दिव्यधुनि सुनि श्रवणको सुख होत,
जाके तन लच्छन अनेक आइ दुके है ।
तेई जिनराज जाके कहे विवहार गुन,
निहचै निरखि मुछ चेतनसौ चुके हैं ॥ २५ ॥

शब्दार्थ—वपु-वाससों=शरीरकी गंधसे । लुक=छुप गये । दुके=प्रवेश किये । चुके=न्यारे ।

अर्थ—जिसके शरीरकी जाभासे दशो दिशाएँ पवित्र होती हैं, जिसके तेनके आगे सब तेजमान लज्जित होते हैं, जिसका रूप देखकर महारूपमान हार मानते हैं, जिसके शरीरकी सुगंधसे सब सुगन्ध छिप जाती है, जिसकी दिव्यगानी सुननेसे जानोंको सुख होता है, जिसके शरीरमें अनेक शुभ लक्षण आ वसे हैं, ऐसे तीर्थकर भगवान हैं । उनके ये गुण व्यवहार नयसे कहे हैं, निश्चय नयसे देखो तो शुद्ध आत्माके गुणोंसे ये देहाश्रित गुण भिन्न हैं ॥ २५ ॥

जामे वालपनौ तरुनापौ वृद्धपनौ नाहि,
आयु परजत महारूप महाबल है ।

१ सूर्य, चंद्रमा आदि । २ इंद्र, कामदेव आदि । ३ मदार, सुपारिनात आदि पुण्योक्ती । ४ कमल, चक्र, प्वजा, कल्पवृक्ष, सिंहासन, समुद्र आदि १००८ ।

नित्यमत्रिफारसुस्थितसर्वांगमपूर्वसहजलाघण्य ।

अक्षोभमिन्न समुद्र जिने द्ररूप पर जयति ॥ २६ ॥

विना ही जतन जाके तनमै अनेक गुण,
 अतिसै-विराजमान काया निर्मल है ॥
 जैसे विनु पवन समुद्र अविचलरूप,
 तैसे जाकौ मन अरु आसन अचल है ।
 ऐसौ जिनराज जयवंत होउ जगतमे,
 जाकी सुभगति महा सुकृतको फल है ॥२६॥

शब्दार्थ—तरुनापौ=जयानी । काया=शरीर । अविचल=स्थिर ।
 सुभगति=शुभभक्ति ।

अर्थ—जिनके गालक, तरुण और वृद्धपना नहीं है, जिनका जन्मभर अत्यन्त सुन्दर रूप और अतुल्य बल रहता है, जिनके शरीरमें स्वतः स्वभाव ही अनेक गुण व अतिशय विराजते है, तथा शरीर अत्यन्त उज्ज्वल है, जिनका मन और आसन पवनके झोकोसे रहित समुद्रके समान स्थिर है, वे तीर्थकर भगवान ससारमें जयपन्त हों, जिनकी शुभभक्ति बड़े भारी पुण्यके उदयसे प्राप्त होती है ॥ २६ ॥

जिनराजका यथार्थ स्वरूप । दोहा ।

जिनपद नांही शरीरकौ, जिनपद चेतनमांही ।
 जिनवर्नन कछु और है, यह जिनवर्नन नांही ॥२७

१ बालकवत् अज्ञानता, युवावत् मदाधपना और वृद्धवत् देह जीर्ण नहीं होती ।
 २ चाँतीस अतिशय । ३ पसीना, नाक, राल आदि मल रहित हैं ।

शब्दार्थ—और=दूसरा । जिन=जीते सो जिन अर्थात् जिन्होंने कामक्रोधादि शत्रुओंको जीता है ।

अर्थ—यह (ऊपर रुहा हुआ) जिन वर्णन नहीं है, जिन वर्णन हमसे निराला है, क्योंकि जिनपद शरीरमें नहीं है, चेतियता चेतनमें है ॥ २७ ॥

पुद्गल आंर चैतन्यके भिन्न स्वभावपर दृष्टान्त । मज्जा इक्षतीसा ।

ऊचे ऊचे गढके कगूरे यों विराजत हे,
 मानौ नभलोक गीलिवेकों दांत दीयौ है ।
 मोहें चहँओर उपजनकी मघनताई,
 घेरा करि मानौ भूमिलोक घेरि लीयौ है ॥
 गहिरी गंभीर खाई ताकी उपमा बनाई,
 नीचौ करि आनन पताल जल पीयौ है ।
 ऐसो हे नगर यामे नृपको न अग कोऊ,
 यौही चिदानंदमो मरीर भिन्न कीयौ है ॥२८

शब्दार्थ—गढ=किला । नभलोक=स्वर्ग । आनन=मुँह ।

अर्थ—जिस नगरमें बड़े बड़े ऊचे किले हैं जिनके कगूरे ऐसे शोभायमान होते हैं मानो स्वर्गलोक निगल जानेके लिये दांत ही फलाये ह, उम नगरके चारो ओर सघन बगीचे इस

प्राकारक प्रलितावरमुपवनरापीनिगीर्णभूमितल ।

पियसीव हि नगरमिद परिखावलये । पाताल ॥ २५ ॥

प्रकार सुशोभित होते हैं मानो मध्यलोक ही घेर रक्खा है और उस नगरकी ऐसी बड़ी गहरी खाट्या है मानो उन्होंने नीचा झुँह करके पाताल लोकका जल पी लिया है, परन्तु उम नगरसे राजा भिन्न ही है उसी प्रकार शरीरसे आत्मा भिन्न है ।

भाचार्य—आत्माको शरीरसे सर्वथा निराला गिनना चाहिये । शरीरके कथनको आत्माका कथन नहीं ममझ जाना चाहिये ॥

तीर्थंकरके निश्चय स्वरूपकी स्तुति । सबेया इकतीस्ता ।

जामे लोकालोकके सुभाव प्रतिभासे सब,
जगी ग्यान सकृति विमल जैसी आरसी ।
दर्शन उद्योत लीयो अतराय अंत कीयो,
गयौ महा मोह भयौ परम महारसी ॥
सन्यासी सहज जोगी जोगसौ उदासी जामें,
प्रकृति पचासी लगि रही जरि छारसी ।
सोहै घट मंदिरमै चेतन प्रगटरूप,
ऐसौ जिनराज ताहि वंदत वनारसी ॥२९॥

शब्दार्थ—प्रतिभासे=प्रतिबिम्बित होता है । दर्शन=यहाँ केवल दर्शनका प्रयोजन है । छारसी=राखके समान ।

अर्थ—जिन्हें ऐसा ज्ञान जाग्रत हुआ है कि जिसमें दर्पणके समान लोक अलोकके भाव प्रतिबिम्बित होते हैं, जिन्हें केवल-दर्शन प्रगट हुआ है, जिनका अतराय कर्म नष्ट हुआ है, जिन्हें

महामोह कर्मके नष्ट होनेसे परम साधु वा महा सन्यासी अत्रया प्राप्त हुई है, जो म्याभाविक योगोको धारण क्रिये है तौमी योगोंसे विरक्त हैं, जिन्हें मात्र पचासी प्रकृतिया जरी जेनरीकी भस्मके समान लगी हुई हैं, ऐसे तीर्थकर देव देहरूप देनालयमें

१ (१) असाता वेदनीय (२) देवगति, पाच शरीर—(३) औदारिक (४) वैक्रियक (५) आहारक (६) तैजस (७) कामाण । पाच यधन— (८) जादारिक (९) वैक्रियक (१०) आहारक (११) तैजस (१२) कामाण । पाच सघात—(१३) औदारिक (१४) वैक्रियक (१५) आहारक (१६) तैजस (१७) कामाण छह संस्थान—(१८) समचतुरस्र संस्थान (१९) न्यग्रोधपरिमण्डल (२०) स्वातिक (२१) भावन (२२) कुञ्जक (२३) हुडक । तीन आगोपाग—(२४) औदारिक (२५) वैक्रियक (२६) आहारक । छह सहनन—(२७) बज्रशृपमनाराच (२८) बज्रनाराच (२९) नाराच (३०) अद्वनाराच (३१) बीलक (३२) स्फाटिक । पाच वर्ण—(३३) काला (३४) नीला (३५) पीला (३६) सफेद (३७) लाल । दो गध—(३८) सुगध (३९) दुर्गध । पाच रस—(४०) तिक्त (तीखा) (४१) आम्ल (खटा) (४२) कडुवा (४३) मीठा (४४) कषायला । आठ स्पर्श—(४५) कोमल (४६) कठोर (कडा) (४७) शीत (४८) उष्ण (४९) हल्का (५०) भारी (५१) स्निग्ध (५२) रुक्ष । (५३) देवगति प्रायोग्यानुपूर्व (५४) अगु रुल्लु (५५) उपघात (५६) परघात (५७) उच्छ्वास (५८) प्रशस्त विद्यायोगति (५९) अप्रशस्तविद्यायोगति (६०) अपयासक (६१) प्रत्येक शरीर (६२) स्थिर (६३) अस्थिर (६४) शुभ (६५) अशुभ (६६) दुभग (६७) सुस्वर (६८) दुस्वर (६९) अनादेय (७०) अयश कीर्ति (७१) निर्माण (७२) नीच गोत्र (७३) साता वेदनीय (७४) मनुष्य गति (७५) मनुष्यायु (७६) पचन्द्रिय जाति (७७) मनुष्यगति प्रायोग्यानुपूर्व (७८) व्रत (७९) वादर (८०) पयासक (८१) सुभग (८२) आदेय (८३) यश कीर्ति (८४) तीर्थकर (८५) उच गोत्र ।

स्पष्ट चैतन्य मूर्ति शोभायमान होते हैं, उन्हें ५० बनारसीदासजी नमस्कार करते हैं ॥ २९ ॥

निश्चय और व्यवहार नयकी अपेक्षा शरीर धोर जिनवरका भेद ।
कवित्त ।

तन चेतन विवहार एकसे,
निहचै भिन्न भिन्न है दोइ ।
तनकी थुति विवहार जीवथुति,
नियतदृष्टि मिथ्या थुति सोइ ॥
जिन सो जीव जीव सो जिनवर,
तन जिन एक न मानै कोइ ।
ता कारन तनकी संस्तुतिसौं,
जिनवरकी सस्तुति नाहि होइ ॥ ३० ॥

शब्दार्थ—सस्तुति=स्तुति ।

अर्थ—व्यवहार नयमे शरीर और आत्माकी ऐक्यता है, परन्तु निश्चय नयमे दोनों जुड़े जुड़े हैं । व्यवहार नयमे शरीरकी स्तुति जीवकी स्तुति गिनी जाती है परन्तु निश्चय नयकी दृष्टिसे वह स्तुति मिथ्या है । निश्चय नयमे जो जिनराज है वही जीव

एकत्व व्यवहारतो न तु पुनः कायात्मनोर्निश्चया

न्तु स्तोत्र व्यवहारतोऽस्ति चपुत्र स्तुत्या न तत्तत्त्वतः ।

स्तोत्र निश्चयतश्चितो भवति चित्तुत्येव सैव भवे

प्रातस्तीर्थकरस्तवोत्तरखलादेकत्वमात्माद्भयो ॥ २७ ॥

हैं और जो जीव है वही जिनरान है, यह नय शरीर और आत्माको एक नहीं मानता इस कारण निश्चय नयसे शरीरकी स्तुति जिनरानकी स्तुति नहीं हो सकती ॥ ३० ॥

यस्तु स्वरूपकी प्राप्तिमें गुप्त लक्ष्मीना दृष्टान्त । सर्वथा तेईसा ।

ज्यों चिरकाल गडी वसुधामहि,

भूरि महानिधि अतर गूझी ।

फोउ उरारि धरै महि ऊपरि,

जे दृगवत तिन्हें सब सूझी ॥

त्यों यह आत्मकी अनूभूति,

पडी जडभाउ अनादि अरूझी ।

नै जुगतागम माधि कही गुरु,

लच्छन वेदि विचच्छन वूझी ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ—चिरकाल=बहुत समय । वसुधा=पृथ्वी । भूरि=बहुतसी ।

गूझी=छुपी हुई । महि=पृथ्वी । अरूझी=उलझी । विचच्छन (विचक्षण) =चतुर । लच्छन वेदि=लक्षणोंके ज्ञाता । वूझी=समझी ।

अर्थ—जिस प्रकार बहुत समयसे पृथ्वीके अंदर गढे हुए बहुतसे धनको उखाडकर कोई नाहिर रख देवे तो नेत्रवानोंको वह मय दिखने लगता है उसी प्रकार जनादि कालसे अनान-

इति परिचिततत्त्वात्मकायैकताया

नयप्रिभजनयुक्त्यात्यंतमुच्छादितायाम् ।

अवतरति न बोधा बोधमेवाद्य फस्य

स्वरसरमसरुष्ट प्रस्फुटश्रेक एव ॥ २८ ॥

भावमे दत्री हुई आत्मज्ञानकी सम्पदाको श्रीगुरुने नय, मुक्ति और आगमसे सिद्ध कर ममज्ञाया है, उसे विद्वान लोग लक्षणसे पहिचान कर ग्रहण करते हैं ।

विशेष—इस छन्दमें 'दृगजत' पद दिया है, सो जिस प्रकार बाहिर निकाला हुआ धन भी नेत्रपालोंको ही दिखता है—अधोको नहीं दिखता, उसी प्रकार श्रीगुरु द्वारा बताया हुआ तत्त्वज्ञान अतरदृष्टि भव्योंको प्राप्त होता है, दीर्घ ससारी और अभव्योंकी बुद्धिमे नहीं आता ॥ ३१ ॥

भेदविद्वानभी प्राप्तिमें धोवीके वस्त्रका दृष्टान्त । सचेया इकतीसा ।

जैसे कोऊ जन गयो धोवीके सदन तिन,
 पहिरचौ परायौ वस्त्र भेरौ मानि रह्यौ है ।
 धनी देखि कह्यौ भैया यह तौ हमारौ वस्त्र,
 चीन्है पहिचानत ही त्याग भाव लह्यौ है ।
 तैसेही अनादि पुदगलसौ सजोगी जीव,
 संगके ममत्वसौ विभाव तामे वह्यौ है ।
 भेदज्ञान भयौ जब आपौ पर जान्यौ तव,
 न्यारौ परभावसौ स्वभाव निज गह्यौ है ॥३॥

अप्रतरति न यावद्बुद्धिमत्यन्तवेगा-

दनमपरभावत्यागदृष्टान्तदृष्टि ।

अदिति सकलभाधेरन्यदीयैर्विमुक्ता

स्वयमियमनुभूतिस्तावदाविर्वभूव ॥ २९ ॥

शब्दार्थ—सदन=पर। धनी=मालिक। विभाज=पर वस्तुके संयोगसे जो विकार हो।

अर्थ—जैसे कोई मनुष्य धोरीके घर जावे और दूसरेका कपड़ा पहिनकर अपना मानने लगे, परन्तु उस वस्त्रका मालिक देखकर कहै कि यह तो मेरा कपड़ा है, तो वह मनुष्य अपने वस्त्रका चिह्न देखकर त्याग बुद्धि करता है, उसी प्रकार यह कर्मसयोगी जीव परिग्रहके ममत्वसे विभाजमे रहता है, अर्थात् शरीर आदिको अपना मानता है परन्तु भेदविज्ञान होनेपर जब निजपरका विवेक हो जाता है तो रागादि भावोंसे भिन्न अपने निज स्वभावको ग्रहण करता है ॥ ३२ ॥

निजात्माका सत्य स्वरूप। बडिल्ल छन्द।

कहै विचच्छन पुरुष सदा मैं एक हौ।

अपने रससौ भन्यौ आपनी टेक हौ ॥

मोहकर्म मम नाहि नाहि भ्रमकूप है।

सुद्ध चेतना सिधु हमारौ रूप है ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ—टेक=सहारा। सिधु=समुद्र।

अर्थ—ज्ञानी पुरुष ऐसा विचार करता है कि मैं सदैव अकेला हूँ, अपने ज्ञान दर्शन रमसे भरपूर अपने ही जाश्रय हूँ। भ्रमजालका कूप मोहकर्म, मेरा स्वरूप नहीं है! नहीं है!! मेरा स्वरूप तो शुद्ध चैतन्य सिधु है ॥ ३३ ॥

१ यहाँ दो बार 'नहीं है' कहकर विषयका समर्थन किया है।

सर्वत स्वयसनिर्भरभाज चेतये स्वयमह स्वमिहैक।

नास्ति नास्ति मम कश्चन मोह शुद्धचिद्घनमहोनिधिरस्मि ॥ ३० ॥

तत्त्वज्ञान होनेपर जीवकी अवस्थारूपा घर्षण । सर्वथा इफतीला ।

तत्त्वकी प्रतीतिसौ लख्यौ है निजपरगुण,

दृग ज्ञान चरन त्रिविधि परिनयौ है ।

विसद विवेक आयौ आछौ विसराम पायौ,

आपुहीमें आपनौ सहारौ सोधि लयौ है॥

कहत बनारसी गहत पुरुपारथकों,

सहज सुभावसों विभाव मिटि गयो है ।

पन्नाके पकाये जैसे कंचन विमल होत,

तैसे सुद्ध चेतन प्रकास रूप भयो हे ॥३४॥

शब्दार्थ—प्रतीति=श्रद्धान । विशद=निर्मल । विमराम (विश्राम)
=चैन । सोधि=खोज करके । पन्नाके पकाये जैसे कंचन विमल होत=
अशुद्ध सोनेके छोटे छोटे टुकड़े करके कागजके समान पतला पीटते हैं
उन्हें पन्ना कहते हैं । उन पन्नोंको नमक तेल आदिकी रसायनसे अग्निमें
पकाते हैं तो सोना अत्यंत शुद्ध हो जाता है, इस रीतिसे शोधा हुआ
सोना नेशनल पाटल आदिसे बहुत उच्चतम होता है ।

अर्थ—तत्त्वज्ञान होनेसे निज पर गुणकी पहिचान हुई
जिससे अपने निज गुण सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र्यमें परिणमन

इति सति सह सर्वैरन्यभावेर्विद्येके

स्वयमयमुपयोगो विभ्रदात्मानमेक ।

प्रकटितपरमार्थैर्दर्शनज्ञानवृत्तै

कृतपरिणतिरात्माराम पच प्रवृत्तः ॥ ३१ ॥

किया है, निर्मल भेदविज्ञान होनेसे उत्तम विश्राम मिला और अपने स्वरूपमें ही अपना सहायक रोज लिया । प० बनारसी-दामनी कहते हैं कि इस प्रयत्नसे स्वयं ही विभाव परिणामन नष्ट हो गया और शुद्ध आत्मा ऐसा प्रकाशमान हुआ जैसे रसायनमें स्वर्णके पत्र पकानेसे वह उज्ज्वल हो जाता है ॥ ३४ ॥

घस्तु स्वभावकी प्राप्तिमें नटीया दृष्टान्त । सर्वथा इक्षतीसा ।

जैसे कोऊ पातुर बनाय वस्त्र आभरन,
 आवति अखारे निसि आडौ पट करिके ।
 दृङ्ओर दीवटि मवारि पट दूरि कीजे,
 सकल सभाके लोग देखे दृष्टि धरिके ॥
 तैसे ग्यान सागर मिथ्याति ग्रथि भेदि करि,
 उमग्यौ प्रगट रह्यौ तिहू लोक भरिके ।
 ऐसौ उपदेस सुनि चाहिए जगत जीव,
 सुद्धता सभारै जग जालसौ निसरिके ॥३५॥

शब्दार्थ—पातुर (पात्र) नटी, नाचनेवाली । अखारे=नाट्यशालामें
 निसि=रात्रि । पट=वस्त्र, परदा । ग्रथि=गाँठ ।

मञ्जु तु निर्मलममी सममेवं स्योरा

आलोकमुच्छलति शास्त्रसे समस्ता ।

आश्राव्य विघ्नमतिरस्करिणी भरेण

प्रोभन्न एव भगवानवधोधसिधु ॥ ३६ ॥

इति रंगभूमिका ॥ १ ॥

अर्थ—जिस प्रकार नदी रात्रिमें बह्नाभूपणोसे सजकर नाद्यशालामें परदेकी ओटमें आ खड़ी होती है तो किसीको दिखाई नहीं देती, परन्तु जब दोनो ओरके शमादान ठीक करके पर्दा हटाया जाता है तो सभाकी सब मंडलीको साफ दिखाई देती है, उसी प्रकार ज्ञानका समुद्र आत्मा जो मिथ्यात्वके परदेमें ढँक रहा था सो प्रगट हुआ जो त्रैलोक्यका ज्ञायक होवेगा। श्रीगुरु कहते हैं कि हे जगत्प्राप्ति जीवो ! ऐसा उपदेश सुनकर तुम्हें जगज्जालसे निकलकर अपनी शुद्धता सम्हालना चाहिये ॥ ३५ ॥

प्रथम अधिकारका सार ।

आत्म पदार्थ शुद्ध, युद्ध, निर्विकल्प, देहातीत, चिचमत्कार, विज्ञानघन, आनन्दकंद, परमदेव, सिद्ध सदृश है। जैसा वह अनादि है वैसा अनंत भी है अर्थात् न उत्पन्न हुआ है और न कभी नष्ट भी होगा। यद्यपि वह अपने स्वरूपसे स्वच्छ है परन्तु संसारी दशामें जगसे वह है तमीसे अर्थात् अनादिकालसे शरीरसे सज्ज है और कर्मकालिमासे मलिन है। जिस प्रकार कि सोना धाऊकी दशामें कर्दम सहित रहता है परन्तु भट्टीमें पकानेसे शुद्ध सोना अलग हो जाता है और किट्टिमा पृथक् हो जाती है उसी प्रकार सम्यक् तप मुख्यतया शुद्धध्यानकी अभिके द्वारा जीवात्मा शुद्ध हो जाता है और कर्म कालिमा पृथक् हो जाती है। जिस प्रकार जौहरी लोग कर्दम मिले हुए सोनेको परखकर सोनेके दाम देते लेते हैं उसी प्रकार ज्ञानी लोग अनित्य और मलभरे

शरीरमें पूर्णज्ञान और पूर्ण आनंदमय परमात्माका अनुभव करते हैं ।

जब कपड़ेपर मैल जम जाता है तब मलिन कहा जाता है, लोग उससे ग्लानि करते हैं और निरुपयोगी बतलाते हैं, परंतु विवेक दृष्टिसे विचारा जावे तो कपड़ा अपने स्वरूपसे स्वच्छ है साबुन पानीका निमित्त चाहिये । उम ! मैल सहित वस्त्रके समान कर्म सहित आत्माको मलिन कहना व्यवहार नयका विषय है, और मैलसे निराले स्वच्छ वस्त्रके समान आत्माको कर्मकालिमासे जुदा ही गिनना निश्चय नयका विषय है । अभिप्राय यह है कि, जीवपर वास्तवमें कर्मकालिमा लगती नहीं है कपड़ेके मैलके समान वह शरीर जादिसे बंधा हुआ है, भेदविचाररूप साबुन और समता रसरूप जल द्वारा वह स्वच्छ हो सकता है । तात्पर्य यह कि जीवको देहसे भिन्न शुद्ध शुद्ध जाननेवाला निश्चय नय है और शरीरसे तन्मय, राग द्वेष मोहसे मलिन कर्मके आधीन करनेवाला व्यवहार नय है । सो प्रथम अवस्थामें इस नयज्ञानके द्वारा जीवकी शुद्ध और अशुद्ध परणतिको समझकर अपने शुद्ध स्वरूपमें लीन होना चाहिये इसीका नाम अनुभव है । अनुभव प्राप्त होनेके अनंतर फिर नयोंका विकल्प भी नहीं रहता इसलिये कहना होगा कि नय प्रथम अवस्थामें साधक हैं और आत्माका स्वरूप समझे पीछे नयोंका काम नहीं है ।

गुणोंके समूहको द्रव्य कहते हैं, जीवके गुण चैतन्य, ज्ञान, दर्शन आदि हैं । द्रव्यकी हालतको पर्याय कहते हैं, जीवकी पर्यायें नर, नारक, देव, पशु आदि हैं । गुण और पर्यायोंके बिना द्रव्य

नहीं होता और गुण पर्याय विना द्रव्यके नहीं होते, इसलिये द्रव्य और गुण पर्यायोंमें अव्यतिरिक्त भाग है । जब पर्यायको गौण और द्रव्यको मुख्य करके कथन किया जाता है तब नय द्रव्यार्थिक कहलाता है और जब पर्यायको मुख्य तथा द्रव्यको गौण करके कथन किया जाता है तब नय पर्यायार्थिक कहलाता है । द्रव्य सामान्य होता है और पर्याय विशेष होता है, इसलिये द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयके विषयमें सामान्य विशेषका अंतर रहता है । जीवका स्वरूप निश्चय नयसे ऐसा है, व्यवहार नयसे ऐसा है, द्रव्यार्थिक नयसे ऐसा है, पर्यायार्थिक नयसे ऐसा है, जयना नयोंके भेद शुद्ध निश्चयनय, अशुद्ध निश्चयनय, सद्भूत व्यवहारनय, असद्भूत व्यवहारनय, उपचरित व्यवहारनय इत्यादि विकल्प चित्तमें अनेक तरंगें उत्पन्न करते हैं, इससे चित्तको विश्राम नहीं मिल सकता इस लिये कहना होगा कि नयके कल्लोल अनुभवमें बाधक हैं परन्तु पदार्थका यथार्थ स्वरूप जानने और स्वभाव विभाजके परखनेमें महायुक्त अग्र्य हैं । इसलिये नय, निक्षेप और प्रमाणसे अथवा जैसे वने जैसे आत्म-स्वरूपकी पहिचान करके सदैव उमके विचार तथा चिंतनमें लगे रहना चाहिये ।

अजीवद्वार ।

(२)

अजीव अधिकार वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा । दोहा ।

जीव तत्त्व अधिकार यह, कह्यौ प्रगट समुझाय ।
अव अधिकार अजीवकौ, सुनहु चतुर चित लाय ॥१

शब्दार्थ—चतुर=विद्वान् । चित=मन । लाय=लगाकर ।

अर्थ—यह पहिला अधिकार जीवतत्त्वका ममज्ञाकर कहा,
अव अजीवतत्त्वका अधिकार कहते है, हे विद्वानों ! उसे मन
लगाकर सुनो ॥ १ ॥

मंगलाचरण-भेदविज्ञानद्वारा प्राप्त पूर्णज्ञानकी धृष्टता ।

सर्वथा इक्षतीसा ।

परम प्रतीति उपजाय गनधरकीसी,

अतर अनादिकी विभावता विदारी है ।

भेदग्यान दृष्टिसौ विवेककी सकति साधि,

चेतन अचेतनकी दसा निरवारी है ॥

करमकौ नासकरि अनुभौ अभ्यास धरि,

हिएमें हरखि निज उद्धता सँभारी है ।

जीवाजीवविवेकपुष्कलदृशा प्रत्याप्ययत्पार्षदा

नाससारनिबद्धव धनविधिध्वसाद्विशुद्ध स्फुटत् ।

आत्माराममनन्तधाममसहस्राध्यक्षेण नित्योदित

धीरोदात्तमनाकुल विलसति ज्ञान मनोहादयत् ॥ १ ॥

अंतराय नास भयौ शुद्ध परकास थयौ,
ग्यानकौ विलास ताकौं वदना हमारी है ॥२॥

शब्दार्थ—प्रतीति=श्रद्धान । विभावता=से यहाँ मिथ्यादर्शनका प्रयोजन है । पिदारी=नष्ट की । निरवारी=दूर की । हिण्में=हृदयमें । हरखि=आनंदित होकर । उद्धता=उत्कृष्टता । विलास=आनंद ।

अर्थ—गणधर स्वामी जैसा दृढ़ श्रद्धान उत्पन्न करके, अनादि कालसे लगे हुए अन्तरगका मिथ्यात्व नष्ट किया और भेदज्ञानकी दृष्टिसे ज्ञानकी शक्ति सिद्ध करके जीव अजीवका निर्णय किया, पश्चात् अनुभवका अभ्यास करके कर्मोंको नष्ट किया तथा हृदयमें हृषित होकर अपनी उत्कृष्टताको सम्हाला, जिससे अंतराय कर्म नष्ट हुआ और शुद्ध आत्माका प्रकाश अर्थात् पूर्णज्ञानका आनंद प्रगट हुआ । उसको मेरा नमस्कार है ॥ २ ॥

श्रीगुरुकी पारमार्थिक शिक्षा । सवैया इकतीसा ।

भैया जगवासी तू उदासी न्हैकै जगतसौ,
एक छ महीना उपदेस मेरौ मानु रे ।

१ आत्मानुशासनमें आज्ञा आदि दस प्रकारके सम्यक्त्वोंमेंसे गणधर स्वामाके अवगाढ सम्यक्त्व कहा है ।

विरम किमपरेणाकार्यकोलाहलेन

स्वयमपि निभृत सन् पश्य पण्मासमेक ।

हृदयसरसि पुस पुत्रलाङ्घिभ्राम्नो

ननु किमनुपलब्धिर्भाति किं चीपलब्धि ॥ २ ॥

और सकलप विकलपके विकार तजि,
 बैठके एकत मन एक ठौर आनु रे ॥
 तेरौ घट सर तामै तूही है कमल ताको,
 तूही मधुकर व्है सुवास पहिचानु रे ।
 प्रापति न व्हैहै कछु ऐसौ तू विचारतु है,
 सही व्है है प्रापति सरूप योही जानु रे ॥३॥

शब्दार्थ—जगवासी=संसारी । उदासी=विरक्त । उपदेश=सिखा-
 पन । सकलप विकलप (सकल्प विकल्प)=राग द्वेष । विकार=विभाव
 परिणति । तजि=छोड़के । एकत (एकात)=अकेलेमें, जहां कोई आदृष्ट
 उपद्रव आदि न हो । ठौर=स्थान । घट=हृदय । सर=तालाब । मधुकर=
 भौरा । सुवास=अपनी सुगंधि । प्रापति (प्राप्ति)=मिलना । सही=
 सचमुच । योही=ऐसा ही ।

अर्थ—हे भाई संसारी जीव ! तू संसारसे विरक्त होकर एक
 छह महिनेके लिये मेरा सिखापन मान, और एकान्त स्थानमें
 बैठकर रागद्वेषकी तरङ्ग छोड़के चित्तको एकाग्र कर, तेरे हृदय-
 रूप सरोवरमें तू ही कमल बन और तू ही भारा बनकर अपने
 स्वभावकी सुगंध ले । जो तू यह मोचे कि इससे कुछ नहीं मिलेगा,

१ यहाँ पाठमें जो छह महिना कहा है सो सामान्य कथन है । सम्यक्-
 दशनकी प्राप्तिवा जघन्य काल अंतर मुहूर्त और उत्कृष्ट अनंत काल है, शिष्यकी
 मार्गमें लगानेकी दृष्टिसे जघन्य और उत्कृष्ट काल न घटाकर छह महिनेके लिये
 प्रेरणा की है । छह महिनेमें सम्यग्दान उपजे ही उपजे ऐसा नियम नहीं है ।

सो नियमसे स्वरूपकी प्राप्ति होगी, आत्मसिद्धिका यही उपाय है ।

विशेष—यह पिंडस्थ ध्यान है । अपने चित्तरूप सरोवरमे सहस्र दलका कमल कल्पित करके प्राणायाम किया जाता है जिससे ध्यान स्थिर होता और ज्ञानगुण प्रगट होता है ॥ ३ ॥

जीव और पुद्गलका लक्षण । दोहा ।

चेतनवंत अनंत गुण, सहित सु आत्मराम ।

याते अनमिल और सब, पुद्गलके परिणाम ॥४॥

शब्दार्थ—आत्मराम=निजस्वरूपमें रमण करनेवाला आत्मा ।

याते=इससे । अनमिल=भिन्न ।

अर्थ—जीव द्रव्य, चैतन्य मूर्ति और अनंत गुण सम्पन्न है, इससे भिन्न और सब पुद्गलकी परिणति है ।

भावार्थ—चैतन्य, ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि आत्माके अनंत गुण हैं और आत्मगुणोंके सिवाय स्पर्श, रस, गंध, वर्ण वा शब्द, प्रकाश, धूप, चादनी, छाया, अधकार, शरीर, भाषा, मन, श्वासोच्छ्वास तथा काम, क्रोध, लोभ, माया आदि जो कुछ इन्द्रिय और मन गोचर है वे सब पौद्गलिक हैं ॥ ४ ॥

१ पिंडस्थ ध्यान संस्थान विषय ध्यानका भेद है, पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत इस तरह चार प्रकारका संस्थान विषय ध्यान होता है ।

चिच्छक्तिव्याप्तसर्वस्वसारो जीव ध्यानय ।

अतोऽतिरिक्ता सर्वेऽपि भावा पौद्गलिका भवन्ति ॥ ३ ॥

आत्मज्ञानका परिणाम । कवित्त ।

जव चेतन सँभारि निज पौरुष,
 निररुँ निज दृगसौ निज मर्म ।
 तव सुररूप विमल अविनासिक,
 जानै जगत सिरोमनि धर्म ॥
 अनुभौ करै मुछ चेतनकौ,
 रमै स्वभाव वमै सब कर्म ।
 इहि विधि सधै मुकतिकौ मारग,
 अरु ममीप आवै सिव मर्म ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—पौरुष=पुरुषार्थ । निरखे=देखे । दृग=नेत्र । मर्म=असल्लि-
 यत । अविनासी=नित्य । जगत सिरोमनि=संसारमें सबसे उत्तम । धर्म=
 स्वभाव । रमै=लीन होने । वमै=कै करना (छोड़ना) । इहि विधि=इस
 प्रकार । मुकति । (मुक्ति)=मोक्ष । ममीप=पास । सिव (शिव)=मोक्ष ।
 शर्म=आनंद ।

अर्थ—जब आत्मा अपनी शक्तियों मन्हालता है और ज्ञान-
 नेत्रोंसे अपने असली स्वभावको परखता है तब वह आत्माका

सकलमपि विहायाहाय चिच्छक्तिरिक्तम्
 स्फुटतरमवगाह्य स्व च चिच्छक्तिमात्र ।
 इममुपरि चरत चाक विद्वस्य साक्षात्
 कस्यतु परमात्मात्मानमात्मन्यन्त ॥ ४ ॥

स्वभाव आनंदरूप, निर्मल, नित्य और लोफका शिरोमणि जानता है, तथा शुद्ध चैतन्यका अनुभव करके अपने स्वभावमें लीन होकर संपूर्ण कर्मदलको दूर करता है । इस प्रयत्नसे मोक्षमार्ग सिद्ध होता है और निराकुलताका आनंद निरुद्ध आता है ॥५॥

जड़ चेतनकी भिन्नता । दोहा ।

वरनादिक रागादि यह, रूप हमारौ नांहि ।
एक ब्रह्म नहि दूसरौ, दीसै अनुभव मांहि ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—ब्रह्म=शुद्ध आत्मा । दीसै=दिखता है ।

अर्थ—शरीर सम्बन्धी रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि वा राग, द्वेष आदि विभाव सब अचेतन हैं, ये हमारे स्वरूप नहीं हैं; आत्म अनुभवमें एक ब्रह्मके सिवाय अन्य कुछ नहीं भासता ॥६॥

देह और जीवकी भिन्नतापर दृष्टान्त । दोहा ।

खांडो कहिये कनककौ, कनक-म्यान-संयोग ।
न्यारौ निरखत म्यानसौ, लोह कहै सब लोग ॥७॥

शब्दार्थ—खांडो=तलवार । कनक=तौना । न्यारौ=अलग । निर-
खत=दिरता है ।

पर्णाद्या वा रागमोहादयो वा भिन्ना भावा सर्वे एवास्य पुस्तः ।
तेनैवान्तस्तत्त्वतः पश्यतोऽमी नो दृष्टा स्युर्दृष्टमेक पर स्यात् ॥५॥
निर्गल्येते येन यदत्र किञ्चित्तदेव तत्स्यान्न कथं च नान्यत् ।
एकमेण निर्वृत्तमिहासिकोशं पश्यन्ति रुक्म्यं न कञ्चननाम्नि ॥ ६ ॥

अर्थ—सोनेके म्यानमे रक्सी हुई लोहेकी तलवार सोनेकी कही जाती है, परंतु जब वह लोहेकी तलवार सोनेके म्यानसे अलग की जाती है तब लोग उसे लोहेकी ही कहते हैं ।

भावार्थ—शरीर और आत्मा एकक्षेत्रावगाह स्थित हैं । सो ससारी जीव भेदविज्ञानके अभावे शरीरहीको आत्मा समझ जाते हैं । परन्तु जब भेदविज्ञानमे उनकी पहिचान की जाती है तब चित्चमत्कार आत्मा जुदा भावने लगता है और शरीरमे आत्मबुद्धि हट जाती है ॥ ७ ॥

जीव धोर पुद्गलकी भिन्नता । दोहा ।

वरनादिक पुद्गल दसा, धरे जीव बहु रूप ।

वस्तु विचारत करमसो, भिन्न एक चिद्रूप ॥८॥

शब्दार्थ—दशा=अवस्था । बहु=बहुतसे । भिन्न=अलग । चिद्रूप (चित्=रूप)=चैतन्य रूप ।

अर्थ—रूप रस आदि पुद्गलके गुण हैं, इनके निमित्तसे जीव अनेक रूप धारण करता है । परन्तु यदि वस्तु स्वरूपका विचार किया जावे तो वह कर्मसे विलकुल भिन्न एक चैतन्य मूर्ति है ।

भावार्थ—अनंत ससार ससरण करता हुआ जीव, नर नारक आदि जो अनेक पर्याय प्राप्त करता है वे सब पुद्गलमय

पर्णादिसामग्र्यमिदं विदन्तु निर्माणमेकस्य हि पुद्गलस्य ।

ततस्त्विदं पुद्गल एव नात्मा यत स विज्ञानघनस्ततोऽन्य ॥ ७ ॥

हैं और कर्मजनित हैं, यदि वस्तु स्वभाव विचारा जावे तो वे जीवकी नहीं हैं, जीव तो शुद्ध, बुद्ध, निर्विकार, देहातीत और चैतन्य मूर्ति है ॥ ८ ॥

देह और जीवकी भिन्नतापर दूसरा दृष्टान्त । दोहा ।

ज्यों घट कहिये घीवकौ, घटकौ रूप न घीव ।

त्यों वरनादिक नामसौ, जड़ता लहे न जीव ॥ ९ ॥

शब्दार्थ—ज्यों=जैसे । घट=घड़ा । जड़ता=अचेतनता ।

अर्थ—जिस प्रकार घीके सयोगसे मिट्टीके घड़ेको घीका घड़ा कहते हैं परन्तु घड़ा घीरूप नहीं हो जाता, उसी प्रकार शरीरके सम्बन्धसे जीव, छोटा, बड़ा, काला, गोरा आदि अनेक नाम पाता है परन्तु वह शरीरके समान अचेतन नहीं हो जाता ।

भावार्थ—शरीर अचेतन है और जीवका उसके साथ अनंत कालसे संग्रह है तो भी जीव शरीरके संबन्धसे कभी अचेतन नहीं होता, सदा चेतन ही रहता है ॥ ९ ॥

आत्माका प्रत्यक्ष स्वरूप । दोहा ।

निराबाध चेतन अलख, जानै सहज स्वकीव ।

अचल अनादि अनंत नित, प्रगट जगतमें जीव ॥

शब्दार्थ—निराबाध=माता असाताकी बाधा रहित । चेतन=ज्ञान-

घृतकुम्भाभिधानेऽपि कुम्भो घृतमयो न चेत् ।

जीवो घर्णादिमज्जीवजल्पनेऽपि न तन्मयः ॥ ८ ॥

अनाद्यनन्तमचल स्वसत्त्वमिदं स्फुटम् ।

जीव

॥ ९ ॥

दर्शन । अलख=चर्मचक्षुओंसे दिखाई नहीं देता । सहज=स्वभावात् ।
स्वकीय (स्वकीय)=अपना । प्रगट=स्पष्ट ।

अर्थ—जीव पदार्थ निराग्राह, चैतन्य, अरूपी, स्वाभाविक,
ज्ञाता, अचल, अनादि, अनत और नित्य है सो समारम्भे प्रत्यक्ष
प्रमाण है ।

भावार्थ—जीव साता असाताकी बाधासे रहित है इससे
निराग्राह है, सदा चेतता रहता है इससे चेतन है, इन्द्रिय-
गोचर नहीं इससे अलख है, अपने स्वभावात् आप ही जानता
है इससे स्वकीय है, अपने ज्ञान स्वभावात् नहीं चिगता इससे
अचल है, आदि रहित है इससे अनादि है, अनत गुण सहित
है इससे अनत है, कभी नाश नहीं होता इससे नित्य है ॥१०॥

अनुभव विधान । सर्वथा इक्तीता ।

रूप-रसवत् मूरतीक एक पुदगल,
रूप विनु औरु यौ अजीव दर्व दुधा है ।
चारि हे अमूरतीक जीव भी अमूरतीक,
याहीतें अमूरतीक-वस्तु-ध्यान मुधा है ॥
औरसौ न कवहू प्रगट आप आपुहीसौ,
ऐसौ थिर चेतन सुभाउ सुद्ध सुधा है ।

पणाचोः सहितस्तथा विरहितो द्वेषास्त्यजीवो यतो
नामूर्त्तत्वमपास्य पश्यति जगज्जीवस्य तरय तन ।
इत्यालोच्य विवचकैः समुचित नाव्याप्यतिध्यापि या
ध्यक्त व्यञ्जितजीवतत्त्वमचल चैतन्यमालम्ब्यता ॥ १० ॥

चेतनको अनुभो अराधें जग तेई जीव,
जिन्हको अखंड रस चाखिवेकी छुधा है ॥

शब्दार्थ— दुधा=दो प्रकारका । मुधा=तृधा । धिर (स्थिर)=अचल । सुधा=अमृत । अखंड=पूर्ण । छुधा (क्षुधा)=भूख ।

अर्थ—पुद्गलद्रव्य वर्ण रस आदि सहित मूर्तीक है, शेष धर्म, अधर्म आदि चार अजीवद्रव्य अमूर्तीक हैं इस प्रकार अजीवद्रव्य मूर्तीक और अमूर्तीक दो भेद रूप है, जीव भी अमूर्तीक है इसलिये अमूर्तीक वस्तुका ध्यान करना व्यर्थ है । आत्मा स्वयं सिद्ध, स्थिर, चैतन्यस्वभावी, ज्ञानामृत स्वरूप है, इस ससारमें जिन्ह परिपूर्ण अमृतरसका स्वाद लेनेकी अभिलाषा है वे ऐसे ही आत्माका अनुभव करते हैं ।

भावार्थ—लोकमें छह द्रव्य हैं, उनमें एक जीव और पांच अजीव हैं, अजीव द्रव्य मूर्तीक और अमूर्तीकके भेदसे दो प्रकारके हैं, पुद्गल मूर्तीक है और धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये चार अमूर्तीक हैं । जीव भी अमूर्तीक है जब कि जीवके सिवाय अन्य भी अमूर्तीक हैं तो अमूर्तीकका ध्यान करनेसे जीवका ध्यान नहीं हो सकता, अतः अमूर्तीकका ध्यान करना अज्ञानता है, जिन्हें स्वात्म रस आस्वादन करनेकी अभिलाषा है उन्हें मात्र अमूर्तीकताका ध्यान न करके शुद्ध चैतन्य, नित्य, स्थिर और ज्ञानस्वभावी आत्माका ध्यान करना चाहिये ॥ ११ ॥

अर्थ—इस हृदयमें अनादि कायसे मिथ्यात्वरूप मह अनानकी विस्तृत नायकशाला है, उममें और कोई शुद्ध स्वरूप नहीं दिखाता केवल एक पुद्गल ही उड़ा भारी नाच कर रहा है वह अनेक रूप पलटता है और रूप आदि विस्तार करके नान कौतुक दिखाता है, परन्तु मोह और जड़से निराला सम्यग्दृष्टि आत्मा उम नाटकका मात्र देखने वाला है (हर्ष विषाद नहीं करता) ॥ १३ ॥

भेद विज्ञानका परिणाम । सर्वथा इक्ष्मीमा ।

जैसें करवत एक काठ बीच खड करे,
जैसें राजहस निरवारै दूध जलको ।
तैसें भेदग्यान निज भेदक-सकृतिसेती,
भिन्न भिन्न करै चिदानन्द पुदगलको ॥
अवधिको धावे मनपर्येकी अवस्था पावे,
उमगिके आवे परमावधिके थलको ।
याही भाति पूरन सरूपको उदोत धरे,
करै प्रतिविवित पदारथ सकलको ॥ १४ ॥

इत्थं ज्ञानप्रवचकलनापाटन नाटयित्वा

जीवाजीवी स्फुटविघटा निज यात्रप्रयात ।

विभ्य वयास प्रसभविषशद्यत्तचिमात्रशक्त्या

शास्त्रद्रव्य स्वयमतिरसात्तापदुर्ध्वानाशे ॥ १३ ॥

इति जीवाजीवाधिकार ॥ २ ॥

शब्दार्थ—करवत=आरा । खड=टुकड़े । निरवारै=पृथक करे ।
सेती=से । उमगिकै=बढ़कर ।

अर्थ—जिस प्रकार आरा काटके दो खण्ड कर देता है, अथवा जिम प्रकार राजहस क्षीर नीरका पृथक्करण कर देता है उसी प्रकार भेदविज्ञान अपनी भेदक-शक्तिसे जीव और पुद्गलको जुदा जुदा करता है । पश्चात् यह भेदविज्ञान उन्नति करते करते अधिज्ञान मनःपर्ययज्ञान और परमानधि ज्ञानकी अवस्थाको प्राप्त होता है और इस रीतिसे वृद्धि करके पूर्ण स्वरूपका प्राप्ति अर्थात् केवलज्ञानस्वरूप हो जाता है जिसमे लोक अलोकके सम्पूर्ण पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं ॥ १४ ॥

दूसरे अधिकारका सार ।

मोक्षमार्गमे मुख्य अभिप्राय केवलज्ञान आदि गुण सम्पन्न आत्माका स्वरूप समझानेका है । परन्तु जिस प्रकार सोनेकी परत समझानेके लिये सोनेके सिमाय पीतल आदिका स्वरूप समझाना अथवा हीराकी परत समझानेके लिये हीराके सिमाय काचकी पहिचान बताना आवश्यक है, उसी प्रकार जीव पदार्थका स्वरूप दृढ करनेके लिये श्रीगुरुने अजीव पदार्थका वर्णन किया है । अजीव तत्त्व जीव तत्त्वसे सर्वथा विभिन्न है अर्थात् जीवका लक्षण चेतन और अजीवका लक्षण अचेतन है । यह अचेतन पदार्थ पुद्गल, नभ, धर्म, अधर्म, कालके नामसे पांच प्रकारका है । उनमेंसे पीछेके चार अरूपी और पहिला पुद्गल रूपी अर्थात् इन्द्रिय गोचर है । पुद्गल द्रव्य स्पर्श रस गंध वर्णघन्त है । यह जीव द्रव्यके चित्तोंसे सर्वथा प्रतिरूप है, जीव

सचेतन है तो पुद्गल अचेतन है, जीव अरूपी है तो पुद्गल रूपी है, जीव अखण्ड है तो पुद्गल सखण्ड है। मुख्यतया जीवको ससार समरण करनेमें यही पुद्गल निमित्त कारण है इन्हीं पुद्गलोंमय शरीरसे वह सनद्ध है, इन्हीं पुद्गलमय कर्मोंसे वह सर्वात्म प्रदेशोंमें जकड़ा हुआ है, इन्हीं पुद्गलोंके निमित्तसे उसकी अनंत शक्तियां ढँक रहीं हैं, इन्हीं पुद्गलोंके निमित्तसे उसमें विभाज उत्पन्न होते हैं अज्ञानके उदयमें वह इन्हीं पुद्गलोंसे राग द्वेष करता है, वा इन्हीं पुद्गलोंमें इष्ट अनिष्ट कल्पना करता है, अगर पुद्गल न होते तो आत्मामें अन्य वस्तुका समर्थ नहीं होता न उसमें विकार वा राग द्वेष होता न ससार ससरण होता, ससारमें जितना नाटक है मन पुद्गल जनित है।

तुम शरीरमें कहीं चिउट्टीसे दबाओ तो तुम्हें बोध होगा कि हमें दबाया है—हमें दुःखका बोध हुआ है। वस, यह जाननेकी शक्ति रखनेवाला जीव है वही तुम हो, चैतन्य हो, नित्य हो, आत्मा ही। आत्माके सिवाय एक और पदार्थ जिसे तुमने चिउट्टीसे दबाया है वह नरममा कुछ मैला कालासा कुछ खारासा कुछ सुगंध दुर्गंधयानसा प्रतीत होता है उसे शरीर कहते हैं। यह शरीर जड है, अचेतन है, नाशवान है, पर पदार्थ है आत्म स्वभावसे भिन्न है। इस शरीरसे अहबुद्धि करना अर्थात् शरीर और शरीरके सबंधी धन, स्त्री, पुत्रादिको अपने मानना मिथ्याज्ञान है। लक्षण भेदके द्वारा निज आत्माको स्व और आत्माके सिवाय सब चेतन अचेतन पदार्थोंको पर जानना ही भेदविज्ञान है, इसीका नाम प्रज्ञा है। जिस प्रकार राजहंस दूध और पानीको पृथक् पृथक् कर देता है उसी प्रकार विवेकके

द्वारा जीव व पुद्गलको पृथक्करण करना पुद्गलोंसे अहंबुद्धि वा राग द्वेष हटाकर निज स्वस्वपमे लीन होना चाहिये और "तेरौ घट सर तौमैं तूंही है कमल ताकौ, तूही मधुकर है स्ववास पहचान रे ।" वाली शिक्षाका हमेशा अभ्यास करना चाहिये ।

कर्त्ता कर्म क्रियाद्वार ।

(३)

प्रतिज्ञा । दोहा ।

यह अजीव अधिकारकौ, प्रगट बखानौ मर्म ।
अब सुनु जीव अजीवके, करता किरिया कर्म ॥१॥

शब्दार्थ—प्रगट=स्पष्ट । बखानौ=वर्णन किया । मर्म=रहस्य ।

अर्थ—यह अजीव अधिकारका रहस्य स्पष्ट वर्णन किया,
अब जीव अजीवके कर्ता क्रिया कर्मको सुनो ॥ १ ॥

भेदनिश्चानमें जीव कर्मका कर्त्ता नहीं है, निज स्वभावका
कर्त्ता है । सबैया इफतीसा ।

प्रथम अग्यानी जीव कहै मैं सदीव एक,
दूसरौ न और मैं ही करता करमकौ ।
अतर-विवेक आयो आपा-पर-भेद पायौ,
भयौ बोध गयौ मिटि भारत भरमकौ ।
भासे छहो दरवके गुन परजाय सब,
नासे दुख लख्यौ मुख पूरन परमकौ ।

एक कर्त्ता चिदहमिह मे कर्म कोपादयोऽमी

इत्यज्ञाना शमयदमित कर्त्तृकर्मप्रवृत्ति ।

ज्ञानज्योति स्फुरति परमोदात्तमत्यन्तधीर

साक्षात्कुर्वन्निदपधि पृथग्द्रव्यनिर्मांसि विश्व ॥ १ ॥

करमकौ करतार मान्यौ पुद्गल पिंड,
आप करतार भयौ आत्म धरमकौ ॥ २ ॥

शब्दार्थ—सदीव=इमेशा । बोध=ज्ञान । भारत=बड़ा । भरम=
भूल । भासे=ज्ञात हुए । परम=यहाँ परमात्माका प्रयोजन है ।

अर्थ—जीव पहले अज्ञानकी दशामे कहता था कि, मैं
सदैव अकेला ही कर्मका कर्त्ता हूँ दूसरा कोई नहीं है, परन्तु जब
अतरगमे विवेक हुआ और स्वपरका भेद समझा तब सयम्यग्ज्ञान
प्रगट हुआ, भारी भूल मिट गई, छहों द्रव्य गुण पर्याय सहित
ज्ञात होने लगे, सब दुख नष्ट हो गये और पूर्ण परमात्माका
स्वरूप दिखने लगा, पुद्गल पिंडको कर्मका कर्त्ता माना आप
स्वभावका कर्त्ता हुआ ।

भावार्थ—सम्यग्ज्ञान होनेपर जीव अपनेको स्वभावका
कर्त्ता और कर्मका अकर्त्ता जानने लगता है ॥ २ ॥ पुनः

जाही समै जीव देह बुद्धिकौ विकार तजै,
वेदत सरूप निज भेदत भरमकौ ।
महा परचंड मति मंडन अखंड रस,
अनुभौ अभ्यासि परगासत परमकौ ॥

परपरिणतिमुज्झत् सड्यन्नेदवादा-

निःसुदितमसण्ड ज्ञानमुच्चण्डमुधै ।

ननु कथमपकाश कर्तृकर्मप्रवृत्ते

रिह भवति कथं वा पौद्गल कर्मग्रन्थ ॥ २ ॥

भेद विज्ञानी जीव लोगोंको कर्मका फर्का दिखता है पर
वह वास्तवमें अकर्ता है। सबैया इकतीसा।

जैसो जो दरब ताके तैसो गुन परजाय,
ताहीमो मिलत पै मिले न काहु आनसो ।
जीव वस्तु चेतन करम जड जातिभेद,
अमिल मिलाप ज्यो नितव जुरे कानसो ॥
ऐसो सुधिवेक जाके हिरदै प्रगट भयो,
ताको भ्रम गयो ज्यो तिमिर भागै भानसो ।
सोई जीव करमको करता मो दीमै पै,
अकरता कह्यो हे सुछताके परमानसो ॥५॥

शब्दार्थ—आनसो (अयसे)=दूसरोसे। अमिलाप=भिन्ना।
नितव=मोती। सुधिवेक=सम्पन्नान। भान (भानु)=सूर्य।

अर्थ—जो द्रव्य जैसा है उमके वैसे ही गुण पर्याय होते हैं
और वे उसीसे मिलने हैं अथ किसीसे नहीं मिलते। चतन्य
जीव और जड कर्मम जाति भेद है सो इनका नितम्ब और
कानके समान अमिलाप है, एसा सम्पन्नान जिसके हृदयमें
जाग्रत होता है उमका मिथ्यात्व, सूर्यके उदयमें अधकारके

व्याप्ययापकता तदात्मनि भवेत्तैवातदात्मन्यपि
व्याप्ययापकभावसम्भवमृते वा कृतकर्मस्थिति ।
इत्युद्दामत्रिवेकघस्मरमहो भारेण भिन्दस्तमो
क्षानीभूय तदा स एष छसित कृतृत्वशून्य पुमान् ॥ ४ ॥

समान दूर हो जाता है । वह लोगोंको कर्मका कर्त्ता दिखता है परन्तु राग द्वेष आदि रहित शुद्ध होनेसे उसे आगममे अकर्त्ता कहा है ॥ ५ ॥

जीव और पुद्गलके जुदे जुदे स्वभाव । छप्पय छन्द ।

जीव ग्यानगुन सहित, आपगुन-परगुन-ज्ञायक ।

आपा परगुन लखै, नांहि पुग्गल इहि लायक ॥

जीवदरव चिद्रूप सहज, पुदगल अचेत जड़ ।

जीव अमूरति मूरतीक, पुदगल अतर वड़ ॥

जब लग न होइ अनुभौ प्रगट,

तब लग मिथ्यामति लसै ।

करतार जीव जड़ करमकौ,

सुबुधि विकास यहु भ्रम नसै ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—ज्ञायक=जानने वाला । इहि लायक=इस योग्य । अचेत=ज्ञान हीन । वड़=बहुत । मिथ्यामति=अज्ञान । लसै=रहै । भ्रम=भूल ।

अर्थ—जीवमे ज्ञान गुण है, वह अपने और अन्य द्रव्योंके गुणोंका ज्ञाता है । पुद्गल इस योग्य नहीं है ओर न उसमे अपने

ज्ञानी जानन्नपीमा स्वपरपरिणति पुद्गलध्याप्यजानन्

व्याप्तृव्याप्यत्वमन्तः कलयितुमसहौ नित्यमत्यन्तभेदात् ।

अज्ञानात्कर्तृकर्मममतिरनयोर्भाति तावन्न याव

द्विज्ञानार्च्चिधकास्ति क्रकचवदय भेदमुत्पाद्य सद्य ॥ ५ ॥

अर्थ—एक कर्मकी एक ही क्रिया व एक ही कर्ता होता है दो नहीं होते, सो जीव पुद्गलकी जन जुदी जुदी सत्ता है तब एक स्वभाष कैसे हो सकता है ?

भावार्थ—अचेतन कर्मका कर्ता वा क्रिया अचेतन ही होना चाहिये । चैतन्य जात्मा जड कर्मका कर्ता नहीं हो सकता ॥९॥

कर्ता कर्म और क्रियापर विचार । सबैया इक्षतीसा ।

एक परिणामके न करता द्रव्य दोइ,
 दोइ परिणाम एक द्रव्य न धरतु है ।
 एक करतृति दोइ द्रव्य कबहुँ न करै,
 दोइ करतृति एक द्रव्य न करतु है ॥
 जीव पुद्गल एक सेत-अवगाही दोउ,
 अपने अपने रूप कोउ न टरतु है ।
 जड परनामनिको करता है पुद्गल,
 चिदानंद चेतन सुभाउ आचरतु है ॥ १० ॥

शब्दार्थ—करतृति=क्रिया । एक खेन-अवगाही (एक क्षेत्रानगाही)=एक हा स्थानमें रहनेवाले । ना टरतु है=नहीं हटता है । आचरतु है=चर्तता है ।

अर्थ—एक परिणामके कर्ता दो द्रव्य नहीं होते, दो परिणामोंको एक द्रव्य नहीं करता, एक क्रियाको दो द्रव्य कभी नहीं

नैकस्य हि क्तारौ द्वौ स्तो द्वे कर्मणि न चकस्य ।
 नैकस्य च त्रिये द्वे एकमनेक यतो न स्यात् ॥ ९ ॥

करते, दो क्रियाओंको भी एक द्रव्य नहीं करता । जीव और पुद्गल यद्यपि एक क्षेत्राग्राह स्थित हैं तौ भी अपने अपने स्वभावाको नहीं छोड़ते । पुद्गल जड है इमलिये अचेतन परिणामाका कर्ता और चिदानन्द आत्मा चैतन्य भावका करता है ॥ १० ॥

मिथ्यात्व और सम्यक्त्वका स्वरूप । सवेया इकतीसा ।

महा धीठ दुखकौ वसीठ परदर्वरूप,
 अधकूप काहूपै निवान्यौ नहि गयो है ।
 ऐसौ मिथ्याभाव लग्यौ जीवकौ अनादिहीकौ,
 याही अहंबुद्धि लिए नानाभांति भयो है ॥
 काहू समै काहूकौ मिथ्यात अधकार भेदि,
 ममता उछेदि सुद्ध भाव परिनयो है ।
 तिनही विवेक धारि बंधकौ विलास डारि,
 आतम सकतिसौं जगत जीत लयो है ॥११

शब्दार्थ—धीठ (धृष्ट)=ठीठ । वसीठ=दूत । निवारणौ=हटायौ । समै (समय)=वक्त । उछेदि=हटाकर । परिनयो=हुआ । सकति (शक्ति)=बल ।

भाससारत एव धावति पर कुर्वेऽहमित्युच्चकै

दुर्घार ननु मोहिनामिह महाहृद्धाररूप तम ।

तद्रूपतार्यपरिग्रहेण प्रिलय यद्येऽपार ब्रजे

सर्तिका ज्ञानघनस्य बन्धनमहो भूयो भवेदात्मन ॥ १० ॥

अर्थ—जो अत्यन्त कठोर है, दुःखोंका दूत है, परद्रव्य जनित है, अधकृपके समान है, किसीसे हटाया नहीं जा सकता ऐसा मिथ्यात्वभाव जीवको अनादि कालसे लग रहा है। और इसी कारण जीव, परद्रव्यमें अहबुद्धि करके अनेक अवस्थाएँ धारण करता है। यदि कोई जीव किसी समय मिथ्यात्वका अधकार नष्ट करे और परद्रव्यसे ममत्व भाव हटाकर शुद्ध-भावरूप परिणाम करे तो वह भेदविज्ञान धारण करके अधकृपके कारणोंको हटाकर, अपनी आत्म शक्तिसे समारको जीत लेता है अर्थात् मुक्त हो जाता है ॥ ११ ॥

जैसा कर्म वैसा फल । नवैया इकतीसा ।

सुद्धभाव चेतन असुद्धभाव चेतन,
 दुहकौ करतार जीव और नहि मानिये ।
 कर्मपिडको विलास वर्न रस गध फास,
 करता दुहकौ पुदगल परवानिये ॥
 तातै वरनादि गुन ग्यानावरनादि कर्म,
 नाना परकार पुदगलरूप जानिये ।

१ मिथ्यात्व विभाव भाव है उसे हटाकर अनत जीव मुक्त हुए है। पर हो-
 कठिनाइसे हटता है इस दृष्टिसे 'निवारथी नहि गयी है' यह पद दिया है।
 २ मिथ्यात्व, धमत्त प्रमाद, कपाय योग ।

आत्मभावा करोत्यात्मा परमाना सदा पर ।

धातमैव ह्यात्मनो भावा परस्य पर एव ते ॥ ११ ॥

समल विमल परिनाम जे जे चेतनके,
ते ते सब अलख पुरुष यौ बखानिये ॥१२॥

शब्दार्थ—सुद्धभाव=केवलदर्शन केवलज्ञान अनंत सुख आदि ।
असुद्धभाव=राग द्वेष क्रोध मान आदि । और=दूसरा । फास=स्पर्श ।
समल=अशुद्ध । विमल=शुद्ध । अलख=अरूपी । पुरुष=परमेश्वर ।

अर्थ—शुद्ध चैतन्य भाव और अशुद्ध चैतन्य भाव दोनों
भावोंका कर्त्ता जीव है, दूसरा नहीं है । द्रव्यकर्म-परणति और वर्ण,
रस, गंध, स्पर्श इन दोनोंका कर्त्ता पुद्गल है, इससे वर्ण रसादि
गुण महित शरीर और ज्ञानापरणादि कर्म-स्कन्ध, इन्हें अनेक
प्रकारकी पुद्गल पर्यायि जानना चाहिये । आत्माके शुद्ध और
अशुद्ध जो जो परिणाम हैं वे सब अमूर्तीक आत्माके हैं, ऐसा
परमेश्वरने कहा है ॥ १२ ॥

नोट—अशुद्ध परिणाम कर्मके प्रभावसे होते हैं और शुद्ध परिणाम कर्मके
अभावसे होते हैं, इससे दोनों प्रकारके भाव कम-जनित कहे जा सकते हैं ।

भेदज्ञानका मर्म मिथ्यादृष्टि नहीं जानता इसपर दृष्टान्त ।
सवैया इकतीसा ।

जैसे गजराज नाज घासके गरास करि,
भच्छत सुभाय नहि भिन्न रस लीयौ है ।

अज्ञानतस्तु मत्तृणाभ्यवहारकारी

ज्ञान स्वयं किल भवन्नापि रज्यते य ।

पीत्वा दधीक्षुमधुराम्लरसातिगृह्या

गा दोग्धि दुग्धमिव नूनमसौ रसालाम् ॥ १२ ॥

जैसे मतवारौ नहि जानै सिखरनि स्वाद,
 जुगमे मगन कहै गऊ दूध पीयो है ॥
 तैसे मिथ्यादृष्टी जीव ग्यानरूपी है सदीव,
 पग्यौ पाप पुनसौं सहज सुन्न हीयो है ।
 चेतन अचेतन दुहुंको मिश्र पिड लखि,
 एकमेक मानै न विवेक कछु कीयो है ॥१३॥

शब्दार्थ—गजराज=हाथी । गरास (प्रास)=कौर, कवल ।
 सिखरनि (श्रीखण्ड)=अत्यन्त गाढ़ा दही और मिश्रीका मिश्रण । जुग=
 सनक । सुन्न (शून्य)=विवेक रहित ।

अर्थ—जैसे हाथी अनाज और घामका मिला हुआ घास
 खाता है । पर खानेहीका स्वभाव होनेसे जुदा जुदा स्वाद नहीं
 लेता, अथवा जिम प्रकार मद्यसे मतमालेको श्रीखण्ड खिलाया
 जावे, तो वह नशेमें उमका स्वाद न पहिचानकर कहता है, कि
 इसका स्वाद गौदुग्धके समान है, उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव
 यद्यपि सदा ज्ञानमूर्ति है, तौ भी पुण्य पापमें लीन होनेके कारण
 उसका हृदय आत्मज्ञानसे शून्य रहता है, इससे चेतन अचेतन
 दोनोंके मिले हुए पिण्डको देखकर एक ही मानता है और कुछ
 विचार नहीं करता ।

भाचार्य—मिथ्यादृष्टि जीव स्वपर विवेकके आभयमें पुद्गलके
 मिलापसे जीवको कर्मका कर्ता मानता है ॥ १३ ॥

जीवको कर्मका कर्त्ता मानना मिथ्यात्व है इसपर दृष्टान्त ।
सदैवया इकतीसा ।

जैसे महा धूपकी तपतिमें तिसायौ मृग,
भरमसों मिथ्याजल पीवनको धायौ है ।
जैसे अंधकार मांही जेवरी निरखि नर,
भरमसों डरपि सरप मानि आयौ है॥
अपने सुभाव जैसे सागर सुथिर सदा,
पवन-संजोगसौ उछरि अकुलायौ है ।
तैसे जीव जड़सों अव्यापक सहज रूप,
भरमसों करमको करता कहायौ है ॥ १४ ॥

शब्दार्थ—तपति=गर्मी । तिसायौ=प्यासा । मिथ्याजल=मृगजल ।
जेवरी=रस्ती । सरप (सर्प)=साँप । सागर=समुद्र । थिर=स्थिर
अव्यापक=भिन्न । भरम=भूल ।

अर्थ—जिस प्रकार अत्यन्त तेज धूपमें प्यामका सताया
हुआ हिरण भूलसे मृगजल पीनेको दौड़ता है, अथवा जैसे कोई

१निर्जल देशमें रेतपर गिरी हुई सूखकी फिरणोंमें पाणीका भ्रम ।

अज्ञानान्मृगतृष्णिका जलधिया धावति पातु मृगा
अज्ञानात्तमसि द्रघन्ति भुजगाध्यास्तेन रज्जौ जना ।

अज्ञानाद्य विकल्पचक्रकरणाद्वातोत्तरद्वाग्धिव

च्छुद्धज्ञानमया अपि स्वयममी कर्त्रीभवन्त्याकुला ॥ १३ ॥

मनुष्य अधेरेमें रस्सीको देख उसे सर्प जान भयभीत होकर भागता है, और जिन प्रकार समुद्र अपने स्वभापसे सदैव स्थिर है तथापि हवाके झकोरोसे लहराता है, उसी प्रकार जीव स्वभावतः जड़ पदार्थोंसे भिन्न है, परन्तु मिथ्यात्वी जीव भूलसे अपनेको कर्मका कर्त्ता मानता है ॥ १४ ॥

भेद विज्ञानी जीव कर्मका कर्त्ता नहीं है, मात्र दर्शक है ।
सवैया इकतीसा ।

जैसे राजहसके बदनके सपरसत,
देखिये प्रगट न्यारौ छीर न्यारौ नीर है ।
तैसे समकृतीकी सुदृष्टिमें सहज रूप,
न्यारौ जीव न्यारौ कर्म न्यारौ ही सीर है ॥
जब सुद्ध चेतनको अनुभौ अभ्यासे तब,
भासे आपु अचल न दूजौ और सीर है ।
पूरव करम उदै आइके दिखाई देइ,
करता न होय तिन्हको तमासगीर है ॥१५॥

शब्दार्थ—बदन=मुख । सपरसत (स्पर्शत)=छूनेसे । छीर (क्षीर)=दूध । नीर=पानी । भासे=दिखता है । सीर=साथी । तमासगीर=दर्शक ।

ज्ञानाद्विधेचकृतया तु परात्मोर्षो
जानाति हस इव वा पयसोर्विशेष ।
चेतन्यधातुमचरु स तदाधिरूढो
जानीत एव हि कपोति न किञ्चनापि ॥ १४ ॥

अर्थ—जिम प्रकार हंसके मुखका स्पर्श होनेसे दूध और पानी पृथक् पृथक् हो जाते हैं, उसी प्रकार मय्यग्दृष्टि जीमोकी सुदृष्टिमें स्वभाषतः जीम कर्म और शरीर भिन्न भिन्न भासते हैं । जम शुद्ध चैतन्यके अनुभवका अभ्यास होता है, तम अपना अचल आत्मद्रव्य प्रतिभाषित होता है उसका किसी दूमरेसे मिलाप नहीं दिखता । हा, पूर्ववद् कर्म उदयमे आये हुए दिखते हैं पर अहबुद्धिके अभाषमे उनका कर्त्ता नहीं होता, मात्र दर्शक रहता है ॥ १५ ॥

मिले हुए जीव ओर पुद्गलकी पृथक् पृथक् परर ।

सधैया इकतीसा ।

जैसे उसनोदकमे उदक-सुभाव सीरौ,

आगकी उसनता फरस ग्यान लखियै ।

जैसे स्वाद व्यंजनमे दीसत विविधरूप,

लौनकौ सुवाद खारौ जीम-ग्यान चखियै ॥

तैसे घट पिडमे विभावता अग्यानरूप,

ग्यानरूप जीव भेद-ग्यानसौ परखियै ।

भरमसौ करमकौ करता है चिदानंद,

दरव विचार करतार भाव नखियै ॥ १६ ॥

ज्ञानादेव ज्वलनपयमोरीण्यशीत्यन्यवस्था

ज्ञानादेवोल्लसति लवणस्वादभेदव्युदासः ।

ज्ञानादेव स्वरसविकसनित्यचैतन्यधातो

क्रोधादेश्च प्रभवति भिदा भिन्दती कर्तृभाषम् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ—उसनोदक (उष्णादक) = गरम जल । उदक = जल । सीरौ = ठंडा । उसनता (उष्णता) = गर्मी । फरस = स्पर्श । व्यजन = नरकारी । नैवियै = छोड़ देना चाहिये ।

अर्थ—जिस प्रकार स्पर्शज्ञानसे शीत स्वभाववाले गरम जलकी अग्निजनित उष्णता पहिचानी जाती है, अथवा जिम प्रकार जिह्वा इन्द्रियसे अनेक स्वादवाली तरकारीमेका नमक जुदा चख लिया जाता है, उसी प्रकार भेदविज्ञानसे घट-पिंटमेका अज्ञानरूप फिर और ज्ञानमूर्ति जीव परख लिया जाता है, आत्माको कर्मका कर्ता मानना मिथ्यात्व है, द्रव्यदृष्टिसे 'आत्मा कर्मका कर्ता है' ऐसा भाव ही नहीं होना चाहिये ॥ १६ ॥

पदार्थ अपने स्वभावका कर्ता है । दोहा ।

ग्यान भाव ग्यानी करै, अग्यानी अग्यान ।
दर्वकर्म पुदगल करै, यह निहचै परवान ॥ १७ ॥

शब्दार्थ—द्रव्यकर्म = ज्ञानावरणादि कर्मदल । परवान (प्रमाण) = सच्चा ज्ञान ।

अर्थ—ज्ञानभावका कर्ता ज्ञानी है जज्ञानका कर्ता अज्ञानी है और द्रव्य कर्मका कर्ता पुद्गल है ऐसा निश्चयनयसे जानो ॥ १७ ॥

१ यह शब्द गुजराती भाषामें प्रचलित है ।

अज्ञान ज्ञानमप्येव कुर्वन्नात्मानमज्जसा ।

स्यात्कर्त्तात्मात्मभावस्य परभावस्य न क्वचित् ॥ १६ ॥

ज्ञानका कर्त्ता जीव ही है, अन्य नहीं है । दोहा ।

ग्यान सरूपी आत्मा, करै ग्यान नहि और ।

दरव करम चेतन करै, यह विवहारी दौर ॥ १८ ॥

अर्थ—ज्ञान रूप आत्मा ही ज्ञानका कर्त्ता है और दूसरा नहीं है । द्रव्य कर्मको जीव करता है यह व्यवहार बचन है ॥१८॥

इस विषयमें शिष्यकी शका । सबैया तेईसा ।

पुगलकर्म करै नहि जीव,

कही तुम मे समुझी नहि तैसी ।

कौन करै यह रूप कहौ अब,

को करता करनी कहु केसी ॥

आपुही आपु मिलै विछुरै जड़,

क्यों करि मो मन संसय ऐसी ?

शिष्य सदेह निवारन कारन,

वात कहै गुरु है कछु जैसी ॥ १९ ॥

शब्दार्थ—विछुरै=पृथक् होने । संसय (संशय)=सन्देह, शक ।

अर्थ—पुद्गल कर्मको जीव नहीं करता है, ऐसा आपने कहा सो मेरी समझमें नहीं आता । कर्मका कर्त्ता कौन है और उसकी

आत्मा ज्ञान स्वयं ज्ञान ज्ञानाद्रन्यत्करोति किं ।

परमावस्य कर्त्तात्मा मोहोऽय व्यवहारिणाम् ॥ १७ ॥

जीव करोति यदि पुद्गलकर्म नैव कस्ताहिं तत्कुरुत इत्यभिशाङ्क्यैव ।
एताहिं तीम्ररयमोहनिवर्हेणाय सकीर्त्येते शृणुत पुद्गलकर्मकर्तृ ॥१८॥

कैसी क्रिया है ? ये अचेतन कर्म अपने आप जीनसे कैसे बँधते छूटते है ? मुझे यह सन्देह है । शिष्यकी इस शकाका निर्णय करनेके लिये श्रीगुरु यथार्थ ज्ञात कहते हैं ॥ १९ ॥

उपर की हुई शकामा समाधान । दोहा ।

पुद्गल परिनामी दरव, सदा परिनवै सोइ ।

यातैं पुद्गल करमकौ, पुद्गल करता होइ ॥ २० ॥

शब्दार्थ—परिनामी (परिणामी)—अपना स्वभाव न छोड़कर पर्या-
यसे पर्यायान्तर होनेवाला । सोय=उह । यातैं=इससे ।

अर्थ—पुद्गल द्रव्य परिणामी है, उह सदैव परिणामन किया करता है, इससे पुद्गल कर्मका पुद्गल ही कर्त्ता है ॥ २० ॥

जीव चेतना सजुगत, सदा पूरण सब ठौर ।

तातैं चेतन भावकौ, करता जीव न और ॥ २१ ॥

अर्थ—जीव चेतना सयुक्त है, सब जगह भदा पूर्ण है, इस कारण चेतन भावका कर्त्ता जीव ही है और कोई नहीं है ॥ २१ ॥

शिष्यका पुन प्रश्न । अडिह छद् ।

ग्यानवतकौ भोग निरजरा-हेतु है ।

अज्ञानीकौ भोग वध फल देतु है ॥

स्थितेत्यविद्या सल्लु पुद्गलस्य स्वभावभूता परिणामशक्तिः ।

तस्या स्थिताया स करोति भाव यमात्मनस्तस्य स एव कर्त्ता ॥ १९ ॥

स्थितेति जीवस्य निरंतरा या स्वभावभूता परिणामशक्ति ।

तस्या स्थिताया स करोति भाव य स्वभ्य तस्यैव भवेत्स कर्त्ता ॥ २० ॥

ज्ञानमय एव भावः कुतो भवेद् ज्ञानिनो न पुनरन्यः ।

अज्ञानमय सर्व कुतोऽयमज्ञानिनो नान्य ॥ २१ ॥

यह अचरजकी बात हिये नहि आवही ।
पूछै कोऊ सिष्य गुरू समझावही ॥ २२ ॥

शब्दार्थ—भोग=शुभ अशुभ कर्मोंका विपाक । निर्जरा हेतु=कर्म
झड़नेके वास्ते ।

अर्थ—कोई शिष्य प्रश्न करता है, कि हे गुरुजी !
ज्ञानीके भोग निर्जराके लिये हैं और अज्ञानीके भोगोंका
फल वध है, यह अचरज भरी हुई बात मेरे चित्तपर नहीं
जमती ? इसको श्रीगुरु समझाते है ॥ २२ ॥

ऊपर की हुई शफाका समाधान । सबैया इफतीसा ।

दया-दान-पूजादिक विषय-कपायादिक,
दोऊ कर्मबंध पे दुहूकौ एक खेतु है ।
ग्यानी मूढ़ करम करत दीसैं एकसे पै,
परिनामभेद न्यारौ न्यारौ फल देतु है ॥
ग्यानवत करनी करे पे उदासीन रूप,
ममता न धरे ताते निर्जराकौ हेतु है ।
वहै करतूति मूढ़ करै पै भगनरूप,
अंध भयौ ममतासौ वध-फल लेतु है ॥ २३ ॥

ज्ञानिनो ज्ञाननिर्वृत्ताः सर्वे भ्रात्रा भवन्ति हि ।
सर्वेऽप्यज्ञाननिर्वृत्ता सप्रत्यज्ञानिनस्तु ते ॥ २२ ॥

ऐसी नयकक्ष ताकी पक्ष तजि ग्यानी जीव,
 समरसी भए एकतामों नहि टले हैं ।
 महामोह नामि सुद्ध-अनुभौ अभ्यामि निज,
 वल परगासि सुखरासि मांहि रले हैं ॥२७॥

शब्दार्थ—नियत=निश्चय । फलास्त=विस्तार करो तो । फले=उपजे । कल्लोल=तरंग । उछटे=त्रदे । कक्ष=कोटि । रंटे=मिडे ।

अर्थ—पहिला निश्चय और दूसरा व्यवहार नय है, इनका प्रत्येक द्रव्यके गुण पर्यायोंके साथ विस्तार किया जाय तो अनंत भेद हो जाते हैं । जैसे जैसे नयके भेद उदते हैं, उसे धैसे चंचल स्वभावी चित्तमें तरङ्ग भी उपनर्ता हैं, जो लोक और अलोकके प्रदेशोंके बराबर हैं । जो जानी जीव ऐसी नयकोटिका पक्ष छोड़कर समता रम ग्रहण करके आत्म स्वरूपकी एकताको नहीं छोड़ते, वे महामोहको नष्ट करके अनुभवके अभ्याससे निजात्म वल प्रगट करके पूर्ण जानंदमें लीन होते हैं ॥ २७ ॥

सम्यग्ज्ञानसे आत्मस्वरूपकी पहिचान होती है ।

सधैया इकतीसा ।

जैसे काहू वाजीगर चौहटै वजाइ ढोल,
 नानारूप धरिकें भगल विद्या ठानी है ।
 तैसे में अनादिको मिव्यातकी तरगनिसों,
 भरममें धाइ बहु काय निज मानी है ॥

१ यह शब्द मारवाड़ी भाषामें प्रचलित है ।

इन्द्रजालमिदमे उमुचउरत्पुष्कलीचलविषल्पवीचिमि ।

यस्य विस्फुरणमेव तत्क्षण कृतस्त्रमस्यति तदस्मि चिम्माह ॥ ४६ ॥

अव ग्यानकला जागी भरमकी दृष्टि भागी,
 अपनी पराई सब सौंज पहिचानी है ।
 जाकै उदै होत परवांन ऐसी भांति भई,
 निहचै हमारी जोति सोई हम जानी है ॥ २८ ॥

शब्दार्थ—बाजीगर=खेल करनेवाला । चौहटे=चौराहे पर । भगल-
 विद्या=धोखेबाजी । धाय=भटककर । काया=शरीर । सौंज=वस्तु ।

अर्थ—जैसे कोई तमासगीर चौराहेपर ढोल बजावे और
 अनेक म्वाग वनाके ठग विद्यासे लोगोंको भ्रममे डाल देवे, उसी
 प्रकार मैं अनादि कालसे मिथ्यात्वके झकोरोसे भ्रममे भूला रहा
 और अनेक शरीरोंको अपनाया । जब ज्ञान-ज्योतिका उदय हुआ
 जिससे मिथ्यादृष्टि हट गई, सब स्वपर वस्तुकी पहिचान हुई
 और उस ज्ञान कलाके प्रगट होते ही ऐसी अवस्था प्राप्त हुई कि
 हमने अपनी असली आत्मज्योति पहिचान ली ॥ २८ ॥

शनीका आत्मानुभवमें विचार । सबैया इकतीसा ।

जैसे महा रतनकी ज्योतिमें लहरि उठै,
 जलकी तरंग जैसे लीन होय जलमें ।
 तैसें सुद्ध आत्म दरव परजाय करि,
 उपजै विनसै थिर रहै निज थलमें ॥

चित्स्वभावभरभावितभावा भावभावपरमार्थतर्क ।

। बन्धपद्धतिमपास्य समस्ता चेतये समयसारमपार ॥ ४७ ॥

फिरि काल पाइ दरवानुजोग दूरि होत,
 अपने सहज नीचे मारग ढरतु है ॥
 तैसे यह चेतन पदारथ विभाषा तासों,
 गति जोनि भेस भव-भांवरि भरतु है ।
 सम्यक सुभाइ पाइ अनुभौके पथ धाइ,
 वधकी जुगति भानि मुक्ति करतु है ॥३१॥

शब्दार्थ—दरवानुजोग=अपने वस्तुओंका संयोग, मिश्रण। भेस (वेप)=रूप। भव भांवरि=जन्म मरण रूप संसारका चक्र। भानि=नष्ट करके।

अर्थ—जिस प्रकार जलका एक वर्ण है, परन्तु गेरु, राख, रंग आदि अनेक वस्तुओंका संयोग होनेपर अनेक रूप हो जानेसे पहचानमें नहीं आता, फिर संयोग दूर होनेपर अपने स्वभाबमें बहने लगता है, उसी प्रकार यह चैतन्य पदार्थ विभाषा अस्थायी गति, योनि, कुलरूप संसारमें चर लगाया करता है, पीछे अंतर मिलनेपर निजस्वभाबको पाकर अनुभवके मार्गमें लगकर कर्म बन्धनको नष्ट करता है और मुक्तिमें प्राप्त होता है ॥ ३१ ॥

मिथ्यादृष्टी जीव कर्मका कर्ता है। दोहा।

निसि दिन मिथ्याभाव बहु, धरे मिथ्याती जीव ।
 ताते भावित करमकौ, करता कह्यो सदीव ॥३२॥

विकल्पकः पर कर्ता विकल्प कर्म केरल ।

न जातु कर्तृकर्मत्वं सविकल्पस्य नश्यति ॥ ५० ॥

शब्दार्थ—निशिदिन=सदाकाल । तातै=इससे । भावितकर्म= राग द्वेष मोह आदि ।

अर्थ—मिथ्यादृष्टी जीव सदैव मिथ्याभाष किया करता है इससे वह भाष कर्मका कर्त्ता है ।

भावार्थ—मिथ्यात्वी जीव अपनी भूलसे पर द्रव्योंको अपना मानता है, जिससे मैने यह किया, यह लिया, यह दिया इत्यादि अनेक प्रकारके रागादि भाष किया करता है, इससे वह भाष कर्मका कर्त्ता होता है ॥ ३२ ॥

मिथ्यात्वी जीव कर्मका कर्त्ता और शानी अकर्त्ता है । चौपाई ।

करै करम सोई करतारा ।

जो जानै सो जाननहारा ॥

जो करता नहि जानै सोई ।

जानै सो करता नहि होई ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ—करतारा=कर्त्ता । जाननहारा=ज्ञाता ।

अर्थ—जो कर्म करे वह कर्त्ता है, और जो जाने सो ज्ञाता है, जो कर्त्ता है वह ज्ञाता नहीं होता और जो ज्ञाता है वह कर्त्ता नहीं होता ।

भावार्थ—मूट और ज्ञानी दोनो देखनेमे एकसी क्रिया करते हैं, परन्तु दोनोके भावोमे बड़ा भेद रहता है । अज्ञानी

यः करोति स करोति केवल यस्तु वेत्ति स तु वेत्ति केवल ।

यः करोति न हि वेत्ति स क्वचित् यस्तु वेत्ति न करोति स क्वचित् ५१

जीव ममत्व भावके सद्भावमे बन्धनको प्राप्त होता है और ज्ञानी ममत्वके अभावमे अवंध रहता है ॥ ३३ ॥

जो ज्ञानी है वह कर्त्ता नहीं है । सोरठा ।

ग्यान मिथ्यात न एक, नहि रागादिक ग्यान महि ।

ग्यान करम-अतिरेक, ग्याता सो करता नहि ॥३४॥

शब्दार्थ—महि=में । अतिरेक (अतिरिक्त)=भिन्न भिन्न ।

अर्थ—ज्ञानभाव और मिथ्यात्वभाव एक नहीं है और न ज्ञानमे रागादि भाव होते हैं । ज्ञानसे कर्म भिन्न है, जो ज्ञाता है वह कर्त्ता नहीं है ॥ ३४ ॥

जीव कर्मका कर्त्ता नहीं है । छप्पय ।

करम पिड अरु रागभाव, मिलि एक होंहि नहि ।

दोऊ भिन्न-सरूप वसहि, दोऊ न जीवमहि ॥

करमपिंड पुग्गल, विभाव रागादि मूढ भ्रम ।

अलस एक पुग्गल अनत, किमि धरहि प्रकृतिसम ॥

निज निज विलासजुत जगतमहि,

जथा सहज परिनमहि तिम ।

इति कर्त्ता न हि भासतेऽन्त इती करोतिश्च न भासतेऽन्तः ।

इति करोतिश्च ततो विभिन्ने गता न कर्त्तेति ततः स्थितं च ॥५२॥

कर्त्ता कर्मणि नास्ति नास्ति नियत कर्मापि तत्कर्त्तरि

ब्रह्म विप्रतिपिच्यते यदि तदा का कर्तृकर्मस्थितिः ।

शता शतरि कर्म कर्मणि सदा व्यसेति वस्तुस्थिति-

नैपथ्ये वत नानटीति रभसा मोहस्तथाप्येष किं ॥ ५३ ॥

करतार जीव जड़ करमकौ,
मोह-विकल जन कहहि इम ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ—बसहि=रहते हैं । महि=में । अलख=आत्मा ।
किमि=कैसे । प्रकृति=स्वभाव । सम=एकसा । जुत (युत)=सहित ।
विकल=दुखी ।

अर्थ—ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म और रागद्वेष आदि भावकर्म
ये दोनों भिन्न भिन्न स्वभाव वाले हैं, मिलकर एक नहीं हो सकते,
और न ये जीवके स्वभाव हैं । द्रव्यकर्म पुद्गल रूप हैं और भाव-
कर्म जीवके विभाव हैं । आत्मा एक है और पुद्गलकर्म अनंत हैं
दोनोंकी एकसा प्रकृति कैसे हो सकती है ? क्योंकि ससारमें
सब द्रव्य अपने अपने स्वभावमें परिणमन करते हैं इसलिये जो
मनुष्य जीवको कर्मका कर्त्ता कहते हैं सो केवल मोहकी विकलता
है ॥ ३५ ॥

शुद्ध आत्मानुभवका माहात्म्य । छप्पय ।

जीव मिथ्यात न करै, भाव नहि धरै भरम मल ।
ग्यान ग्यानरस रमै, होइ करमादिक पुदगल ॥
असख्यात परदेस सकति, जगमगै प्रगट अति । ३
चिदविलास गंभीर धीर, थिर रहै विमलमति ॥

कर्त्ता कर्त्ता भवति न यथा कर्म कर्मापि नैव
ज्ञान ज्ञान भवति च यथा पुद्गल पुद्गलोऽपि ।
ज्ञानज्योतिर्ज्वलितमचल व्यक्तमन्तस्तथोच्चै
श्चिच्छक्तीना निकरभरतीऽत्यन्तगम्भीरमेतत् ॥ ५४ ॥

जब लगि प्रबोध घटमहि उदित,
 तब लगि अनय न पेखिये ।
 जिमि धरम-राज वरतंत पुर,
 जहं तह नीति परेखिये ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ—भरम (भ्रम)=अज्ञान । प्रबोध=सम्यग्ज्ञान । उदित=प्रकाशित । अनय=अन्याय । धरम-राज=धर्मयुक्तराज्य । वरतंत=प्रवर्तित ।

अर्थ—जीव मिथ्याभावको नहीं करता और न गगादि भायमलका वारक है । कर्म पुत्रल है, और ज्ञान तो ज्ञानरस ही-मे लीन रहता है, उसकी जीवके असरप्यात प्रदेशोंमे स्थिर, गभीर, धीर, निर्मल ज्योति अत्यन्त जगमगाती है, सो जत्र तरु हृदयमें प्रकाशित रहता है, तत्र तरु मिथ्यात्व नहीं रहता । जैसे कि नगरमें धर्मराज वर्तनेसे जहाँ तहाँ नीति ही नीति दिखाई देती है, अनीतिका लेश भी नहीं रहता ॥ ३६ ॥

तृतीय अधिकारका सार ।

करना सो क्रिया, किया जाय सो कर्म, जो करे सो कर्त्ता है । अभिप्राय यह कि जो क्रियाका व्यापार करे अर्थात् काम करनेवालेको कर्त्ता कहते हैं, जिममे क्रियाका फल रहता है अर्थात् किये हुए कामको कर्म कहते हैं, जो (करतूति) कार्र-वाई की जावे उसे क्रिया कहते हैं । जैसे कि कुभकार कर्त्ता है, घट कर्म है और घट बनानेकी विधि क्रिया है । अथवा ज्ञानी-राम आम तोड़ता है, इस धाम्यमे ज्ञानीराम कर्त्ता, आम कर्म और तोड़ना क्रिया है ।

संरण रहे कि ऊपरके दो दृष्टान्तोंसे जो स्पष्ट किया है वह भेद-विप्लवसे है, क्योंकि कर्त्ता कुंभकार पृथक् पदार्थ है, कर्म घट पृथक् पदार्थ है, घट सृष्टिकी क्रिया पृथक् है। इसी प्रकार दूसरे वाक्यमें ज्ञानीराम कर्त्ता पृथक् है, आम कर्म पृथक् है, और तोड़नेकी क्रिया पृथक् है। जैसे भेद-व्यवहारमें कर्त्ता कर्म क्रिया भिन्न भिन्न रहते हैं, वैसे अभेद-दृष्टिमें नहीं होते—एक पदार्थमें ही कर्त्ता कर्म क्रिया तीनों रहते हैं। जैसे कि “चिद्भाव कर्म चिदेश करता चेतना किरिया तहाँ” अर्थात् चिदेश आत्मा कर्त्ता, चैतन्यभाव कर्म और चेतना (जानना) क्रिया है, अथवा मृत्तिका कर्त्ता, घट कर्म और मृत्तिकाका पिंडपर्यायसे घटपर्याय रूप होना क्रिया है। इस अधिकारमें कर्त्ता कर्म क्रिया शब्द कहीं भेद-दृष्टिसे और कहीं अभेद-दृष्टिसे आये हैं, सो खूब गहन विचारपूर्वक समझना चाहिये ।

अज्ञानकी दशामे जीव शुभाशुभ कर्म और शुभाशुभ प्रवृत्तिको अपनी मानता है और उनका कर्त्ता आप बनता है, परन्तु खूब ध्यान रहे कि लोकमें अनंत पौद्गलिक कार्माण वर्गणाएँ भरी हुई है, इन कार्माण वर्गणाओंमें ऐसी शक्ति है कि आत्माके रागद्वेषका निमित्त पाकर वे कर्मरूप हो जाती है। इससे स्पष्ट है कि ज्ञानापरणीय आदि कर्म पुद्गल रूप हैं, अचेतन हैं, पुद्गल ही इनका कर्त्ता है—आत्मा नहीं है, हाँ, रागद्वेष मोह आत्माके विकार है। ये आत्म-जनित हैं या पुद्गल-जनित हैं इसका पृहद्द्रव्यसंग्रहमें बड़ा अच्छा समाधान किया है, वह इस प्रकार है, कि—जैसे सतानको न तो अकेली माताहीसे उत्पन्न कह सकते हैं और न अकेले पितासे उत्पन्न कह सकते हैं, किन्तु

सो प्रबोध ससि निरखि बनारसि,
सीस नवाइ देत पग धोक ॥ २ ॥

शब्दार्थ—मोह-महातम=मोह रूपी घोर अधकार । दुग्धि=भेद ।
इक धोक=एक ही । प्रबोध-ससि=केवलज्ञानरूप चन्द्रमा । पग धोक=
चरणवन्दना ।

अर्थ—जिमके उदय होनेपर हृदयसे मोहरूपी महा अंधकार
नष्ट हो जाता है, और शुभकर्म अच्छा है वा अशुभ कर्म बुरा है,
यह भेद मिटकर दोनों एकसे भासने लगते हैं । जिसकी पूर्ण
कलाके प्रकाशमें लोह अलोक मय झलकने लगते हैं, उस केवल-
ज्ञानरूप चन्द्रमाका जलोकन करके प० बनारसीदासजी मस्तक
नवाकर वन्दना करते हैं ॥ २ ॥

पुण्य पापकी समानता । सधैया इक्तीसा ।

जैसे काहू चडाली जुगल पुत्र जने तिनि,
एक दीयौ वाभनके एक घर राख्यौ है ।
वाभन कहायौ तिनि मद्य माम त्याग कीनौ,
चंडाल कहायौ तिनि मद्यमांस चाख्यौ है ॥

एको दूरात्यजति मदिरा ब्राह्मणत्वाभिमाना
दन्य शूद्रः स्ययमहामिति स्नाति नित्य तथैव ।
द्वावप्येतौ युगपदुराधिर्गतां शूद्रिषायाः
शूद्रौ साक्षादापि च चरतो जातिभेदघ्नमेण ॥ २ ॥

तैसें एक वेदनी करमके जुगल पुत्र,
 एक पाप एक पुत्र नाम भिन्न भाख्यो है ।
 दुहं मांहि दौर धूप दोऊ कर्मबंधरूप,
 याते ग्यानवंत नहि कोउ अभिलाख्यो है ३ ॥

शब्दार्थ—जुगल=दो । भिन्न=उदे । भाख्यो=कहा । दौर धूप=भटकना । अभिलाख्यो=चाहा ।

अर्थ—जैसे किसी चांडालनीके दो पुत्र हुए, उनमेंसे उसने एक पुत्र ब्राह्मणको दिया और एक अपने घरमें रक्खा । जो ब्राह्मणको दिया वह ब्राह्मण कहलाया और मद्य मासका त्यागी हुआ, पर जो घरमें रहा वह चांडाल कहलाया और मद्य मास-भक्षी हुआ । उसी प्रकार एक वेदनीय कर्मके पाप और पुण्य भिन्न भिन्न नाम वाले दो पुत्र है, सो दोनोंमें समारकी भटकना है और दोनों मद्य परपराको बढ़ाते हैं इससे ज्ञानी लोग दोनों हीकी अभिलाषा नहीं करते ।

भावार्थ—जिस प्रकार पापकर्म बंधन है तथा ससारमें भ्रमानेवाला है, उसी प्रकार पुण्य भी बंधन है, और उसका विपाक ससार ही है, इसलिये दोनों एकहीसे हैं, पुन्य सोनेकी बेड़ीके समान और पाप लोहेकी बेड़ीके समान है, पर दोनों बंधन हैं ॥ ३ ॥

पाप पुण्यकी समानतामें शिष्यकी शक्ता । चौपाई ।
 कोऊ शिष्य कहै गुरु पांहीं ।
 पाप पुत्र दोऊ सम नाहीं ॥
 कारन रस सुभाव फल न्यारै ।
 एक अनिष्ट लगै इक प्यारै ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—गुरु पांहीं=गुरुके पास । रस=स्वाद, विपाक । अनिष्ट=अप्रिय ।

अर्थ—श्रीगुरुके समीप कोई शिष्य कहता है कि, पाप और पुण्य दोनों समान नहीं हैं, क्योंकि उनके कारण, रस, स्वभाव तथा फल चारों ही जुड़े जुड़े हैं । एकके (कारण, रस, स्वभाव, फल) अप्रिय और एकके प्रिय लगते हैं ॥ ४ ॥ पुनः

सवैया इकतीसा ।

सकलेस परिनामनि सौ पाप वध होइ,
 विसुद्धसौ पुत्र वध हेतु-भेद मानियें ।
 पापकै उदै असाता ताकौ है कटुक स्वाद,
 पुत्र उदै साता मिष्ट रस भेद जानियें ॥
 पाप सकलेस रूप पुत्र है विसुद्ध रूप,
 दुहूकौ सुभाव भिन्न भेद यो बखानियें ।

हेतुस्यभाषानुभवाश्रयाणा सदाप्यभेदाग्रहि कर्मभेदः ।
 तद्द्वयमागोश्रितमेकमिष्ट स्वयं समस्त खलु धन्वहेतु ॥ ३ ॥

पापसौ कुगति होइ पुनसौ सुगति होइ,

ऐसौ फलभेद परतच्छि परमानियै ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—संकलेस=तीव्र कपाय । विमुद्ध=मंद कपाय । असाता=
दुःख । कटुक=कड़वा । साता=सुख । परतच्छि (प्रत्यक्ष)=साक्षात् ।

अर्थ—संलिष्ट भावोंसे पाप और निर्मल भावोंसे पुण्य बंध
होता है, इस प्रकार दोनोंके बंधमें कारण भेद है । पापका उदय
असाता है, जिमका स्वाद कड़वा है और पुण्यका उदय साता है
जिसका स्वाद मधुर है, इस प्रकार दोनोंके स्वादमे अंतर है ।
पापका स्वभाव तीव्र कपाय और पुण्यका स्वभाव मंद कपाय है,
इस प्रकार दोनोंके स्वभावमे भेद है । पापसे कुगति और पुण्यसे
सुगति होती है, इस प्रकार दोनोंमें फल भेद प्रत्यक्ष जान पड़ता
है ॥ ५ ॥

शिष्यकी शकाका समाधान । सर्वथा इकतीसा ।

पाप बंध पुन बंध दुहमें मुकति नांहि,

कटुक मधुर स्वाद पुगलकौ पेखिए ।

संकलेस विमुद्ध सहज दोऊ कर्मचाल,

कुगति सुगति जगजालमें विसेखिए ॥

कारनादि भेद तोहि सूझत मिथ्यात मांहि,

ऐसौ द्वैत भाव ग्यान दृष्टिमें न लेखिए ।

दोऊ महा अंधकूप दोऊ कर्मबंधरूप,

दुहंकौ विनास मोख मारगमें देखिए ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—मुक्ति (मुक्ति)=मोक्ष । मधुर=मिष्ट । तोहि=तुझे ।
सूक्त=दिखते । द्वैत=द्विविधा ।

अर्थ—पाप बंध और पुण्य बंध दोनों मुक्तिमार्गमें राधक हैं, इससे दोनों ही ममान हैं, इनके कटु और मिष्ट स्वाद पुद्गलके हैं इसलिये दोनोंके रस भी ममान हैं, सकेश और विशुद्ध भाव दोनों विमान हैं इसलिये दोनोंके भाव भी ममान हैं, बुगति और सुगति दोनों ससारमय हैं, इससे दोनोंका फल भी ममान हैं । दोनोंके ऋग्ण, रस, स्वभाव और फलमें तुझे जानसे भेद दिखता है, परन्तु ज्ञानदृष्टिसे दोनोंमें कुछ अंतर नहीं है—दोनों जात्मस्वरूपको भुलानेवाले हैं, इसलिये महा अधरूप हैं, और दोनों ही कर्म यथरूप हैं, इससे मोक्षमार्गमें इन दोनोंका त्याग कहा है ॥ ६ ॥

मोक्षमार्गमें शुद्धोपयोग ही उपादेय है । सर्वथा शकतीसा ।

सील तप सजम विरति दान पूजादिक,
अथवा असजम कपाय विपैभोग है ।

कोऊ सुभरूप कोऊ असुभ स्वरूप मूल,
वस्तुके विचारत दुविध कर्मरोग है ॥

ऐसी बंधपद्धति बखानी वीतराग देव,
आत्म धरममें करम त्याग-जोग है ।

भौ-जल तरैया रागढेपको हरैया महा,
मोखको करैया एक सुद्ध उपयोग है ॥ ७ ॥

धर्म सर्वमपि सर्वधिदो यद्बन्धसाधनमुशान्त्यविशेषात् ।

ज्ञेन सर्वमपि तद्व्यतिषिद्धं ज्ञानमेव विहितं शिष्यहेतुः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—सील (शील)=ब्रह्मचर्य । तप=इच्छाओंका रोकना ।
संजम (सयम)=उह कायके जीवोंकी रक्षा और इन्द्रियों तथा मनको
बशमें करना । विरति (व्रत)=हिंसादि पाच पापोंका त्याग । असजम=
उह कायके जीवोंकी हिंसा और इन्द्रियों तथा मनकी स्वतंत्रता । भौ
(मन)=संसार । मुद्ध उपयोग=वीतराग परणति ।

अर्थ—ब्रह्मचर्य, तप, सयम, व्रत, दान, पूजा, आदि अथवा
असयम, कपाय, निषय भोग आदि इनमें कोई शुभ और कोई
अशुभ है, सो आत्म स्वभाव विचारा जावे तो दोनों ही कर्म-
रूपी रोग हैं । भगवान वीतरागदेवने दोनोको बधकी परिपाटी
बतलाया है, आत्मस्वभापकी प्राप्तिमें दोनों त्याज्य है । एक
शुद्धोपयोग ही समार समुद्रसे तारनेवाला, रागद्वेष नष्ट करनेवाला
और परम पदका देनेवाला है ॥ ७ ॥

शिष्य गुरुका प्रश्नोत्तर । सर्वैया इकतीसा ।

शिष्य कहै स्वामी तुम करनी असुभ सुभ,
कीनी हे निषेध मेरे ससे मन मांही है ।
मोखके सधैया गयाता देसविरती मुनीस,
तिनकी अवस्था तौ निरावलंब नांही है ॥

निषिद्धे सर्वस्मिन् सुष्टुत्तदुरिते कर्मणि किल
प्रवृत्ते नैष्कर्म्ये न शल्लु मुनय सन्त्यशरणाः ।
तदा घाने ज्ञान प्रतिचरितमथा हि शरण
स्यय विन्दन्त्येते परमममृत तत्र निरता ॥ ५ ॥

कहै गुरु करमकौ नास अनुभौ अभ्यास,
 ऐसौ अवलव उनहीकौ उन पांही है ।
 निरुपाधि आत्म समाधि सोई सिवरूप,
 और दौर धूप पुदगल परछांही है ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—संसै (संशय)=सन्देह । देसविरती=श्रावक । मुनीस=साधु । निरावलव=निराधार । समाधि=ध्यान ।

अर्थ—शिष्य कहता है कि हे स्वामी ! आपने शुभ अशुभ क्रियाका निषेध किया सो मेरे मनमे सन्देह है, क्योंकि मोक्ष-मार्गी ज्ञानी जणुप्रती श्रावक वा महाप्रती मुनि तो निरावलव नहीं होते अर्थात् दान, समिति, सयम आदि शुभ क्रिया करते ही हैं । इसपर श्रीगुरु उत्तर देते हैं कि कर्म निर्जरा अनुभवके अभ्याससे है, सो वे अपने ही ज्ञानमे स्वात्मानुभव करते हैं, रागद्वेष मोह रहित निर्विकल्प आत्मध्यान ही मोक्ष रूप है, इसके बिना और सब भटकना पुद्गल जनित है ।

भावार्थ—शुभ क्रिया समिति व्रत आदि आश्रव ही हैं, इनसे साधु वा श्रावककी कर्म निर्जरा नहीं होती, निर्जरा तो आत्मानुभवसे होती है ॥ ८ ॥

१ ' येनाशेन मुष्टिस्तेनाशेनास्य बध्न नास्ति । येनाशेन तु रागस्तेनाशेनास्य बध्न भवति ॥ इत्यादि (पुक्यार्थं लिख्युपाय)

मुनि ध्याककी दशमं वध और मोक्ष दोनों हैं । सबैया तेईसा ।

मोख सरूप सदा चिनमूरति,
 वधमई करतूति कही है ।
 जावतकाल वसै जहां चेतन,
 तावत सो रस रीति गही है ॥
 आतमकौ अनुभौ जवलों,
 तवलों सिवरूप दसा निवही है ।
 अंध भयौ करनी जव ठानत,
 वंध विथा तव फैल रही है ॥ ९ ॥

शब्दार्थ—चि मूरति=आत्मा । करतूति=शुभाशुभ विमात्र पर-
 णीत । जानत काल=जितने समय तक । तावत=तब तक । निवही=रहती
 है । अंध=अज्ञानी । विथा (व्यथा)=दुःख ।

अर्थ—आत्मा सदैव शुद्ध अर्थात् अबंध है और क्रिया
 बंधमय कही है, सो जितने समय तक जीव जिसमे (स्वरूप
 वा क्रियामें) रहता है उतने समय तक उसका स्वाद लेता है,
 अर्थात् जब तक आत्म अनुभव रहता है तब तक अंध दशा

यदेतज्ज्ञानात्मा ध्रुवमचलमाभाति भवन

शिवस्याय हेतु स्वयमपि यतस्तच्छिव इति ।

यतोऽन्यद्वन्धस्य स्वयमपि यतो वन्ध इति तत्

ततो ज्ञानात्मत्र भवनमनुभूतिर्हि विहित ॥ ६ ॥

रहती है, परन्तु जय स्वरूपसे चिगकर क्रियामे लगता है तब वधका प्रपच बढ़ता है ॥ ९ ॥

मोक्षकी प्राप्ति अतर्दृष्टिसे है । सोरठा ।

अतर दृष्टि लखाउ, निज सरूपकौ आचरन ।

ए परमात्म भाउ, सिव कारन येई सदा ॥ १० ॥

शब्दार्थ—अंतर दृष्टि=अतरंग ज्ञान । स्वरूपकौ आचरण=स्वरूपमें स्थिरता ।

अर्थ—अतरंग ज्ञानदृष्टि और आत्म-स्वरूपमें स्थिरता यह परमात्माका स्वभाव है और यही मोक्षका उपाय है ।

भावार्थ—सम्यक्त्व सहित ज्ञान और चारित्र परमेश्वरका स्वभाव है और यही परमेश्वर बननेका उपाय है ॥ १० ॥

बाह्यदृष्टिसे मोक्ष नहीं है । सोरठा ।

करम सुभासुभ दोइ, पुदगलपिड विभाव मल ।

इनसौं मुकति न होइ, नहि केवल पद पाइए ॥११॥

शब्दार्थ—सुभासुम=भले बुरे । विभाव=विकार । मल=कलक ।

अर्थ—शुभ और अशुभ ये दोनों कर्म मल हैं, पुद्गलपिण्ड हैं, आत्माके विभाव हैं, इनसे मोक्ष नहीं होता और केवलज्ञान भी नहीं पा सकता है ॥ ११ ॥

वृत्त ज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवन सदा ।

एकद्रव्यस्थभावत्वा मोक्षहेतुस्तदेव तत् ॥ ७ ॥

वृत्त कर्मस्वभावेन ज्ञानस्य भवन न हि ।

द्रव्यान्तरस्वभावत्वा मोक्षहेतुर्न क्व तत् ॥ ८ ॥

इसपर शिष्य गुरुका प्रश्नोत्तर । सबैया इकतीसा ।

कोऊ शिष्य कहै स्वामी ! असुभक्रिया असुद्ध,
 सुभक्रिया सुद्ध तुम ऐसी क्यों न वरनी ।
 गुरु कहै जबलों क्रियाके परिनाम रहें,
 तबलों चपल उपयोग जोग धरनी ॥
 थिरता न आवै तोलों सुद्ध अनुभौ न होइ,
 याते दोऊ क्रिया मोख-पंथकी कतरनी ।
 बंधकी करैया दोऊ दुहूमें न भली कोऊ,
 बाधक विचारि में निसिद्ध कीनी करनी १२॥

शब्दार्थ—असुभ क्रिया=पाप । सुभ क्रिया=पुण्य । क्रिया=शुभा-
 शुभ परणति । चपल=चचल । उपयोग=ज्ञान दर्शन । कतरनी=कैंची ।
 निसिद्ध=वर्जित । करनी=क्रिया ।

अर्थ—कोई शिष्य पूछता है कि हे स्वामी ! आपने अशुभ
 क्रियाको अशुद्ध और शुभ क्रियाको शुद्ध क्यों न कहा ? इस-
 पर श्रीगुरु कहते हैं कि, जब तक शुभ अशुभ क्रियाके परिणाम
 रहते हैं तब तक ज्ञान दर्शन उपयोग और मन रचन कायके
 योग चचल रहते हैं तथा जब तक ये स्थिर न हों तब तक
 शुद्ध अनुभव नहीं होता । इससे दोनो ही क्रियाएँ मोक्षमार्गमें

मोक्षहेतुतिरोधानद्वन्द्वत्वात्स्वयमेव च ।

मोक्षहेतुतिरोधायि भावत्वात्तन्निषिध्यते ॥ ९ ॥

बाधक हैं, दोनों ही बंध उपजाने वाली हैं, दोनोंमेंसे कोई अच्छी नहीं है। दोनों मोक्षमार्गमें बाधक हैं, ऐसा विचार कर मैंने क्रियाका निषेध किया है ॥ १२ ॥

ज्ञानमात्र मोक्षमार्ग है। सवैया इच्छतीना।

मुक्तिके साधकों बाधक करम सब,
 आत्मा अनादिकौ करम मांहि लुक्यौ है।
 एते पर कहै जो कि पाप बुरौ पुत्र भलौ,
 सोई महा मूढ मोख मारगसौ चुक्यौ है ॥
 सम्यक सुभाउ लिये हियेमें प्रगट्यौ ग्यान,
 उरध उमगि चलयौ काहूपें न रुक्यौ है।
 आरसीसौ उज्जल बनारसी कहत आपु,
 कारन सरूप हैकै कारजको दुक्यौ है ॥१३॥

शब्दार्थ—साधक=सिद्धि करनेवाला। लुक्यौ=छिपा। चुक्यौ (चूकौ)=भूला। उरध (ऊर्ध्व)=ऊपर। उमगि=उत्साह पूर्वक। आरसी=दर्पण। दुक्यौ=गढ़ा।

अर्थ—मुक्तिके साधक आत्माको सब कर्म बाधक हैं, आत्मा अनादिकालसे कर्मोंमें लुपा हुआ है, इतनेपर भी जो पापको बुरा

सन्यस्त यमिदं समस्तमपि तत्कर्मैः मोक्षार्थिना

सन्यस्ते सति तत्र का किल कथा पुण्यस्य पापस्य वा।

सम्यक्त्वादिनिजस्वभावाभवात् मोक्षस्य हेतुर्मेव

त्रैकम्यप्रतिबन्धमुद्धतरसं ज्ञान स्वयं धावति ॥ १० ॥

और पुण्यको भला कहता है वही महामूर्ख मोक्षमार्गसे विमुख है । जब जीवको सम्यग्दर्शन सहित ज्ञान प्रगट होता है तब वह अनिर्णय उन्नति करता है । प० बनारसीदासजी कहते हैं कि वह ज्ञान दर्पणके समान उज्ज्वल स्वयं कारण स्वरूप होकर कार्यमें रज्जु होता है अर्थात् सिद्ध पद प्राप्त करता है ।

भाचार्थ—विशुद्धतापूर्वक उदा हुआ ज्ञान किसीका रोक नहीं सकता उदता ही जाता है, सो पूर्ण अज्ञानमें जो ज्ञान उत्पन्न हुआ था वह कारण रूप था, वही कार्य रूप परिणामन करके सिद्ध स्वरूप होता है ॥ १३ ॥

ज्ञान और शुभाशुभ कर्मोंका ब्यौरा । सबैया इकतीसा ।

जौलौ अष्ट कर्मकौ विनास नांही सरवथा,
तौलौ अंतरातमामे धारा दोइ वरनी ।

एक ग्यानधारा एक सुभासुभ कर्मधारा,
दुहंकी प्रकृति न्यारी न्यारी न्यारी धरनी ॥

इतनौ विसेस जु करमधारा बंधरूप,
पराधीन सकति विविध बंध करनी ।

ग्यानधारा मोखरूप मोखकी करनहार,
दोखकी हरनहार भौ-समुद्र-तरनी ॥ १४ ॥

यात्रत्याकमुपैति कर्मविरतिर्ज्ञानस्य सम्यङ् न सा
कर्मज्ञानसमुच्चयोऽपि विहितस्तावन्न काचित्क्षति ।
किं त्वत्रापि समुल्लसत्यद्यदातो यत्कर्म उन्धाय त-
न्मोक्षाय स्थितमेकमेव परमं ज्ञान विमुक्त स्यत ॥ ११ ॥

शब्दार्थ—सरवथा(सर्गधा)=विलकुल । परार्थीन=दूसरेके धाश्रित । विविध=भौंति भौतिके । भौ (भव)=ससार । तरनी=नौका ।

अर्थ—जब तक आठों कर्म विलकुल नष्ट नहीं होते तब तक सम्यग्दृष्टीमे ज्ञानधारा और शुभाशुभ कर्मधारा दोनों वर्तती है । दोनों धाराओंका जुदा जुदा स्वभाव और जुदी जुदी सत्ता है । विशेष भेद इतना है कि कर्मधारा बधरूप है, आत्मशक्तिको परार्थीन करती है तथा अनेक प्रकार बध बढ़ाती है, और ज्ञानधारा मोक्ष स्वरूप है, मोक्षकी दाता है, दोषोको हटाती है तथा ससार सागरसे तारनेके लिये नौकाके समान है ॥ १४ ॥

यथायोग्य कर्म और ज्ञानसे मोक्ष है । सबैया इकतीसा ।

समुझै न ग्यान कहे करम कियेसौ मोख,

ऐसे जीव विकल मिथ्यातकी गहलमें ।

ग्यान पच्छ गहें कहे आत्मा अवध सदा,

वरते सुछद तेऊ बूडे है चहलमें ॥

जथा जोग करम करें पै ममता न धरे,

रहे सावधान ग्यान ध्यानकी टहलमें ।

तेई भव सागरके ऊपर ह्वे तरे जीव,

जिन्हिकौ निवास स्यादवादके महलमें ॥१५॥

मग्ना कर्मनयावलम्बनपरा ज्ञान न जानन्ति ये

मग्ना ज्ञाननयैपिणोऽपि सतत स्वच्छन्दमन्दोद्यमाः ।

विद्यस्योपरि ते तरन्ति सतत ज्ञान भवन्तः स्वय

ये क्षुर्धन्ति न कर्म जातु न धरा यान्ति प्रमादस्य च ॥ १२ ॥

शब्दार्थ—त्रिकल=वेचैन । गहल=पागलपन । सुउद=मनमाने ।
चहल=कीचड़ । साग्धान=सचेत । टहल=सेना । महल=मदिर ।

अर्थ—जो ज्ञानमे नहीं समझते और कर्मसे ही मोक्ष मानते हैं ऐसे क्रियावादी जीव मिथ्यात्वके झफ़ोरोंसे वेचैन रहते हैं । और सारज्यवादी जो सिर्फ ज्ञानका पक्ष पकड़के आत्माको सदा अवंध कहते हैं—तथा मनमाने वर्तते हैं वे भी संसारकी कीचड़में फँसते हैं । पर जो स्याद्वाद-मंदिरके निवासी है वे अपने पदस्यके अनुसार कर्म करते हैं और ज्ञान ध्यानकी सेनामें साग्धान रहते हैं वे ही ससार सागरसे तरते हैं ॥ १५ ॥

मूढ़ क्रिया तथा विचक्षण क्रियाका वर्णन । सवैया इकतीसा ।

जैसे मतवारों कोऊ कहै और करै और,
तैसें मूढ़ प्राणी विपरीतता धरतु है ।
असुभ करम वंध कारन बखानै मानै,
मुकतिके हेतु सुभ-रीति आचरतु है ॥
अंतर सुदृष्टि भई मूढता विसर गई,
ग्यानकौ उदोत भ्रम-तिमिर हरतु है ।

भेदोन्माद् भ्रमरसभराघ्राटयत्पीतमोह

मूलोन्मूल सकलमापि तत्कर्म कृत्वा घलेन ।

हेलोन्मीलत्परमकलया सार्द्धमारब्धकेलि

ज्ञानज्योति फवलिततम प्रोज्जजृम्भे भरेण ॥ १३ ॥

इति पुण्यपापाधिकार ॥ ४ ॥



करनीसों भिन्न रहै आत्म सुरूप गहै,
अनुभौ अरभि रस कौतुक करतु है ॥ १६ ॥

शब्दार्थ—मतवारौ=नशेमें उमत्त । मूढ़ प्राणी=अज्ञानी जीव ।
बखानै=कहे । मानै=श्रद्धान करे । निसर गई=दूर होगई ।

अर्थ—जैसे कोई पागल मनुष्य कुछ कहता और कुछ करता है उसी प्रकार मिथ्यादृष्टी जीवमें विपरीत भाव रहता है, वह अशुभ कर्मको बधका कारण समझता है और मुक्तिके लिये शुभ आचरण करता है । पर सचा श्रद्धान होनेपर अज्ञान नष्ट होनेसे ज्ञानका प्रकाश मिथ्या अधिकारको दूर करता है और क्रियामें विरक्त होकर आत्मस्वरूपको ग्रहण करके अनुभव धारण कर परमरसमें जानद करता है ॥ १६ ॥

चौथे अधिकारका सार ।

जिसका बध विशुद्ध भावोंसे होता है वह पुण्य और जिसका बध सक्लिष्ट भावोंसे होता है वह पाप है । प्रशस्त राग, अनुकम्पा, कल्पितारहित भाव, अरहत आदि पच परमेष्ठीकी भक्ति, व्रत, सयम, शील, दान, मंद कषाय आदि विशुद्ध भाव पुण्य बधके कारण हैं और साता, शुभ आयु, ऊंच गोन, देवगति आदि शुभ नाम पुण्य कर्म हैं । प्रमाद सहित प्रवृत्ति, चित्तकी कल्पता, विषयोंकी लोलुपता, दूसरोंको संताप देना, दूसरोंका अपवाद करना, आहार, परिग्रह, भय, मैथुन, चारों सज्ञा, तीनों बुजान, आर्त रौद्र व्यान, मिथ्यात्व, अप्रशस्त राग, द्वेष, अव्रत, असयम, बहुत आरभ, दुःख, शोक, ताप, आक्रदन, योग वक्रता,

आत्म प्रशंसा, मूढ़ता, अनायतन, तीव्र कषाय आदि संकलित भाव हैं—पाप बंधके कारण हैं। ज्ञानानरणीय, दर्शनानरणीय, असाता, मोहनीय, नर्क जायु, पशु गति, अशुभ नाम, नीच गोत्र, अतराय आदि पाप कर्म हैं।

अशुभ परणति और शुभ परणति दोनों आत्माके विभाव हैं, दोनों ही आस्रव भव रूप हैं समर निर्जराके कारण नहीं हैं, इमरिपे दोनों ही मुक्ति मार्गमें बाधक हैं और मुक्ति मार्गमें पातक होनेसे पाप और पुण्य दोनों एक ही हैं। यद्यपि दोनोंके कारण, रस, स्वभाव, फलसे अंतर है तथा पुण्य प्रिय और पाप अप्रिय लगता है, तौ भी सोनेकी बेड़ी और लोहेकी बेड़ीके समान दोनों ही जीवको संसारमें संस्रण करानेवाले हैं। एक शुभोपयोग और दूसरा अशुभोपयोग है, शुद्धोपयोग कोई भी नहीं है, इससे मोक्षमार्गमें दोनोंकी सराहना नहीं है। दोनों ही हेय हैं, दोनों आत्माके विभाव भाव हैं, स्वभाव नहीं हैं, दोनों पुट्टल जनित हैं, आत्मा जनित नहीं हैं, इनसे मुक्ति नहीं हो सकती और न केवलज्ञान प्रगट होता है।

आत्मामें स्वभाव विभाव दो प्रकारकी परणति होती है, स्वभाव परणति तो वीतराग भाव है और विभाव परणति राग द्वेष रूप है। इन राग और द्वेषमेंसे द्वेष तो सर्वथा पाप रूप है, परंतु राग प्रज्ञान और अप्रशस्तके भेदसे दो प्रकारका है, सो प्रज्ञान राग पुण्य है और अप्रशस्त राग पाप है। सम्यग्दर्शन उत्पन्न होनेके पहले स्वभाव भावका उदय ही नहीं होता, अतः मिथ्यात्वकी दृशामें जीवकी शुभ वा अशुभरूप विभाव परणति ही रहती है, सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति हुए पीछे कर्मका सर्वथा

सम्यग्दृष्टी जीव निरास्रव है । दोहा ।

* जहां न रागादिक दसा, सो सम्यक परिनाम ।
याते सम्यकवतकौ, कह्यौ निरास्रव नाम ॥ १० ॥

अर्थ—जहा राग द्वेष मोह नहीं हैं, वह सम्यक्त्व मात्र है,
इसीसे सम्यग्दृष्टीको आस्रव रहित कहा है ॥ १० ॥

निरास्रवी जीवोंका वाद । सबैया इस्तीसा ।

जे केई निकटभव्यरासी जगवासी जीव,
मिथ्यामत भेदि ग्यान भाव परिनए हैं ।
जिन्हिकी सुदृष्टिमें न राग द्वेष मोह कह,
विमल विलोकनिमें तीनों जीति लए हैं ॥
तजि परमाद घट सोधि जे निरोधि जोग,
सुद्ध उपयोगकी दसामें मिलि गए हैं ।
तेई बधपद्धति विदारि परसग डारि,
आपमें मगन हैकै आपरूप भए हैं ॥ ११ ॥

शब्दार्थ—सुदृष्टि=सच्चा ध्यान । विमल=उज्ज्वल । विलोकनि=
ध्यान । परमाद=असावगानी । घट=हृदय । सोधि=साफ करके । सुद्ध
उपयोग=धीतराग परणति । विदारि=हटाकर ।

धर्ष्यास्य शुद्धनयमुद्धतयोधचिह्न
मैनाग्रमेव कलयन्ति सदैव ये ते ।
रागादिमुक्कमनसः सतत भवन्तः
पश्यन्ति यधविधुर समयस्य सार ॥ ८ ॥

अर्थ—जो कोई निरुद्ध भव्यराशि ससारी जीव मिथ्यात्वको छोड़कर सम्यग्भाव ग्रहण करते हैं, जिन्होंने निर्मल श्रद्धानसे राग द्वेष मोह तीनोंको जीत लिया है और जो प्रमादको हटाकर, चित्तको शुद्ध करके, योगोका निग्रह कर शुद्ध उपयोगमें लीन हो जाते हैं, वे ही मन्ध परपराको नष्ट करके पर वस्तुका सम्बन्ध छोड़कर, अपने रूपमें मग्न होकर निज स्वरूपको प्राप्त होते हैं अर्थात् सिद्ध होते हैं ॥ ११ ॥

उपशम तथा क्षयोपशम भाजोंकी अस्थिरता । सधेया इकतीस्ता ।

जेते जीव पंडित खयोपसमी उपसमी,
 तिन्हकी अवस्था ज्यों लुहारकी संडासी है ।
 खिन आगमांहि खिन पानीमांहि तैसें एऊ,
 खिनमें मिथ्यात खिन ग्यानकला भासी है ॥
 जौलों ग्यान रहै तौलों सिथिल चरन मोह,
 जैसें कीले नागकी सकति गति नासी है ।
 आवत मिथ्यात तव नानारूप बंध करै,
 ज्यों उकीले नागकी सकति परगासी है ॥१२॥

प्रच्युत्य शुद्धनयत पुनरेव ये तु

रागादियोगमुपयान्ति विमुक्तयोधाः ।

ते कर्मबन्धमिह विम्रति पूर्वबन्ध-

द्रव्यास्रबंधः कृतविचित्रविकल्पजालम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ—पटित=सम्यग्दृष्टी । खिन (क्षण)=यहाँ क्षणसे अंतर मुहूर्तका प्रयोजन है । सिथिल=कमजोर । कीले=मंत्र वा जड़ीसे बंधे हुए । नाग=सर्प । उकीले=मंत्र बंधनसे मुक्त । सन्ति (शक्ति)=बल । परगासी (प्रकाशी)=प्रगट की ।

अर्थ—जिस प्रकार लुहारकी सँडासी कमी अग्रिमे तप्त और कमी पानीमे शीतल होती है उसी प्रकार क्षयोपशमिक और औपशमिक सम्यग्दृष्टी जीनोंकी दशा है अर्थात् कमी मिथ्यात्व भाव प्रगट होता है और कमी ज्ञानकी ज्योति जगमगाती है । जब तक ज्ञान रहता है तब तक चारित्र मोहनीयकी शक्ति और गति कीले हुए सर्पके समान शिथिल रहती है, और जब मिथ्यात्व रस देता है तब वह उकीले हुए सर्पकी प्रगट हुई शक्ति और गतिके समान जनत कर्मोंका बध बढ़ाता है ।

विशेष—उपशम सम्यक्त्वका उत्कृष्ट व जघन्यकाल अतर-मुहूर्त है और क्षयोपशम सम्यक्त्वका उत्कृष्ट काल च्यासठ सांगर और जघन्यकाल अतर मुहूर्त है । ये दोनो सम्यक्त्व नियमसे नष्ट ही होते हैं, सो जब तक सम्यक्त्व भाव रहता है तब तक आत्मा एक विलक्षण शान्ति और आनंदका अनुभव करता है और जब सम्यक्त्व भाव नष्ट होनेसे मिथ्यात्वका उदय होता है तब आत्मा अपने स्वरूपसे चिगकर कर्म परपराको बढ़ाता है ॥ १२ ॥

१ अनतानुबंधीकी चार धार दर्शन मोहनीयकी तीन इन सात प्रकृतियोंका उपशम होनेसे उपशम सम्यक्त्व होता है । २ अनतानुबंधीकी चौकड़ी आर मिथ्यात्व तथा सम्यक्मिथ्यात्व इन छह प्रकृतियोंका अनोदय और सम्यक् प्रकृतिका उदय रहते क्षयोपशम सम्यक्त्व होता है । ३ अनंत संसारकी अपेक्षा यह काल भी थोड़ा है ।

अशुद्ध नयसे बंध और शुद्ध नयसे मुक्ति है । दोहा ।
 यह निचोर या ग्रंथकौ, यहै परम रसपोख ।
 तजै सुद्धनय बंध है, गहै सुद्धनय मोख ॥ १३ ॥

शब्दार्थ—निचोर=सार । पोख=पोपक । मोख=मोक्ष ।

अर्थ—इस शास्त्रमें सार ज्ञात यही है और यही परम तत्त्वकी पोपक है कि शुद्धनयकी रीति छोड़नेसे बन्ध और शुद्धनयकी रीति ग्रहण करनेसे मोक्ष होता है ॥ १३ ॥

जीवकी चाह तथा अतरंग अवस्था । सचेया इकतीसा ।

करमके चक्रमे फिरत जगवासी जीव,
 है रह्यौ बहिरमुख व्यापत विपमता ।
 अंतर सुमति आई विमल बडाई पाई,
 पुद्गलसौं प्रीति टूटी छूटी माया ममता ॥
 सुद्धनै निवास कीनौ अनुभौ अभ्यास लीनौ,
 भ्रमभाव छांड़ि दीनौ भीनौ चित्त समता ।
 अनादि अनंत अविकल्प अचल ऐसौ,
 पद अवलंबि अवलोकै राम रमता ॥ १४ ॥

इदमेवात्र तात्पर्यं हेय शुद्धनयो न हि ।

नास्ति बन्धस्तदत्यागात्तत्यागाद्यन्ध एव हि ॥ १० ॥

धीरोदारमहिम्ननादिनिधने बोधे नियधनभृतिम्

त्याज्य शुद्धनयो न जातु क्वचित् सर्वकप कर्मणाम् ।

तत्रस्था स्वमरीचिचक्रमचिरात्सहस्य निर्यहहि

पूर्णे ज्ञानधनौघमेकमचल पदयन्ति शान्त मह ॥ ११ ॥

संवर द्वार ।

(६)

प्रतिष्ठा । दोहा ।

आस्रवकौ अधिकार यह, कह्यौ जथावत जेम ।
अव संवर वरनन करौ, सुनहु भविक धरि प्रेम ॥१॥

शब्दार्थ—आस्रव=वधका कारण । जयावत=जैसा चाहिये
वैसा । संवर=आश्रयका निरोध । वरनन=रुयन । भविक=ससारी ।

अर्थ—आस्रवका अधिकार यथार्थ वर्णन किया, अन संवरका
स्वरूप कहता हूँ, सो हे भव्यो ? तुम प्रेम पूर्वक सुनो ॥ १ ॥

ज्ञान रूप संवरको नमस्कार । सबैया इकतीखा ।

आत्मकौ अहित अध्यात्मरहित ऐसो,
आस्रव महात्म अखड अडवत है ।

ताकौ विसतार गिलिवेकौ परगट भयौ,
ब्रह्मडको विकासी ब्रह्मडवत है ॥

जामें सब रूप जो सबमैं सबरूपसौ पै,
सबनिसों अलिप्त आकाश-खडवत है ।

आससारविरोधिभवजयैकान्ताप्रतिष्ठास्रव

न्यङ्गारात्प्रतिलब्धनित्यविजय सम्पादयत्सवरम् ।

व्यावृत्त पररूपतो नियमित सम्यक्स्वरूपे स्फुर

ज्योतिधि मयमुञ्जल निजरसप्राग्भरापुञ्जुम्भते ॥ १ ॥

सोहै ग्यानमान सुद्ध संवरकौ भेष धरै,
ताकी रुचि-रेखकौ हमारी दंडवत है ॥ २ ॥

शब्दार्थ—अहित=बुराई करनेवाला । अध्यातम=आत्म अनुभव । महात्म=घोर अधकार । अखंड=पूरा । अडरत=अडाकार । विस्तार= फैलाव । गिलिप्रेकौ=निगलनेके लिए । ब्रह्मड (ब्रह्माड)=त्रैलोक्य । विकास=उजेल । अलिप्त=अलग । आकास खट=आकाशका प्रदेश । मान (मानु)=सूर्य । रुचि-रेख=किरण रेखा, प्रकाश । दंडवत=प्रणाम ।

अर्थ—जो आत्माका घातक है और आत्म-अनुभवसे रहित है ऐसा आकाश रूप महा अधकार अखंड अडाके समान जगतके सब जीवोंको घेरे हुए है । उसको नष्ट करनेके लिये त्रिजगत निकासी सूर्यके समान जिसका प्रकाश है और जिममें सब पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं तथा आप उन सब पदार्थोंके आकार रूप होता है, तौ भी आकाशके प्रदेशके समान उनसे अलिप्त रहता है, वह ज्ञानरूपी सूर्य शुद्ध सत्परके भेषमे है उसकी प्रभाको हमारा प्रणाम है ॥ २ ॥

भेदविज्ञानका महत्त्व । सधैया तेईसा ।

सुद्ध सुछंद अभेद अवाधित,

भेद-विग्यान सुतीछन आरा ।

१ 'ज्ञायक ज्ञेयाकार' अथवा 'ज्ञेयाकार ज्ञानका परिणति' यह व्यवहार यत्न है ।

चैद्रूप्य जडरूपता च दधतोः कृत्वा विभाग द्वयो-
रन्तर्दाखणदारुणेन परितो ज्ञानस्य रागस्य च ।

भेदज्ञानमुदेति निर्म्मलमिदं मोद्धमध्यासिता

शुद्धज्ञानधनौघमेकमधुना सत्तो द्वितीयच्युता ॥ २ ॥

भेरविज्ञानशी बियाके इष्टान्त । सवैया इफतीसा ।
 जैसे रजसोधा रज सोधिऊँ दरव काटे,
 पावरु कनक काढि दाहत उपलकाँ ।
 पकके गरभमे ज्यौं डारिये कुतक फल,
 नीर करे उज्जल नितारि डारै मलकाँ ॥
 दधिकौ मयैया भधि काढै जैसे माग्गनकाँ,
 राजहंस जैसे दूध पीवै त्यागि जलकाँ ।
 तैसें ग्यानवत भेदग्यानकी सकति साधि,
 ते निज मपति उछेदै पर दलकाँ ॥ १० ॥

निर्मली डालनेसे वह पानीको साफ करके मेल हटा देती है, दहीका मथनेवाला दही मथकर मखनको निकाल लेता है, ईस दूध पी लेता है और पानी छोड़ देता है; उसी प्रकार ज्ञानीलोग भेदविज्ञानके बलसे आत्म सम्पदा ग्रहण करते हैं, और रागद्वेष आदि वां पुद्गलादि पर पदार्थोंको त्याग देते हैं ॥ १० ॥

मोक्षका मूल भेदविज्ञान है । छप्पय छन्द ।

प्रगटि भेद विग्यान, आपगुन परगुन जानै ।
पर परनति परित्याग, सुद्ध अनुभौ थिति ठानै ॥
करि अनुभौ अभ्यास, सहज संवर परगासै ।
आस्रव द्वार निरोधि, करमघन-तिमिर विनासै ॥

छय करि विभाव समभाव भजि,

निरविकल्प निज पद गहै ।

निर्मल विसुद्ध सासुत सुथिर,

परम अर्तीन्द्रिय सुख लहै ॥ ११ ॥

शब्दार्थ—परित्याग=छोड़कर । थिति ठानै=स्थिर करे । परगासै (प्रकाश) =प्रगट करे । निरोधि=रोककर । तिमिर=अधकार । समभाव=समताभाव । भजि=ग्रहण करके । सास्वत=स्वयं सिद्ध । सुथिर=अचल । अर्तिन्द्रिय=जो इन्द्रिय गोचर नहीं ।

अर्थ—भेदविज्ञान आत्माके और परद्रव्योंके गुणोंको स्पष्ट जानता है, परद्रव्योंसे आपा छोड़कर शुद्ध अनुभवमें स्थिर होता है और उसका अभ्यास करके सवरको प्रगट करता है, आस्रव द्वारका निग्रह करके कर्मजनित महा अंधकार नष्ट करता है,

भेदविधानकी क्रियाके दृष्टान्त । सवैया इकतीसा । ---
 जैसे रजसोधा रज सोधिके दरब काढै,
 पावक कनक काढि दाहत उपलकों ।
 पकके गरभमें ज्यों डारिये कुतक फल,
 नीर करै उज्जल नितारि डारै मलकों ॥
 दधिकौ मथैया मथि काढै जैसे माखनकौ,
 राजहंस जैसे दूध पीवै त्यागि जलकों ।
 तेसे ग्यानवत भेदग्यानकी सकति साधि,
 वेदै निज सपति उछेदै पर-दलकों ॥ १० ॥

शब्दार्थ—रज=धूल । दरब (द्रव्य)=सोना चांदी । पावक=अग्नि । कनक=सोना । दाहत=जलाता है । उपल=पत्थर । पक=कौब । गरभ=भीतर । कुतक फल=निर्मली । वेदै=अनुभव करे । उछेदै (उछेदै)=त्याग करे । पर-दल=आत्माके सिवाय अन्य पदार्थ ।

अर्थ—जैसे रजसोधा धूल शोधकर सोना चांदी ग्रहण कर लेता है, अग्नि धातुको गलाकर सोना निकालती है, कर्दममें

भेदज्ञानोच्छलनकलनाच्छुद्धतरवोपरम्मा
 द्रागप्रामप्रलयकरणात्कर्मणा स्वरेण ।
 त्रिभ्रत्तोष परमममलालोरुमभ्यान्मेक
 ज्ञान ज्ञाने नियतमुदित शाश्वतोद्योतमेतत् ॥ ८ ॥

इति सवराधिकार ॥ ६ ॥

निर्मली डालनेसे वह पानीको साफ करके मूल हटा देती है, दहीका मथनेवाला दही मथकर मंखनको निकाल लेता है, हम दूध पी लेता है और पानी छोड़ देता है, उसी प्रकार ज्ञानीलोग भेदविज्ञानके जलसे आत्म सम्पदा ग्रहण करते हैं, और रागद्वेष आदि वा पुद्गलादि पर पदार्थोंको त्याग देते हैं ॥ १० ॥

मोक्षका मूल भेदविज्ञान है । छप्पय छन्द ।

प्रगटि भेद विग्यान, आपगुन परगुन जानै ।
पर परनति परित्याग, सुद्ध अनुभौ थिति ठानै ॥
करि अनुभौ अभ्यास, सहज संवर परगासै ।
आस्रव द्वार निरोधि, करमघन-तिमिर विनासै ॥

छय करि विभाव समभाव भजि,

निरविकल्प निज पद गहै ।

निर्मल विसुद्ध सासुत सुथिर,

परम अतीन्द्रिय सुख लहै ॥ ११ ॥

शब्दार्थ—परित्याग=छोड़कर । थिति ठानै=स्थिर करे । परगासै (प्रकाशै)=प्रगट करे । निरोधि=रोककर । तिमिर=अधकार । समभाव=समताभाव । भजि=ग्रहण करके । सास्रवत=स्वय सिद्ध । सुथिर=अचल । अतिन्द्रिय=जो इन्द्रिय गोचर नहीं ।

अर्थ—भेदविज्ञान आत्माके और परद्रव्योंके गुणोंको स्पष्ट जानता है, परद्रव्योंसे आपा छोड़कर शुद्ध अनुभवमे स्थिर होता है और उसका अभ्यास करके सत्रको प्रगट करता है, आस्रव द्वारका निग्रह करके कर्मजनित महा अंधकार नष्ट करता है,

रागद्वेष आदि विमान छोटकर समता भाव ग्रहण करता है और विकल्प रहित अपना पद पाता है तथा निर्मल, शुद्ध, अनेक, अचल और परम अतिंद्रिय सुख प्राप्त करता है ॥ ११ ॥

छठे अधिकारका सार ।

पूर्व अधिकारमें कह आये हैं कि मिथ्यात्व ही आसन्न है, इसलिये आसन्नका निरोध अर्थात् सम्यग्त्व सार है। यह मंत्र निर्जराका और अनुक्रमसे मोक्षका कारण है। जब आत्मा स्वयं बुद्धिसे अथवा श्रीगुरुके उपदेश आदिसे आत्म अनात्मका भेद-विज्ञान अथवा स्वभाव विमानकी पहिचान करता है तब सम्यग्दर्शन गुण प्रगट होता है। स्वको स्व और परको पर जानना इसीका नाम भेदविज्ञान है, इसीको स्वपर विवेक कहते हैं। 'तासु ज्ञानको कारण स्व पर विवेक गयाना' की उक्तिसे भेदविज्ञान सम्यग्दर्शनका कारण है। जिम प्रकार कपडा साफ करनेमें साबुन सहायक है उसी प्रकार सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिमें भेदविज्ञान सहायक होता है और जब कपडे साफ हो जायें तब साबुनका कुछ काम नहीं रहता और यदि साबुन हो तो एक बोझ ही होता है उसी प्रकार सम्यग्दर्शन हुए पीछे जब स्वपरके विकल्पकी आवश्यकता नहीं रहती तब भेदविज्ञान हेय ही होता है। भाव यह है कि भेदज्ञान प्रथम अवस्थामें उपादेय है और सम्यग्दर्शन निर्मल हुए पीछे उसका कुछ काम नहीं है, हेय है। भेदविज्ञान यद्यपि हेय है तो भी सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिका कारण होनेसे उपादेय है, इसलिये स्वगुण और परगुणकी परख करके पर परणतिसे विरक्त होना चाहिये और शुद्ध अनुभवका अभ्यास करके समता भाव ग्रहण करना चाहिये।

निर्जरा द्वार ।

(७)

प्रतिज्ञा दोहा ।

वरनी संवरकी दसा, जथा जुगति परवांन ।

मुकति वितरनी निरजरा, सुनहु भविक धरि कान १

शब्दार्थ—जथा जुगति परवान=जैसी आगममें कही है । वितरनी=देने वाली ।

अर्थ—जैसा आगममें सवरका कथन है वैसा वर्णन किया, हे भव्यो ! अब मोक्ष दायनी निर्जराका कथन कान लगाकर सुनो ॥ १ ॥

भगलाचरण चौपाई ।

*जो संवरपद पाइ अनंदै ।

सो पूरवकृत कर्म निकंदै ॥

जो अफंद है वहुरि न फंदै ।

सो निरजरा बनारसि वंदै ॥ २ ॥

शब्दार्थ—अनंदै=प्रसन्न होवे । निकंदै=नष्ट करे । अफंद=सुलझना । फंदै=उलझे ।

* रागाद्यास्यरोधतो निजधुरा घृत्वा परं सवर
कर्मागामि समस्तमेव भरतो दूरान्निबन्धन् स्थित ।
प्राग्यस्य तु तदेव दग्धुमघुना व्याजृम्भते निर्जरा
ज्ञानज्योतिरपावृत न हि यतो रागादिभिर्मुञ्चते ॥ १ ॥

अर्थ—जो सपरकी अप्रत्या प्राप्त करके आनंद करता है, जो पूर्वमे बंधे हुए कर्मोंको नष्ट करता है, जो कर्मके फंदेसे छूटकर फिर नहीं फँसता, उम निर्जरा भावको पण्डित मनारसी-दासजी नमस्कार करते हैं ॥ २ ॥

ज्ञान वैराग्यके बलसे शुभाशुभक्रियायोंसे भी बंध नहीं होता। बोधा।

महिमा सम्यग्ज्ञानकी, अरु विरागवल जोड़।

क्रिया करत फल भुजते, करम बंध नहि होइ ॥३॥

शब्दार्थ—महिमा=प्रभाव। अरु=और। भुजते=भोगते हुए।

अर्थ—सम्यग्ज्ञानके प्रभाबसे और वैराग्यके बलसे शुभाशुभ क्रिया करते और उसका फल भोगते हुए भी कर्म बंध नहीं होता है ॥ ३ ॥

भोग भोगते हुए भी ज्ञानियोंको कर्म कालिमा नहीं लगती।
सबेया इक्तीसा।

जैसे भूप कौतुक सरूप करे नीच कर्म,
कौतुकी कहावै तासो कौन कहै रक है।
जैसे विभचारिनी विचारै विभचार वाकौ,
जारहीसो प्रेम भरतासो चित बक है ॥
जैसे धाइ बालक चुँघाइ करै लालिपालि,
जानै ताहि औरको जदपि वाकै अक है।

* तज्ज्ञानस्यैव सामर्थ्यं विरागस्यैव वा किल।

यत्कौऽपि कर्मभिः कर्मं भुञ्जानोऽपि न बध्यते ॥ २ ॥

तैसे ग्यानवंत नाना भाँति करतूति ठानै,
किरियाको भिन्न मानै याते निकलंक है ॥४॥

शब्दार्थ—भूप=राजा । कौतुक=खेल । नीच कर्म=छोटा काम ।
रंक=रंगाल । वाकौ=उसका । चार (यार)=दोस्त । भरता=पति ।
बँध=विमुख । चुँवाई=पिटाकर । अंक=गोद । निकलंक=निर्दोष ।

। अर्थ—जिम प्रकार राजा खेल स्वरूप छोटा काम करे तौ
भी वह सिलाड़ी कहलाता है उसे कोई गरीब नहीं कहता,
अथवा जैसे व्यभिचारिणी स्त्री पतिके पाम रहे तौ भी उमका
चित्त यारहीमें रहता है—पतिसे प्रेम नहीं गृहता, अथवा जिम
प्रकार घाय गालकको दूध पिलाती, लालन पालन करती और
गोदमें लेती है, तौ भी उसे दूसरेका जानती है, उन्ही प्रकार
ज्ञानीजीव उदयकी प्रेरणासे भाँति भाँतिकी शुभाशुभ क्रिया
करता है, परन्तु उम क्रियाको आत्मस्वभावसे भिन्न कर्म-
जनित मानता है, इससे मम्यग्नानी जीवको कर्मकालिमा नहीं
लगती ॥ ४ ॥ पुनः

जैसे निसि वासर कमल रहे पंकहीमें,
पंकज कहावे पै न वाके डिग पंक हे ।
जैसे मंत्रवादी विपधरसो गहावे गात,
मंत्रकी सकति वाके विना-विप डंक है ॥

१ पपेपर चढ़ना आदि । २ गृहवासी तीर्थकर, भक्त चक्रवर्ती, राजा धेजिक
आदिकी तरह ।

स्वरूपको देखते हैं और जीव अनीन तत्त्वोंका निर्णय करते हैं। वे आत्म अनुभव का निज स्वरूपमें स्थिर होते हैं तथा समार समुद्रसे आप स्वयं तरते हैं या दूमरोंको तारते हैं। इस प्रकार आत्मतत्त्वको सिद्ध करके कर्मोंका फटा हटा देते हैं और मोक्षका आनन्द प्राप्त करते हैं ॥ ७ ॥

सम्यग्ज्ञानने विना सम्पूर्ण चाटिय निस्तार हे । सर्वैया तेईसा ।

जो नर सम्यकवत कहावत,
 सम्यकग्यान कला नहि जागी ।
 आत्म अंग अवध विचारत,
 धारत संग रुहै हम त्यागी ॥
 भेष धरै मुनिराज-पटतर,
 अतर मोह महा-नल दागी ।
 सुन्न हिये करतूति करै पर,
 सो सठ जीव न होय विरागी ॥ ८ ॥

१ जीवने अनादि कालसे देहारि पर वस्तुओंको अपनी मान रखती थीं सो उस दृष्टको छोड़ देता है और अपने उनसे पृथक् मानने लगता है ।
 २ धर्मोपदेश देकर ।

शब्दार्थ—संग=परिग्रह । पटतर (पटतर)=समान । महानल=
वेद अग्नि । सठ=मूर्ख ।

अर्थ—निस मनुष्यके सम्यग्ज्ञानकी किरण तौ प्रगट हुई नहीं
और अपनेको मय्यगदष्टी मानता है । वह निजात्म स्वरूपको अग्रंथ
चिन्तन करता है, शरीर जादि परवस्तुमें ममत्व रखता है और
बहता है कि हम त्यागी हैं । वह मुनिराजके समान भेष धरता
है परन्तु अंतरगमं मोहकी महा ज्वाला घघती है, यह शून्य
हृदय होकर (मुनिराज जैसी) किया करता है परन्तु वह मूर्ख
है, वास्तवमें साधु नहीं है द्रव्यलिंगी है ॥ ८ ॥

भेदविज्ञानके विना समस्त चारित्र निस्तार है । स्वैया तेईसा ।

ग्रन्थ रचै चरचै सुभ पंथ,

लखै जगमें विवहार सुपत्ता ।

साधि संतोष अराधि निरंजन,

देइ सुसीख न लेइ अदत्ता ॥

नंग धरंग फिरै तजि सग,

छकै सरवंग मुधा रसमत्ता ।

ए करतूति करै सठ पै,

समुझै न अनात्म-आत्म-सत्ता ॥ ९ ॥

शब्दार्थ—क्रिया=चारित्र । अजगहै=प्रहण करे । अजान=मूर्ख ।
मूढ़निमें=मूर्खनिमें । मुखिया=प्रधान ।

अर्थ—जो सम्यग्ज्ञानके विना चारित्र धारण करता है, वा
बिना चारित्रके मोक्ष पद चाहता है, तथा विना मोक्षके अपनेको
सुखी कहता है, वह अज्ञानी है मूर्खोंमें प्रधान अर्थात् महामूर्ख
है ॥ ११ ॥

श्रीगुरुका उपदेश अज्ञानी जीव नहीं मानते । सबैया इकतीसा ।

जगवासी जीवनिसे गुरु उपदेस कहै,
तुमे इहां सोवत अनंत काल वीते हैं ।
जागौ है मचेत चित्त समता समेत सुनौ,
केवल-वचन जाँमै अक्ष-रस जीते हैं ॥
आवौ मेरै निकट वताऊ मैं तुम्हारे गुन,
परम सुरस-भरे करमसों रीते है ।
ऐसे वैन कहै गुरु तौऊ ते न धरै उर,
मित्रकैसे पुत्र किधों चित्रकेसे चीते हैं ॥१२॥

शब्दार्थ—चित्रकैसे चीते=चित्रमें बने हुए ।

आससारात्प्रतिपदममी रागिणो नित्यमत्ता

सुप्ता यस्मिन्नपदमपद तद्विबुध्यध्वमधा ।

एतैतेतः पदमिदमिद यत्र चैतन्यघातुः

शुद्ध शुद्धः स्वरसमरत स्यायिमाप्रत्यमेति ॥ ६ ॥

अर्थ—श्रीगुरु जगवासी जीवोंको उपदेश करते हैं कि, तुम्हें इस संसारमें मोह निद्रा लेते हुए अनंत काल बीत गया; अब तो जागो और सावधान वा शान्त चित्त होकर भगवानकी चाणी सुनो, जिससे इन्द्रियोंके विषय जीते जा सकते हैं। मेरे समीप आओ, मैं कर्म कलक रहित परम आनन्दमय तुम्हारे आत्माके गुण तुम्हें बताऊँ। श्रीगुरु ऐसे वचन कहते हैं तो भी ससारी मोहीजीव कुछ ध्यान नहीं देते, मानो वे मिट्टीके पुतले हैं अथवा चित्रमें लिखे हुए मनुष्य हैं ॥ १२ ॥

जीवकी शयन और जाग्रत दशा कहनेकी प्रतिज्ञा । दोहा ।

एतेपर वहुरों सुगुरु, बोलें वचन रसाल ।

सैन दसा जाग्रत दसा, कहै दुहूँकी चाल ॥१३॥

शब्दार्थ—रसाल=मीठे । सैन (शयन)=सोती हुई । दसा=अवस्था ।

अर्थ—इतनेपर फिर कृपालु सुगुरु जीवकी निद्रित और जाग्रत दशाका कथन मगुर वचनोंमें कहते हैं ॥ १३ ॥

जीवकी शयन अवस्था । सवैया इकतीसा ।

काया चित्रसारीमें करम परजंक भारी,

मायाकी संवारी सेज चादरि कल्पना ।

सैन करै चेतन अचेनता नींद लियै,

मोहकी मरोर यहै लोचनको ढपना ॥

उदै बल जोर यहै स्वामको सबद घोर,
 विषै-सुरस कारजकी दौर यहै सपना ।
 ऐसी मूढ दसामे भगन रहे तिहू काल,
 धावै भ्रम जालमें न पावै रूप अपना ॥१७॥

शब्दार्थ—काया=शरीर । चित्रमारी=शयनागार, निद्रा छेनेकी जगह । संगरी (संगरी)=सजी । परजक (पर्यक)=पटंग । सेज=विस्तर । चादरि=ओढ़नेका वस्त्र । अचेतना=शून्यता भूटना । छेचन=नेत्र । स्वासको सबद=धुरकना ।

अर्थ—शरीररूपी महलमें कर्मरूपी गडा पलंग है, मायाकी सेज सजी हुई है, कल्पनारूपी चादर है, स्वरूपकी भूलरूप नींद ले रहा है, मोहके झकोरामे नेत्रोंके पलक ढँक ग्हे है, कर्मादयकी जबरदस्ती धुरकनेकी आज्ञा है, विषय सुरके कायोंके हेतु भटकना यह भ्रम है; गेमी अतान अग्रथामे आत्मा मग्न मग्न होकर मिथ्यात्वमे भटकता फिरता है परन्तु अपने आत्म-स्वरूपको नहीं देखता ॥ १४ ॥

जीवकी जाग्रत दशा । सर्वथा इच्छतीता ।

चित्रसारी न्यारी परजक न्यारो मेज न्यारी,
 चादरि भी न्यारी इहां झूठी मेरी अपना ।
 अतीत अवस्था सैन निद्रा वाहि कोउ पै,
 न विद्यमान पलक न यामे अब छपना ॥

१ जब राग द्वेषके बाध निमित्त नहीं मिलते तब मनमं भौति भौतिके संकल्प विकल्प करना ।

स्वास औ सुपन दोऊ निद्राकी अलंग वृद्धै,
सूद्धै सब अंग लखि आत्म दरपना ।
त्यागी भयौ चेतन अचेतनता भाव त्यागि,
भालै दृष्टि खोलिकै संभालै रूप अपना ॥१५

शब्दार्थ—घपना=स्थापना । अतीत=भूतकाळ । निद्रानाहि=सोने
पाळा । यामें=इसमें । छपना=लगाना । अलग=संबध । दरपना=दर्पण ।
भालै=देखे ।

अर्थ—जब सम्यग्ज्ञान प्रगट हुआ तब जीव विचारता है
कि शरीररूप महल जुदा है, कर्मरूप पलंग जुदा है, मायारूप
सेज जुदी है, कल्पनारूप चादर जुदी है, यह निद्रास्थिति
मेरी नहीं है—पूर्वकालमें सोनेवाली मेरी दूसरी ही पर्याय
थी । अब वर्तमानका एक पल भी निद्रामें नहीं बिताऊंगा ।
उदयका निश्वास और विषयका स्वप्न ये दोनों निद्राके सयोगसे
दिखते थे अब आत्मरूप दर्पणमें मेरे समस्त गुण दिखने लगे ।
इस प्रकार आत्मा अचेतन भावोंका त्यागी होकर ज्ञानदृष्टिसे
देखकर अपने स्वरूपको सम्हालता है ॥ १५ ॥

जाग्रत दशाका फल । दोहा ।

इहि विधि जे जागे पुरुष, ते शिवरूप सदीव ।
जे सोवहि संसारमें, ते जगवासी जीव ॥ १६ ॥

शब्दार्थ—इह विधि=इस प्रकार । जागे=सचेत हुए । ते=वे ।
सदीव (सदैव)=हमेशा । जगवासी=संसारी ।

अर्थ—जो जीव ससारमें इस प्रकार आत्म अनुभव करके सचेत हुए हैं वे सदैव मोक्ष रूपही हैं और जो अचेत हुए सो रहे हैं वे ससारी हैं ॥ १६ ॥

आत्म अनुभव ग्रहण करनेकी शिक्षा । दोहा । /

*जो पद भौपद भय हरै, सो पद सेऊ अनूप ।

जिहि पद परसत और पद, लगे आपदारूप १७

शब्दार्थ—भौ (भव)=संसार । सेऊ=स्वीकार करो । अनूप=उपमा रहित । परसत (स्पर्शत)=ग्रहण करते ही । आपदा=कष्ट ।

अर्थ—जो जन्म मरणका भय हटाता है, उपमा रहित है, जिसे ग्रहण करनेसे और सब पद विपत्तिरूप भासने लगते हैं उस आत्म अनुभवरूप पदको अगीकार करो ॥ १७ ॥

संसार सर्वथा असत्य है । सबैया इकतीसा ।

जब जीव सोवै तब समुझै सुपन सत्य,

वहि झूठ लागै जब जागै नींद सोइकै ।

जागै कहै यह मेरौ तन मेरी सौज,

ताहू झूठ मानत मरन धिति जोइकै ॥

जानै निज भरम मरन तब सूझै झूठ,

बूझै जब और अवतार रूप होइकै ।

१ इन्द्र धरणेन्द्र नरेन्द्रादि ।

*एकमेव हि तत्स्वाद्य विपदात्मपद पदम् ।

अपदायेन भासते पदायन्यानि यत्पुर ॥ ७ ॥

बाहू अवतारकी दसामें फिरि यहै पेच,

याही भांति झूठौ जग देख्यौ हम टोड़कै ॥१८

शब्दार्थ—सोंज=वस्तु । अवतार=जन्म । टोड़कै=खोज करके ।

अर्थ—जन्म जीव सोता है तन् स्वप्नको मत्स्य मानता है, जन्म जागता है तन् वह झूठा दिखता है और शरीर वा धन सामग्रीको अपनी गिनता है । पश्चात् मृत्युका खयाल करता है तन् उन्हें भी झूठी मानता है, जन्म अपने स्वरूपका विचार करता है तन् मृत्यु भी असत्य दिखती है और दूसरा अवतार सत्य दिखता है । जन्म दूसरे अवतारपर विचार करता है तन् फिर इसी चक्करमें पड जाता है, इस प्रकार खोजकर देखा तो यह जन्म मरणरूप सत्र समार झूठ ही झूठ दिखता है ॥ १८ ॥

सम्यग्ब्रह्मानीका आचरण । सधिया इकर्तासा ।

पंडित विवेक लहि एकताकी टेक गहि,

दुंदज अवस्थाकी अनेकता हरतु है ।

मति श्रुति अवधि इत्यादि विकल्प भेदि,

निरविकल्प ग्यान मनमें धरतु है ॥

इंद्रियजनित सुख दुखसों विमुख हैंकै,

परमके रूप है करम निर्जरतु है ।

एकशायकभावनिर्भरमहास्वाद् समासादयन्

स्थाद् द्वन्द्वमय विधातुमसहः स्यात्स्तुवृत्ति विदन् ।

आत्मात्मानुभवानुभावविधिशो ब्रह्मस्यद्विशेषोद्दय

सामान्य फलयत्किंलैष सकल ज्ञान नयत्येकता ॥ ८ ॥

सहज समाधि साधि त्यागि परकी उपाधि,
आत्म आराधि परमात्म करतु है ॥ १९ ॥

शब्दार्थ—टेक=हठ । हुंज=अनेक कोटि । मेटि=हटाकर ।
समाधि=ध्यान । परकी उपाधि=राग द्वेष मोह ।

अर्थ—सम्यग्दृष्टी जीव भेदविज्ञान प्राप्त करके एक आत्मा
हीको ग्रहण करता है, देहादिसे ममत्वके नाना विकल्प छोड़
देता है । मति श्रुत अवधि इत्यादि क्षयोपशमिक भाव छोड़कर
निरविकल्प केवलज्ञानको अपना स्वरूप जानता है, इन्द्रिय-
जनित सुख दुःखसे रुचि हटाकर शुद्ध आत्म अनुभव करके
कर्मोंकी निर्जरा करता है और राग द्वेष मोहका त्याग करके
उज्ज्वल यानमे लीन होकर आत्माकी आराधना करके पर-
मात्मा होता है ॥ १९ ॥

सम्यग्ज्ञानको समुद्रकी उपमा । सदैवा इवतीस्ता ।

जाके उर अतर निरतर अनत दर्ब,
भाव भासि रहे पै सुभाव न टरतु है ।
निर्मलसौ निर्मल सु जीवन प्रगट जाके,
घटमै अघट-रस कौतुक करतु है ॥

अच्छाच्छा स्वयमुच्छलन्ति यदिमा सचेदनव्यक्तयो
निष्पीताखिलभायमण्डलरसप्राग्भारमत्ता इव ।
यस्याभिघ्नरसः स एव भगवन्नेकोऽप्यनेकीभवन्
घटगत्यत्कटिकाभिरद्भुतनिधिश्चितन्यरत्नाकर ॥ ९ ॥

जागै मति श्रुति औधि मनपर्यै केवल सु,
पंचधा तरंगनि उमंगि उछरतु है ।

सो है ग्यान उदधि उदार महिमा अपार,
निराधार एकमें अनेकता धरतु है ॥ २० ॥

शब्दार्थ—अंतर=भीतर । अघट=पूर्ण । औधि (अधि) =द्रव्य क्षेत्र काल भावकी मर्यादा लिये हुए रूपी पदार्थोंको एकदेश स्पष्ट जाननेवाला ज्ञान । पंचधा=पांच प्रकारकी । तरगनि=लहरें । ज्ञान उदधि=ज्ञानका समुद्र । निराधार=स्वतंत्र ।

अर्थ—जिस ज्ञानरूप समुद्रमें अनंत द्रव्य अपने गुण पर्यायों सहित सदैव प्रतिविम्बित होते हैं पर वह उन द्रव्योंरूप नहीं होता और न अपने ज्ञायक स्वभावको छोड़ता है । वह अत्यन्त निर्मल जलरूप आत्मा प्रत्यक्ष है जो अपने पूर्ण रसमें मौज करता है तथा जिसमें मति श्रुत अधि मनःपर्यय और केवलज्ञान ये पांच प्रकारकी लहरें उठती हैं, जो महान हैं, जिसकी महिमा अपरपार है, जो निजाश्रित है वह ज्ञान एक है तो भी ज्ञेयोंको जाननेकी अनेकता लिये हुए है ।

भावार्थ—यहां ज्ञानको समुद्रकी उपमा दी है । समुद्रमें रत्नादि अनंत द्रव्य रहते हैं, ज्ञानमें भी अनंत द्रव्य प्रतिविम्बित होते हैं । समुद्र रत्नादिरूप नहीं हो जाता, ज्ञान भी ज्ञेयरूप नहीं होता । समुद्रका जल निर्मल रहता है, ज्ञान भी निर्मल रहता है । समुद्र परिपूर्ण रहता है, ज्ञान भी परिपूर्ण रहता है ।

सहज समाधि साधि त्यागि परकी उपाधि,
आत्म आराधि परमात्म करतु है ॥ १९ ॥

शब्दार्थ—टेक=हठ । हुंज=अनेक कोटि । मेटि=हटाकर ।
समाधि=ध्यान । परकी उपाधि=राग द्वेष मोह ।

अर्थ—सम्यग्दृष्टी जीव भेदविज्ञान प्राप्त करके एक आत्मा-
हीको ग्रहण करता है, देहादिसे ममत्वके नाना विकल्प छोड़
देता है । मति श्रुत अग्नि इत्यादि क्षयोपशमिक भाव छोड़कर
निरविकल्प केवलानको अपना स्वरूप जानता है, इन्द्रिय-
जनित सुख दुःखसे रुचि हटाकर शुद्ध आत्म अनुभव करके
कर्मोंकी निर्जरा करता है और राग द्वेष मोहका त्याग करके
उज्ज्वल ध्यानमें लीन होकर आत्माकी आराधना करके पर-
मात्मा होता है ॥ १९ ॥

सम्यग्ज्ञानको समुद्रकी उपमा । सत्रैया इकतीसा ।

जाके उर अतर निरतर अनत दर्ब,
भाव भासि रहे पै सुभाव न टरतु है ।
निर्मलसौं निर्मल सु जीवन प्रगट जाके,
घटमें अघट-रस कौतुक करतु है ॥

अच्छाच्छा स्वयमुच्छलन्ति यदिमाः सवेदनव्यक्तयो
निष्पीताखिलभावमण्डलरसप्राग्भारमत्ता इव ।
यस्याभिधरसः स एष भगवानेकोऽप्यनेकाभवन्
घटगत्युत्कलिषामिरद्भुतनिधिश्चैतन्यरत्नाकर ॥ ९ ॥

जागै मति श्रुति औधि मनपर्यै केवल सु,
पंचधा तरंगनि उमंगि उच्चरतु है ।

सो है ग्यान उदधि उदार महिमा अपार,

निराधार एकमें अनेकता धरतु है ॥ २० ॥

शब्दार्थ—अतर=भीतर । अघट=पूर्ण । औधि (अग्नि) =द्रव्य क्षेत्र काल भावकी मर्यादा लिये हुए रूपी पदार्थोंको एकदेश स्पष्ट जाननेवाला ज्ञान । पंचधा=पांच प्रकारकी । तरंगनि=उहरें । ज्ञान उदधि=ज्ञानका समुद्र । निराधार=स्वतंत्र ।

अर्थ—जिस ज्ञानरूप समुद्रमें अनंत द्रव्य अपने गुण पर्यायों सहित सदैव प्रतिबिम्बित होते हैं पर वह उन द्रव्योंरूप नहीं होता और न अपने ज्ञायक स्वभाषको छोड़ता है । वह अत्यन्त निर्मल जलरूप आत्मा प्रत्यक्ष है जो अपने पूर्ण रसमें मौज करता है तथा जिसमें मति श्रुत अग्नि मनःपर्यय और केवलज्ञान ये पांच प्रकारकी लहरें उठती हैं, जो महान हैं, जिसकी महिमा अपरपार है, जो निजाश्रित है वह ज्ञान एक है तो भी ज्ञेयोंको जाननेकी अनेकता लिये हुए है ।

भावार्थ—यहा ज्ञानको समुद्रकी उपमा दी है । समुद्रमें रत्नादि अनंत द्रव्य रहते हैं, ज्ञानमें भी अनंत द्रव्य प्रतिबिम्बित होते हैं । समुद्र रत्नादिरूप नहीं हो जाता, ज्ञान भी ज्ञेयरूप नहीं होता । समुद्रका जल निर्मल रहता है, ज्ञान भी निर्मल रहता है । समुद्र परिपूर्ण रहता है, ज्ञान भी परिपूर्ण रहता है ।

समुद्रमे लहरें उठती हैं, ज्ञानमे भी मति श्रुत आदि तरंगें हैं ।
समुद्र महान होता है, ज्ञान भी महान होता है । समुद्र अपार
होता है, ज्ञान भी अपार है । समुद्रका जल निजाधार रहता है,
ज्ञान भी निजाधार है । समुद्र अपने स्वरूपकी अपेक्षा एक और
तरंगोंकी अपेक्षा अनेक होता है, ज्ञान भी ज्ञायक स्वभानकी
अपेक्षा एक और द्वेयोक्तो जाननेकी अपेक्षा अनेक होता है ॥२०॥

ज्ञान रहित क्रियासे मोक्ष नहीं होता । सबैया इफ्तीसा ।

केई क्रूर कष्ट सहे तपसौं सरीर देह,
धूम्रपान करे अधोमुख हैके झूले हे ।
केई महाव्रत गहे क्रियामे मगन रहे,
वहे मुनिभार पै प्यारकैसे पूले हे ॥
इत्यादिक जीवनको सर्वथा मुकति नाहि,
फिरै जगमांहि ज्यों वयारिके वधूले हैं ।
जिन्हके हियमें ग्यान तिन्हिहीको निरवान,
करमके करतार भरममें भूले हे ॥ २१ ॥

१ समुद्रका पानी रत्नोंके डेरके समान कचा पिला हुआ रहता है । चरबाश •

क्लिश्यन्ता इत्यमेव दुष्करतरैर्मोक्षो मुच्यै कर्मभि
क्लिश्यन्ता च पर महाव्रततपोभारेण भग्नाश्चिर ।
साक्षा मोक्ष इद निरामयपद् सचेद्यमान स्वय
ज्ञान ज्ञानगुण विना कथमपि प्राप्नु क्षमन्ते न हि ॥ १० ॥

शब्दार्थ—केई=अनेक । मूर=मूर्ख । दहै=जलावें । अधोमुख है=नीचेको सिर और ऊपरको पैर करके । बयारि=हवा । निरखान=मोक्ष ।

अर्थ—अनेक मूर्ख कायदेश करते हैं, पचासि तप आदिसे शरीरको जलाते हैं, गॉजा चरस आदि पीते हैं, नीचेको सिर और ऊपरको पैर करके लटकते हैं, महान्त ग्रहण करके तपाचरणमे लीन रहते हैं, परिपह आदिका कष्ट उठाते हैं, परन्तु ज्ञानके बिना उनकी यह सग क्रिया, कण रहित पयालके गढेके समान निस्मार है । ऐसे जीवोंको कमी शक्ति नहीं मिल सकती वे पयनके बधूलेके समान संसारमे भटकते हैं—कहीं ठिकाना नहीं पाते । जिनके हृदयमे सम्यग्ज्ञान है उन्हींको मोक्ष है, जो ज्ञानशून्य क्रिया करते हैं वे भ्रममे भूले हुए हैं ॥ २१ ॥

व्यवहार लीनताका परिणाम । दोहा ।

लीन भयौ विवहारमें, उकति न उपजै कोइ ।

दीन भयौ प्रभुपद जपै, मुकति कहासौं होइ ॥२२॥

शब्दार्थ—लीन=मग्न । उकति=भेदज्ञान । प्रभुपद जपै=भगवत चरण जपता है ।

अर्थ—जो क्रियामे लीन है, भेदविज्ञानसे रहित है और दीन होकर भगवानके चरणोंको जपता है, और इसीसे मुक्तिकी इच्छा करता है सो आत्मानुभवके बिना मोक्ष कैसे मिल सकती है ? ॥ २२ ॥

पुन । दोहा ।

प्रभु सुमरौ पूजौ पढ़ौ, करौ विविध विवहार ।

मोख सरूपी आत्मा, ग्यानगम्य निरधार ॥ २३ ॥

परन्तु कम्यल ओढे हुए होनेसे उसे उनके डक नहीं लग सकते ।
उसी प्रकार सम्यग्दृष्टी जीव उदयकी उपाधि रहते हुए भी
मोक्षमार्गको साधते हैं उन्हें ज्ञानका स्वाभाविक वस्त्र प्राप्त है,
इससे आनदमें रहते हैं—उपाधि जनित जाकुलता नहीं व्यापती
समाधिका काम देती है ।

भावार्थ—उदयकी उपाधि सम्यग्ज्ञानी जीवोंको निर्जरा
हीके लिये है इससे वह उन्ह चारित्र और तपका काम देती
है अतः उनकी उपाधि भी समाधि है ॥ ३५ ॥

ज्ञानी जीव सदा अवध है । दोहा ।

* ग्यानी ग्यानमगन रहै, रागादिक मल खोइ ।

चित उदास करनी करै, करम बध नहि होइ ॥३६॥

शब्दार्थ—मल=दोष । करनी=क्रिया ।

अर्थ—ज्ञानी मनुष्य राग द्वेष मोह आदि दोषोंको हटाकर
ज्ञानमें मस्त रहता है और शुभाशुभ क्रिया वैराग्य सहित करता
है इससे उसे कर्म-बध नहीं होता ॥ ३६ ॥

पुन

मोह महातम मल हरै, धरै सुमति परकास ।

मुक्ति पथ परगट करै, दीपक ग्यान विलास ॥३७॥

शब्दार्थ—सुमति=अच्छी बुद्धि । मुक्ति पथ=मोक्षमार्ग ।

* ज्ञानवान् स्वरसतोऽपि यत् स्यात्सर्वरागरसवर्जनशील ।

लिप्यते सकल्पकर्मभिरेव कर्ममध्यपतितोऽपि ततो न ॥ ३७ ॥

अर्थ—ज्ञानरूपी दीपक मोहरूपी महा अधकारका मल नष्ट करके सुषुद्धिका प्रकाश करता है और मोक्षमार्गको दरसाता है ॥ ३७ ॥

ज्ञानरूपी दीपककी प्रशंसा । सर्वैया इक्तीसा ।

जामें धूमकौ न लेस वातकौ न परवेस,
 करम पतंगनिकौ नास करै पलमै ।
 दसाकौ न भोग न सनेहकौ संजोग जामै,
 मोह अधकारकौ वियोग जाके थलमै ॥
 जामें न तताई नहि राग रक्ताई रंच,
 लहलहै समता समाधि जोग जलमै ।
 ऐसी ग्यान दीपकी सिखा जगी अभगरूप,
 निराधार फुरी पै दुरी है पुदगलमै ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ— धूम=धुवाँ । वात=हवा । परवेस (प्रवेश)=पहुँच । दसा=बत्ती । सनेह (स्नेह)=चिकनाई (तेल आदि) । तताई=गर्मी । रक्ताई=ललाई । अमंग=अखड । फुरी=स्फुरायमान हुई । दुरी=छुपी ।

अर्थ—जिसमें किंचित भी धुवाँ नहीं है, जो हवाके झको-रोंसे घुल नहीं सकता, जो एक क्षणभरमें कर्म पतंगोंको जला देता है, जिसमें बत्तीका भोग नहीं है, और न जिसमें घृत तेल आदि आवश्यक हैं, जो मोहरूपी अधकारको मिटाता है, जिसमें किंचित भी आँच नहीं है, और न रागकी लालिमा है; जिसमें

समता समाधि और योग प्रकाशित रहते हैं वह ज्ञानकी अखंड
ज्योति स्वयं सिद्ध जात्मामे स्फुरित हुई है—शरीरमें नहीं है॥३८॥

ज्ञानकी निर्मलतापर दृष्टान्त । सवैया इकतीना ।

जैसो जो दरव तामे तैसोई सुभाउ सधै,
कोऊ दरव काहूकौ सुभाउ न गहतु है ।
जैसें सख उज्जल विविध वर्न माटी भखै,
माटीसौ न दीसै नित उज्जल रहतु है॥
तैसे ग्यानवत नाना भोग परिगह-जोग,
करत विलास न अग्यानता लहतु है ।
ग्यानकला दूनी होइ दुंददसा सूनी होइ,
ऊनी होइ भौ-थिति बनारसी कहतु है॥३९॥

शब्दार्थ—दरव (द्रव्य) = पदार्थ । भखै = खाता है । दुंददसा =
श्रान्ति । सूनी (शून्य) = अभाव । ऊनी = कमती ।

अर्थ—प० बनारसीदासजी कहते हैं कि, जो पदार्थ जैसा
होता है उसका ब्रह्मा ही स्वभाव होता है, कोई पदार्थ किसी
अन्य पदार्थके स्वभावको ग्रहण नहीं कर सकता, जैसे कि शर
सफेद होता है और मिट्टी खाता है पर वह मिट्टी सरीखा नहीं

यादृक् सादृगिहास्ति तस्य चशतो यस्य स्वभावो हि य
कर्तुं नैव कथचनापि हि परेरन्यादृश शक्यते ।

अज्ञान न कदाचनापि हि भवेज्ज्ञान भवेत्सन्ततम्

ज्ञानिन् भुक्ष्य परापराधजनितो नास्तीद् यधस्त्वय ॥ १८ ॥

हो जाता—हमेशा उजला ही रहता है, उसी प्रकार ज्ञानीलोग परिग्रहके सयोगसे अनेक भोग भोगते हैं पर वे अज्ञानी नहीं हो जाते । उनके ज्ञानकी किरण दिन दूनी बढ़ती है भ्रामर दशा मिट जाती है और भव स्थिति घट जाती है ॥ ३९ ॥

विषयवासनाओंसे विरक्त रहनेका उपदेश । सबैया इकतीसा ।

जौलौ ग्यानकौ उदोत तौलौ नहि वंध होत,
 वरतै मिथ्यात तव नाना वंध होहि है ।
 ऐसौ भेद सुनिकै लग्यौ तू विपै भोगनिसौं,
 जोगनिसौं उदमकी रीति ते विछोहि है ॥
 सुनु भैया संत तू कहै में समकितवंत,
 यहु तौ एकंत भगवंतकौ दिरोहि है ।
 विपैसौं विमुख होहि अनुभौ दसा अरोहि,
 मोख सुख टोहि तोहि ऐसी मति सोहि है ४०

शब्दार्थ—उदोत (उद्योत)=उजला । जोग=संयम । विछोहि है=छोड़ दी है उदम=प्रयत्न । दिरोहि (द्रोही)=बैरी (अहित करनेवाला) । अरोहि=ग्रहण करके । टोहि=देखकर । सोहि है=शोभा देती है ।

ज्ञानिन् कर्म न जातु कर्तुमुचित किञ्चित्थाप्युच्यते
 भुक्ष्ये हन्त न जातु मे यदि पर दुर्भुक्त पयासि भो ।
 यन्ध स्यादुपभोगतो यदि न तत्किं कामचारोऽस्ति ते
 ज्ञानं सन्धस यन्धमेप्यपरथा स्वस्यापराधाद्भुवम् ॥ १९ ॥

अर्थ—हे भाई भव्य सुनो ! जब तक ज्ञानका उजैला रहता है तब तक बंध नहीं होता और मिथ्यात्वके उदयमें अनेक बंध होते हैं ऐसी चरचा सुनकर तुम विषयभोगोंमें लग जावो तथा समय ध्यान चारित्रको छोड़ देवो और अपनेको सम्यक्त्वी कहो तो तुम्हारा यह कहना एकान्त मिथ्यात्व है और आत्माका अहित करता है । विषयसुखसे विरक्त होकर आत्म अनुभव ग्रहण करके मोक्षसुखकी ओर देखो ऐसी बुद्धिमानी तुम्ह शोभा देगी ।

भाचार्य—ज्ञानीको बंध नहीं होता ऐसा एकान्तपक्ष ग्रहण करके विषयसुखमें निरकुश नहीं हो जाना चाहिये, मोक्षसुखकी ओर देखना चाहिये ॥ ४० ॥

ज्ञानी जीव विषयोंमें निरकुश नहीं रहते । चौपाई ।

ग्यानकला जिनके घट जागी ।

ते जगमांहि सहज वैरागी ।

ग्यानी मगन विपैसुखमांही ।

यह विपरीति सभवै नांही ॥ ४१ ॥

अर्थ—जिनके चित्तमें सम्यग्ज्ञानकी किरण प्रकाशित हुई है वे ससारमें स्वभावसे ही वीतरागी रहते हैं, ज्ञानी होकर विषयसुखमें आसक्त हों यह उलटी रीति असम्भव है ॥ ४१ ॥

ज्ञान और वैराग्य एक साथ ही होते हैं । दोहा ।

ग्यान सकति वैराग्य बल, सिव साथै समकाल ।

ज्यो लोचन न्यारे रहे, निरखे दोऊ नाल ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ—नाल=एक साथ ।

अर्थ—ज्ञान-वैराग्य एक साथ-उपजनेसे सम्यग्दृष्टी जीव मोक्षमार्गको साधते हैं जैसे कि नेत्र पृथक-पृथक रहते है पर देखनेका काम एक साथ करते हैं ।

भावार्थ—जिस प्रकार नेत्र पृथक पृथक होते हुए भी देखनेकी क्रिया एक साथ करते हैं, उसी प्रकार ज्ञान वैराग्य एक ही साथ कर्म निर्जरा करते हैं । बिना ज्ञानका वैराग्य और बिना वैराग्यका ज्ञान मोक्षमार्ग साधनेमें असमर्थ है ॥ ४२ ॥

अज्ञानी जीवोंकी क्रिया बंधके लिये और ज्ञानी जीवोंकी क्रिया निर्जराके लिये है । चौपाई ।

मूढ़ करमकौ करता होवै ।

फल अभिलाष धरै फल जोवै ॥

ग्यानी क्रिया करै फल-सूनी ।

लगै न लेप निर्जरा दूनी ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ—जोवै=देखे । सूनी (शून्य)=रहित । लेप=बंध ।

अर्थ—मिथ्यादृष्टी जीव क्रियाके फलकी (भोगोकी) अभिलाषा करता है और उसका फल चाहता है इससे वह कर्म बंधका कर्ता है । सम्यग्ज्ञानी जीवोंकी भोग आदि शुभाशुभ

कर्तार स्वफलेन यत्किल बलात्कर्मैव नो योजयेत्

दुर्वाणं फललिप्सुरेव हि फल प्राप्नोति यत्कर्मण ।

ज्ञान सस्तदपास्तरागरचनो नो बध्यते कर्मणा

दुर्वाणोऽपि हि कर्म तत्फलपरित्यागैकशीलो मुनिः ॥ २० ॥

क्रिया उदासीनता पूर्वक होती है इससे उन्हें कर्मका बंध नहीं होता और दिन दूनी निर्जरा ही होती है ।

विशेष—यहां 'निर्जरा दूनी' यह पद कविताका प्राम मिलानेकी दृष्टिसे दिया है, सम्यग्दर्शन उपजे उपरान्त समय समय पर असरयातगुणी निर्जरा होती है ॥ ४३ ॥

ज्ञानीके बंध और अज्ञानीके बंधपर कीटकका दृष्टान्त । दोहा ।

बंधै करमसौ मूढ़ ज्यों, पाट-कीट तन पेम ।

खुलै करमसौ समकिती, गोरख धधा जेम ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ—पाट=रेशम । कीट=काड़ा । जेम=जैस ।

अर्थ—जिस प्रकार रेशमका कीड़ा अपने शरीरपर आप ही जाल पूरता है उसी प्रकार मिथ्यादृष्टी जीव कर्मबंधनको प्राप्त होते हैं, और जिस प्रकार गोरखधधा नामका कीड़ा जालसे निकलता है उसी प्रकार सम्यग्दृष्टी जीव कर्मबन्धनसे मुक्त होते हैं ॥ ४४ ॥

ज्ञानीजीव कर्मके कर्ता नहीं हैं । स्वैया तेईसा ।

*जे निज पूरव कर्म उदै,

सुस भुजत भोग उदास रहेंगे ।

जे दुरसमै न विलाप करै,

निरवैर हियें तन ताप सहेंगे ॥

*त्यक्त येन फल स कर्म बुद्धते नेति प्रतीमो घय

वित्यस्यापि कुतोऽपि किञ्चिदपि तत्कर्मावशेनापतेत् ।

तस्मिन्नापतिते त्यक्त्वापरमज्ञानस्वभावे स्थितो

ज्ञानी किं बुद्धतेऽथ किं न बुद्धते कर्ममिति जानाति क ॥२१॥

है जिन्हकै दिढ़ आतम ग्यान,
 क्रिया करिके फलकों न चहेंगे ।
 ते सु विचञ्छन ग्यायक हैं,
 तिन्हकों करता हम तौ न कहेंगे ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ—भुजत=भोगते हुए । उदास=विरक्त । विलाप=हाय
 हाय करना । निरवैर=द्वेष रहित । ताप=ऋष्ट ।

अर्थ—जो पूर्वमे गाँधे हुए पुण्यकर्मके उदय जनित सुख
 भोगनेमें आसक्त नहीं होते और पापकर्मके उदय जनित दुख
 भोगते हुए सतापित नहीं होते—न दुःख देनेवालेसे द्वेषभाव
 करते हैं बल्कि साहसपूर्वक शारीरिक कष्ट सहते हैं, जिनका भेद-
 विज्ञान अत्यन्त दृढ़ है, जो शुभ क्रिया करके उसका फल स्वर्ग
 आदि नहीं चाहते, वे विद्वान सम्यग्ज्ञानी हैं । वे यद्यपि सासा-
 रिक सुख भोगते हैं तौ भी उन्हे कर्मका कर्ता हम तौ नहीं
 कहते ॥ ४५ ॥

सम्यग्ज्ञानीका विचार । सबैया इकतीसा ।

जिन्हकी सुदृष्टिमें अनिष्ट इष्ट दोऊ सम,
 जिन्हको अचार सु विचार सुभ व्यान है ।
 स्वारथको त्यागि जे लगे हैं परमारथको,
 जिन्हकै वनिजमें न नफा है न ज्यान है ॥
 जिन्हकी समुद्रिमें सरीर ऐसौ मानियत,
 धानकौसौ छीलक कृपानकौसौ म्यान है ।

पारखी पदारथके साखी भ्रम भारथके,
तेई साधु तिनहीकौ जथारथ ग्यान है॥४६॥

शब्दार्थ—बनिज=ब्योपार । ग्यान=जाना—टोटा या नुकसान ।
छीलक=छिलका । कृपान=तलवार । पारखी=परीक्षक । भारथ
(भारत)=उड़ाई ।

अर्थ—जिनकी ज्ञानदर्पणमें इष्ट अनिष्ट दोनों समान हैं,
जिनकी प्रवृत्ति और विचार शुभ ध्यानके लिये होती है, जो
लौकिक प्रयोजन छोड़कर सत्यमार्गमें चलते हैं, जिनके वचनका
व्यवहार किसीको हानिकारक वा किसीको लाभकारक नहीं
है, जिनकी सुबुद्धिमें शरीर धानके छिलके व तलवारके म्यानके
समान जात्मासे जुदा गिना जाता है, जो जीव अजीव पदार्थोंके
परीक्षक है, सशय आदि मिथ्यात्वकी खींचतानके जो मात्र
ज्ञाता दृष्टा हैं वे ही साधु हैं और उन्हींको वास्तविक ज्ञान है॥४६॥

ज्ञानीकी निर्भयता । सचैया इक्तीसा ।

जमकौसौ भ्राता दुरसदाता है असाता कर्म,
ताकै उदै मूरख न साहस गहतु है ।

१ किसीकी भलाई बुराईमें नहीं पडते समता भाव रखते हैं ।

सम्पद्दृष्टय पय साहसमिद् कर्तु क्षमन्ते पर

यद्वज्रेऽपि पतत्यमी भयचलत्रैलोक्यमुक्ताध्वनि ।

सर्वामेव निसर्गेनिर्भयतया शङ्का विहाय स्वय

जानन्त स्वमयभ्यधोधवपुष धोधाच्छयचन्ते न हि ॥ २२ ॥

सुरगनिवासी भूमिवासी औ पतालवासी,
 सबहीको तन मन कंपितु रहतु है ॥
 उरकौ उजारौ न्यारौ देखिये सपत भैसौ,
 डोलत निसंक भयौ आनंद लहतु है ।
 सहज सुवीर जाकौ सासतौ सरीर ऐसौ,
 ग्यानी जीव आरज आचारज कहतु है ४७

शब्दार्थ—भाता=भाई । साहस=हिम्मत । सुरग निवासी=देव ।
 भूमिवासी=मनुष्य पशु आदि । पतालवासी=व्यंतर, भवनवासी, नारकी
 आदि । सपत (सप्त)=सात । भै (भय)=डर । सास्यत=कभी नाश
 नहीं होने वाला । आरज=पवित्र ।

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि जो अत्यन्त दुःखदाई है मानों
 जमका भाई ही है, जिससे स्वर्ग मध्य और पाताल त्रैलोक्यके
 जीवोंका तन मन काँपता रहता है, ऐसे असाता कर्मके उदयमें
 अज्ञानी जीव हत साहस हो जाता है । परन्तु ज्ञानी जीवके हृदयमें
 ज्ञानका प्रकाश है, वह आत्ममलसे बलवान है, उसका ज्ञानरूपी
 शरीर अविनाशी है, वह परम पवित्र है, सप्त भयसे रहित निःशं-
 कित डोलता है ॥ ४७ ॥

सप्त भयके नाम । दोहा ।

इहभव-भय परलोक-भय, मरन-वेदना-जात ।
 अनरच्छा अनगुप्त-भय, अकस्मात्-भय सात ॥४८॥

प्रमाणम क्षण भंगुर है । जिसकी उत्पत्ति है उमका नाश है ।
जिसका सयोग है उमका वियोग है, और परिग्रह समूह जंजाल-
के ममान हैं । इम प्रकार चिंतन करनेसे चित्तमें इस भवका
भय नहीं उपजता । ज्ञानी लोग अपने आत्माको सदा निष्कलंक
और ज्ञानरूप देखते हैं इससे निःशुक्र रहते हैं ॥ ५० ॥

परमरका भय निवारण करनेका उपाय । छप्पय ।

ग्यानचक्र मम लोक, जासु अवलोक मोस-सुख ।
इतर लोक मम नांहि, नांहि जिसमांहि दोख दुख ॥
पुत्र सुगतिदातार, पाप दुरगति पद-दायक ।
दोऊ खडित खानि, मे अखडित सिवनायक ॥
इहविधि विचार परलोक-भय,
नहि व्यापत वरते सुखित ।
गानी निसक निकलक निज,
ग्यानरूप निरखत नित ॥ ५१ ॥

चिन्ता करना अनगुप्तभय है, अचानक ही कुछ विपत्ति न आ सही हो ऐसी चिन्ता करना अकस्मात्भय है । संसारमे ऐसे ये सात भय हैं ॥ ४९ ॥

इस भयके भय निवारणका उपाय । छप्यय ।

नख सिख मित परवांन, ग्यान अवगाह निरक्खत ।
 आत्म अंग अभंग संग, पर धन इम अक्खत ॥
 छिनभंगुर संसार-विभव, परिवार-भार जसु ।
 जहां उतपति तहां प्रलय, जासु संजोग विरह तसु ॥
 परिगह प्रपंच परगट परखि,
 इहभव भय उपजै न चित ।
 ग्यानी निसंक निकलक निज,
 ग्यानरूप निरखंत नित ॥ ५० ॥

शब्दार्थ—नख सिख=पैरसे सिरकी चोटी तक । निरक्खत=देखता है । अक्खत=जानता है । विभव=धन, सम्पत्ति । प्रलय=नाश । प्रपंच=जाल । परखि=देखकर ।

अर्थ—आत्मा सिरसे पैर तक ज्ञानमयी है, नित्य है, शरीर आदि पर पदार्थ हैं, संसारका सम वैमम और कुटुम्बियोंका

लोकः शाश्वत एक एव सकलव्यक्तो विविक्तात्मन-

श्चिल्लोक स्वयमेव केवलमय य एोक्यत्येकरु ।

लोकोय न तवापरस्तदपरस्तस्यास्ति तन्नी कुतो

नि शङ्क सतत स्वय स सहज ज्ञान सदा चिन्दति ॥ २३ ॥

अर्थ—इह भवभय, परलोकभय, मरणभय, वेदनाभय, अनर-
क्षाभय, अनगुप्तभय और अकस्मात्भय ये मात भय हैं ॥ ४८ ॥

सप्त भयका पृथक् पृथक् स्वरूप । सर्वथा इकतीसा ।

दसधा परिग्रह-वियोग-चिन्ता इह भव,

दुर्गति-गमन भय परलोक मानिये ।

प्राणनिकौ हरन मरन-भै कहावै सोइ,

रोगादिक कष्ट यह वेदना चरानिये ॥

रच्छक हमारौ कोऊ नाही अनरच्छा भय,

चोर-भै विचार अनुगुप्त मन आनिये ।

अनचित्यौ अवही अचानक कहाधौ होइ,

ऐसौ भय अकस्मात् जगतमै जानिये ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ—दसधा—दस प्रकारका । वियोग—दृष्टना । चिन्ता—फिकर ।

दुर्गति—खोटी गति । अनगुप्त—चोर ।

अर्थ—क्षेत्र वास्तु आदि दस प्रकारके परिग्रहका वियोग होनेकी चिन्ता करना इस भयका भय है, दुर्गतिमें जन्म होनेका डर मानना परलोकभय है, दस प्रकारके प्राणोंका वियोग हो जानेका डर मानना मरणभय है, रोग आदि दुःख होनेका डर मानना वेदनाभय है, कोई हमारा रक्षक नहीं ऐसी चिन्ता करना अनरक्षाभय है, चोर व दुश्मन आवे तो कैसे बचेगे ऐसी

१ गुप्त—छाहकार अनगुप्त—चोर ।

२ क्षेत्र, वास्तु, चादी, सुवर्ण धन, धान्य, दासी दास, पुत्र्य और भांड ।

चिन्ता करना अनगुप्तभय है, अचानक ही कुछ विपत्ति न आ खड़ी हो ऐसी चिन्ता करना अकस्मात्तभय है । ससारमे ऐसे ये सात भय हैं ॥ ४९ ॥

इस भयके भय निवारणका उपाय । छप्यय ।

नख सिख मित परवांन, ग्यान अवगाह निरक्खत ।
आतम अंग अभंग संग, पर धन इम अक्खत ॥
छिनभंगुर संसार-विभव, परिवार-भार जसु ।
जहां उतपति तहां प्रलय, जासु संजोग विरह तसु ॥

परिगह प्रपंच परगट परखि,

इहभव भय उपजै न चित ।

ग्यानी निसंक निकलक निज,

ग्यानरूप निरखंत नित ॥ ५० ॥

शब्दार्थ—नख सिख=पैरसे सिरकी चोटी तक । निरक्खत=देखता है । अक्खत=जानता है । निमय=धन, सम्पत्ति । प्रलय=नाश । प्रपंच=जाल । परखि=देखकर ।

अर्थ—आत्मा सिरसे पैर तक ज्ञानमयी है, नित्य है, शरीर आदि पर पदार्थ है, संसारका सत्र वैभय और कुटुम्बियोंका

लोकः शाश्वत एक एव सकलव्यक्तो विप्रिकात्मन-

श्चिल्लोक स्वयमेव केचलमय य लोकयत्येकक ।

लोकौय न तचापरस्तदपरस्तस्यास्ति तद्धी कुतो

निःशङ्क सततं स्वय स सहज ज्ञान सदा विन्दति ॥ २३ ॥

समागम क्षण भगुर है । जिसकी उत्पत्ति है उमका नाश है ।
जिसका सयोग है उसका वियोग है, और परिग्रह समूह जंजाल-
के समान हैं । इस प्रकार चितवन रुग्नेसे चित्तमें इस भवका
भय नहीं उपजता । ज्ञानी लोग अपने आत्माको सदा निष्कलक
और ज्ञानरूप देखते हैं इससे निःशक रहते हैं ॥ ५० ॥

परभवका भय निवारण करनेका उपाय । छण्य ।

ग्यानचक्र मम लोक, जासु अवलोक मोख-सुख ।
इतर लोक मम नांहि, नांहि जिसमांहि दोख दुख ॥
पुन्न सुगतिदातार, पाप दुरगति पद-दायक ।
दोऊ खडित खानि, मैं अखडित सिवनायक ॥
इहविधि विचार परलोक-भय,
नहि व्यापत वरतै सुखित ।
ग्यानी निसक निकलक निज,
ग्यानरूप निरखत नित ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ—इतर=दूसरा । खडित=नाशवान । अखडित=अविनाशी ।
सिवनायक=मोक्षका राजा ।

अर्थ—ज्ञानका पिण्ड आत्मा ही हमारा लोक है, जिसमें
मोक्षका सुख मिलता है । जिसमें दोष और दुःख हैं ऐसे स्वर्ग
आदि अन्य लोक मेरे नहीं हैं ! नहीं हैं !! सुगतिका दाता पुण्य
और दुःखदायक दुर्गतिपदका दाता पाप है, सो दोनोंही नाशवान

हैं और मैं अविनाशी हूँ—मोक्षपुरीका बादशाह हूँ । ऐसा विचार करनेसे परलोकका भय नहीं सताता । ज्ञानी मनुष्य अपने आत्माको सदा निष्कलंक और ज्ञानरूप देखते हैं इससे निःशक रहते हैं ॥ ५१ ॥

मरणका भय निवारण करनेका उपाय । छप्पय ।

फरस जीभ नासिका, नैन अरु श्रवन अच्छ इति ।
मन वच तन बल तीन, स्वास उस्वास आउ-थिति ॥
ये दस प्रान-विनास, ताहि जग मरन कहिज्जइ ।
ग्यांन-प्रान संजुगत, जीव तिहुं काल न छिज्जइ ॥
यह चित करत नहि मरन भय,
नय-प्रवान जिनवरकथित ।
ग्यानी निसंक निकलंक निज,
ग्यानरूप निरखत नित ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ—फरस=स्पर्श । नासिका=नाक । नैन=नेत्र । श्रवन=कान । अच्छ (अक्ष)=इन्द्रिय । संजुगत=सहित । कथित=कहा हुआ ।
- अर्थ—स्पर्श, जीभ, नाक, नेत्र और कान ये पाँच इन्द्रिया, मन, वचन, काय ये तीन बल, श्वासोच्छ्वास और आयु इन दस

प्राणोच्छेदमुदाहरति मरण प्राणा किलास्यात्मनो
ज्ञान तत्स्ययमेव शाश्वततया नोच्छिद्यते आतुचित् ।
तस्यातो मरण न किञ्चन भवेत्तद्गी कुतो ज्ञानिनो
नि शङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञान सदा विन्दति ॥ २७ ॥

प्राणोंके वियोगको लोकमें लोग मरण कहते हैं; परन्तु आत्मा ज्ञानप्राण सयुक्त है यह तीनकालमें कभी भी नाश होनेवाला नहीं है। इस प्रकार जिनरानका कहा हुआ नय प्रमाण सहित तत्त्वस्वरूप चिंतन करनेसे मरणका भय नहीं उपनता। ज्ञानी मनुष्य अपने आत्माको सदा निष्कलंक और ज्ञानरूप देखते हैं इससे निःशक रहते हैं ॥ ५२ ॥

वेदनाका भय निवारण करनेका उपाय। छप्पय।

वेदनवारौ जीव, जांहि वेदत सोउ जिय।

यह वेदना अभंग, सु तौ मम अंग नाहि विय ॥

करम वेदना दुविध, एक सुखमय दुतीय दुख।

दोऊ मोह विकार, पुगलाकार बहिरमुख ॥

जब यह विवेक मनमहिं धरत,

तब न वेदनाभय विदित।

ग्यानी निसक निकलक निज,

ग्यानरूप निरखत नित ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ—वेदनवारौ=जाननेवाला। अभंग=अखंड। - विये=व्यापता। बहिरमुख=बाह्य।

पर्यैकैव हि वेदना यदचल ज्ञान स्वयं वेद्यते
निर्भेदेदितवेद्यवेदकयलादेक सदाऽनाकुलै ।

नैवान्यागतवेदनैव हि भयेत्तन्नीः कुतो ज्ञानिनो

नि शङ्क सततं स्वयं स सहज ज्ञान सदा विन्दति ॥ २४ ॥

अर्थ—जीव ज्ञानी है और ज्ञान जीवका अभग अंग है, मेरे ज्ञानरूप अंगमे जड़ कर्मोंकी वेदनाका प्रवेश ही नहीं हो सकता । दोनों प्रकारका मुरा दुरुरूप कर्म अनुभय मोहका विकार है, पाँदलिक है और आत्मासे ग्राह्य है । इस प्रकारका विवेक जम मनमें आता है तम वेदना जनित भय विदित नहीं होता । ज्ञानी पुरुष अपने आत्माको सदा निष्कलक और ज्ञानरूप देखते हैं इससे निःशंक रहते हैं ॥ ५३ ॥

अनरक्षाका भय निवारण करनेका उपाय । छुप्य ।

जो स्ववस्तु सत्तासरूप जगमहि त्रिकालगत ।
तासु विनास न होइ, सहज निहचै प्रवांन मत ॥
सो मम आत्म दरव, सरवथा नहि सहाय धर ।
तिहि कारन रच्छक न होइ, भच्छक न कोइ पर ॥

जब इहि प्रकार निरधार किय,
तब अनरच्छा-भय नसित ।
ग्यानी निसंक निकलंक निज,
ग्यानरूप निरखंत नित ॥ ५४

यत्सन्नाशमुपैति तन्न नियत व्यक्तेति वस्तुस्थिति-
ज्ञान सत्स्वयमेव तत्किल ततस्त्रात किमस्यापरै ।
अस्याप्राणमतो न किञ्चन भवेत्तद्गी बुतो ज्ञानिनो
निःशङ्क सतत स्वय स सहज ज्ञान सदा विन्दति ॥ २५ ॥

शब्दार्थ—स्ववस्तु=आत्मपदार्थ। रक्षक (रक्षक)=रक्षनेवाला।
भच्छक=नाश करनेवाला। निरधार=निश्चय।

अर्थ—सत्स्वरूप आत्मवस्तु जगत्तमे सदा नित्य है उसका कभी नाश नहीं हो सकता, यह बात निश्चयनयसे निश्चित है। सो मेरा आत्मपदार्थ कभी किसीकी सहायताकी अपेक्षा नहीं रखता, इससे आत्माका न कोई रक्षक है न कोई भक्षक है। इस प्रकार जब निश्चय हो जाता है तब अनरक्षा भयका अभाव हो जाता है। ज्ञानीलोग अपने आत्माको सदा निष्कलंक और ज्ञानरूप देखते हैं इससे निश्चय रहते हैं ॥ ५४ ॥

घोर भय निवारण करनेका उपाय। छप्पय।

परम रूप परतच्छ, जासु लच्छन चिन्मडित।
पर प्रवेश तहां नांही, मांही महि अगम अखडित ॥
सो ममरूप अनूप, अकृत अनमित अट्ट घन।
ताहि चौर किम गहै, ठौर नहि लहै और जन ॥

चितवत एम धरि ध्यान जब,

तब अगुप्त भय उपसमित।

ग्यानी निसक निकलक निज,

ग्यानरूप निरखत नित ॥ ५५ ॥

स्य रूप किल वस्तुनोऽस्ति परमा गुप्ति स्वरूपेण य-

च्छक्त कोऽपि पर प्रवेष्टुमकृत ज्ञान स्वरूप च नु।

अस्यागुप्तिरतो न काचन भवेत्तद्वी कुतो ज्ञानिनो

नि शब्दः सतत स्वयं स सहज ज्ञान सदा चिन्वति ॥ २६ ॥

शब्दार्थ—परतच्छ (प्रत्यक्ष) = साक्षात् । प्रवेश = पहुँच । महि = पृथ्वी । अकृत = स्वयसिद्ध । अनमित = अपार । अट्ट = अक्षय । ठौर = स्थान । अगुत = चोर । उपसमित = नहीं रहता, हट जाता है ।

अर्थ—आत्मा साक्षात् परमात्मरूप है, ज्ञान लक्षणसे विभूषित है, उसकी अर्गम्य और नित्य भूमिपर परद्रव्यका प्रवेश नहीं है । इससे भेग धन अनुपम, स्वय सिद्ध, अपरपार और अक्षय है, उसे चोर कैसे ले सकता है ? दूसरे मनुष्यके पहुँचनेको उसमें स्थान ही नहीं है । जत्र ऐसा चिंतन किया जाता है तत्र अनगुप्त भय नहीं रहता । ग्यानीलोग अपने आत्माको सदा निष्कलक और ज्ञानरूप देखते हैं इससे निःशंक रहते हैं ॥ ५५ ॥

अकस्मात् भय निवारण करनेका उपाय । छप्पय ।

सुच्छ बुद्ध अविरुद्ध, सहज सुसमृद्ध सिद्ध सम ।
अलख अनादि अनत, अतुल अविचल सरूप मम ॥
चिदविलास परगास, वीत-विकल्प सुखथानक ।
जहां दुविधा नहि कोइ, होइ तहां कछु न अचानक ॥

जब यह विचार उपजंत तब,
अकस्मात् भय नहि उदित ।

१ इन्द्रिय और मनके अगोचर ।

एक ज्ञानमनाद्यनन्तमचल सिद्ध किंलैतत्स्वतो
याचत्तावदिद सदैव हि भवेन्नात्र द्वितीयोदय ।
तन्नाकस्मिकमत्र किञ्चन भवेत्तद्गी कुतो ह्यानिनो
नि शङ्कः सतत स्वय स सहज ज्ञान सदा विन्दति ॥ २८ ॥

ग्यानी निसंक निकलक निज, ग्यानरूप निरखत नित ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ—सुद्ध=कर्म कलंक रहित । धुद्ध=केवलज्ञानी । अविद्ध=वीतराग । समृद्ध=वैभवंशाली । अलख=अरूपी । अतुल्य=उपमा रहित । वीत विकल्प=निर्विकल्प ।

अर्थ—मेरा आत्मा शुद्ध ज्ञान तथा वीतराग भावमय है और सिद्ध भगवानके समान समृद्धशाली है । मेरा स्वरूप अरूपी, अनादि, अनंत, अनुपम, नित्य, चैतन्यज्योति, निर्विकल्प, आनंदकंद और निर्द्वंद्व है । उमपर कोई आकास्मिक घटना नहीं हो सकती, जब इस प्रकारका भाव उपजता है तब अकस्मात भय उदय नहीं होता । ज्ञानी मनुष्य अपने आत्माको सदा निष्कलक और ज्ञानरूप देखते हैं इससे निश्चक रहते हैं ॥ ५६ ॥

सम्यग्ज्ञानी जीवोंको नमस्कार । छप्पय ।

जो परगुन त्यागत, सुद्ध निज गुन गहत धुव ।
विमल ग्यान अकूर, जासु घटमहि प्रकास हुव ॥
जो पूरव कृतकर्म, निरजरा-धार वहावत ।
जो नव वध निरोध, मोख मारग-मुख धावत ॥

टङ्कोत्कीर्णस्वरसानिचितज्ञानसर्वस्यमाजः

सम्यग्दृष्टेर्यदिह सकल भ्रन्ति लक्ष्माणि कर्म ।

तत्तस्यास्मि पुनरपि मनाकर्मणा नास्ति बन्ध

पूर्वोपात्त तदनुभवतो निश्चितं निर्द्धरैव ॥ २९ ॥

निःसंकतादि जस अष्ट गुण,
 अष्ट कर्म अरि संहरत ।
 सो पुरुष विचच्छन तासु पद,
 वानारसी वंदन करत ॥ ५७ ॥

शब्दार्थ— धुन (धुन)=नित्य । धार=बहाव । निरोध=रोककर ।
 मोख मारग मुख=मोक्षमार्गकी ओर । धावत=दौड़ते हैं । सहरत=नष्ट
 करते हैं ।

अर्थ—जो परद्रव्यसे आत्मबुद्धि छोड़कर निज स्वरूपको
 ग्रहण करते हैं, जिनके हृदयमे निर्मल ज्ञानका अक्षुर प्रगट हुआ
 है, जो निर्जराने प्रगाहमे पूर्वकृत कर्मोंको बहा देते हैं, और
 नवीन कर्म बंधका सार करके मोक्षमार्गके सन्मुख हुए हैं, जिनके
 निःशकतादि गुण अष्ट कर्मरूप शत्रुओंको नष्ट करते हैं, वे सम्य-
 ग्ज्ञानी पुरुष हैं । उन्हें ५० वानारसीदामजी नमस्कार करते
 हैं ॥ ५७ ॥

सम्यग्दर्शनके अष्ट अंगोंके नाम । सोरठा ।

प्रथम निससै जानि, दुतिय अवच्छित परिमन ।
 तृतीय अग अगिलानि, निर्मल दिष्टि चतुर्थ गुण ५८
 पंच अकथ परदोष, थिरीकरण छट्टम सहज ।
 सत्तम वच्छल पोप, अष्टम अंग प्रभावना ॥ ५९ ॥

शब्दार्थ—निससै (नि संशय) नि शक्ति । अवच्छित=बाँटा
 रहित, नि काक्षित । अगिलानि=गलानि रहित, निर्प्रचिकित्सित । निर्मल

दिष्टि=यथार्थ विवेक, अमूढदृष्टि । अयय परदोष=दुसरोके दोष नहीं
 कहना, उपगूहन । धिरीपरण=स्विर फरना, स्थितिपरण, यस्तउ=
 वात्सल्य, प्रेम ।

अर्थ—नि'गकिा, नि कांक्षित, निर्दिचिकित्मित, अमूढदृष्टि,
 उपगूहन, स्थितिकरण, वात्मन्य और प्रमापना ये सम्य'दृष्टिके
 आठ अंग हैं ॥ ५८ ॥ ५९ ॥

सम्यक्त्वके आठ अंगोंका स्वरूप । सधैया इकतीमा ।

धर्ममें न ससे सुभकर्म फलकी न इच्छा,
 असुभकौ देखि न गिलानि आने चितमें ।
 सांचि दिष्टि राखे काहू प्राणीको न दोष भाखे,
 चचलता भानि थिति ठाने बोध वितमें ॥
 प्यार निज रूपमें उठाहकी तरंग उठे,
 एई आठों अंग जब जागे समकितमें ।
 ताहि समकितकों धरे सो समकितवत,
 वहे मोख पावे जौ न आवे फिरि इतमें ॥६०॥

शब्दार्थ—ससे=सन्देह । भानि=गष्ट फरके । थिति ठाने=स्विर
 करे । बोधि=बुद्धय । तरंग=उदर । इतमें=यहां (संसारमें) ।

अर्थ—स्वरूपमें मन्देह नहीं करना नि शकित अंग है, गुम
 क्रिया करके उसके नहीं करना नि कांक्षित
 अंग है, दुखदायक फरना निर्दिचि-

कित्सा अंग है, मूर्खता त्यागकर तत्त्वका यथार्थ निर्णय करना अमूढदृष्टि अंग है, दूसरोंके दोष प्रगट नहीं करना उपगूहन अंग है, चित्तकी चंचलता हटाकर रत्नत्रयमें स्थिर होना स्थितिकरण अंग है, आत्म स्वरूपमें अनुराग रखना वात्सल्य अंग है, आत्म उन्नतिके लिये उत्साहित रहना प्रभायना अंग है, इन आठ अंगोंका प्रगट होना सम्यक्त्व है, उस सम्यक्त्वको जो धारण करता है वह सम्यग्दृष्टी है, सम्यग्दृष्टी ही मोक्ष पाता है और फिर इस ससारमें नहीं जाता ।

विशेष—जिस प्रकार शरीरके आठ अंगे होते हैं और वे अपने अंगी अर्थात् शरीरसे पृथक नहीं होते और न शरीर उन अंगोंसे पृथक होता है । उसी प्रकार सम्यग्दर्शनके निःशक्ति आदि आठ अंग होते हैं और वे अपने अंगी अर्थात् सम्यग्दर्शनसे पृथक नहीं होते और न सम्यग्दर्शन अष्ट अंगोंसे निराला होता है—आठों अंगोंका समुदाय ही सम्यग्दर्शन है ॥ ६० ॥

चैतन्य नटका नाटक । सवैया इकतीसा ।

पूर्व बंध नासै सो तो संगीत कला प्रकासै,
नव बंध रुंधि ताल तोरत उछरिकै ।

१ सिर नितब उर पीठ कर, जुगल जुगल पद टेक ।

आठ अंग ये तन विषै, और उपग अनेक ॥

रुंधन् रुंध नवमिति निजै सङ्गतोऽष्टामिरङ्गैः

प्राग्बद्ध तु क्षयमुपनयन् निर्जरोज्जृम्भणेन ।

सम्यग्दृष्टि स्वयमतिरसादादिमध्यान्तमुक्त

ज्ञान भूत्वा नटति गगनाभोगरङ्ग विगाह्य ॥ ३० ॥

इति निर्जरा निष्क्रान्ता ॥ ७ ॥

निसकित आदि अष्ट अंग संग सखा जोरि,
 समता अलाप चारी करै सुर भरिकै ॥
 निरजरा नाद गाजै ध्यान मिरदग वाजै,
 छम्प्यौ महानदमै समाधि रीझि करिकै ।
 सत्ता रंगभूमिमै मुकत भयौ तिहू काल,
 नाचै सुद्धदिष्टि नट ग्यान स्वांग धरिकै ।६१।

शब्दार्थ—सगीत=गायन । सखा=साथी । नाद=ध्वनि । छम्प्यौ=लीन हुआ । महानद=बड़ा हृष । रंगभूमि=नाट्यशाला ।

अर्थ—सम्यग्दृष्टी रूपी नट, ज्ञानका स्वांग बनाकर सत्तारूप रंगभूमिपर गोक्ष होनेके लिये सदा नृत्य करता है, पूर्वबधका नाश उसकी गायन विद्या है, नवीन बधका सार मानों उसका ताल तोड़ना है, नि शक्ति जादि आठ अंग उसके सहचारी हैं, समताका अलाप स्वरोंका उच्चारण है, निरजराकी ध्वनि हो रही है, ध्यानका मृदग बजता है, समाधिरूप गायनमें लीन होकर बड़े आनदमें मस्त है ॥ ६१ ॥

सातवें अधिकारका सार ।

ससारी जीव अनादि कालसे अपने स्वरूपको भूले हुए हैं इस कारण प्रथम तो उन्हें आत्म हित करनेकी भावना ही नहीं होती, यदि कभी इस विषयमें उद्योग भी करते हैं तो सत्यमार्ग नहीं मिलनेसे बहुधा व्यवहारमें लीन होकर ससारको ही बढ़ाते हैं और अनंत कर्मोंका बंध करते हैं, परन्तु सम्यग्ज्ञानकी खूटीका सहारा मिलनेपर ग्रहस्थ मार्ग और परिग्रह सग्रहकी उपाधि

रहनेपर भी जीव ससारकी चक्कीमें नहीं पिसता और दूसरोंको जगज्जालसे छूटनेका रास्ता बतलाता है। इसलिये मुक्तिका उपाय ज्ञान है, बाह्य आडंबर नहीं। और ज्ञानके बिना संपूर्ण क्रिया बोझा ही है, कर्मका बंध अज्ञानकी दशामे ही होता है। जिस प्रकार कि रेशमका कीड़ा अपने आप ही अपने ऊपर जाल पूरता है उसी प्रकार अज्ञानी अपने आप ही शरीर आदिसे अहनुद्धि करके अपने ऊपर अनंत कर्मोंका बंध करते है, पर ज्ञानी लोग सम्पत्तिमे हर्ष नहीं करते, विपत्तिमे विपाद नहीं करते, सम्पत्ति और विपत्तिको कर्मजनित जानते है इसलिये उन्हें ससारमे न कोई पदार्थ सम्पत्ति है न कोई पदार्थ विपत्ति है वे तो ज्ञान वैराग्यमे मस्त रहते हैं । उनके लिये ससारमे अपने आत्माके सिवाय और कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है जिससे वे राग करें और न ससारमे कोई ऐसा पदार्थ है जिससे वे द्वेष करें । उनकी क्रिया फलकी इच्छा रहित होती है इससे उन्हें कर्म बंध नहीं होता, क्षण क्षणपर असंर्यात गुणी निर्जरा होती है । उन्हें शुभ अशुभ, इष्ट अनिष्ट दोनों एकसे हैं अथवा ससारमे उन्हें कोई पदार्थ न तो इष्ट है न अनिष्ट है । फिर रागद्वेष किससे करेंगे ? किससे संयोग वियोगमे लाभ हानि गिनेंगे ? इससे विवेकज्ञान जीव लोगोंके देखनेमे सधन हो चाहे निर्धन हो वे तो आनदहीमे रहते हैं । जब उन्होंने पदार्थका स्वरूप समझ लिया और अपने आत्माको नित्य और निराबाध जान लिया तो उनके चित्तपर सप्त प्रकारका भय नहीं उपजता और उनका अष्टांग सम्यग्दर्शन निर्मल होता है जिससे अनंत कर्मोंकी निर्जरा होती है ।

वध डार ।

(८)

प्रतिज्ञा । दोहा ।

कही निरजराकी कथा, सिवपथ साधनहार ।

अव कलु वध प्रवधकौ, कहू अल्प विस्तार ॥१॥

शब्दार्थ—सिवपथ=मोक्ष मार्ग । अल्प=थोड़ा ।

अर्थ—मोक्षमार्ग सिद्ध करनेसाले निर्जरा तत्त्वका कथन किया अत्र वधका व्याख्यान कुछ विस्तार करके कहता हूँ ॥ १ ॥

मगलाचरण । सधेया इकतीसा ।

मोह मद पाइ जिनि ससारी विकल कीनें,

याहीते अजानुवाहु विरद विहतु है ।

ऐसौ वध-वीर विकराल महा जाल सम,

ग्यान मद करै चद राहु ज्यो गहतु है ॥

ताकौ बल भजिवेको घटमें प्रगट भयौ,

उद्धत उदार जाकौ उद्दिम महतु है ।

सो है समकित सूर आनद-अकूर ताहि,

निरखि बनारसी नमो नमो कहतु है ॥ २ ॥

रागोद्धारमहारखेन सकल हृत्वा प्रमत्तं जग

त्वीडितं रत्नभारनिर्मरमहानाट्येन यच्च धुनत् ।

आनन्दामृतनित्यमोजि सहजाप्रस्था स्फुट नाट्य

द्धीरोद्धारमनाकुल निरुपधि शन समु मज्जति ॥ १ ॥

शब्दार्थ—पाइ=पिलाकर । विकल=दुखी । विरद=नामवरी ।
 अजानुवाह (आजानुवाह)=घुटने तक जिसकी लम्बी भुजायें हैं । मंजि-
 वेंकौं=नष्ट करनेके लिये । उद्धत=बलवान । उदार=महान । नमो नमो
 (नम नम)=नमस्कार नमस्कार ।

अर्थ—जिसने मोहकी शरान पिलाकर ससारी जीवोंको
 व्याकुल कर डाला है, जिमकी घुटनेतक लम्बी भुजायें हैं ऐसी
 समारमे प्रसिद्धि है, जो महाजालके समान है, और जो ज्ञानरूपी
 चन्द्रमाको ग्रभा रहित करनेके लिये राहुके सदृश है । ऐसे ग्रहरूप
 भयकर योद्धाका बल नष्ट करनेके लिये जो हृदयमें उत्पन्न हुआ
 है, जो बहुत बलवान महान और पुरुषार्थी है; ऐसे आनंदमय
 सम्यक्त्वरूपी योद्धाको पंडित नानारसीदासजी बार बार नमस्कार
 करते हैं ॥ २ ॥

ज्ञान चेतना और कर्म चेतनाका वर्णन । सर्वथा इफतीसा ।

जहां परमात्म कलाकौ परकास तहां,
 धरम धरामें सत्य सूरजकी धूप है ।
 जहां सुभ असुभ करमकौ गढास तहां,
 मोहके विलासमें महा अंधेर कूप है ॥
 फैली फिरै घटासी छटासी घन-घटा वीचि,
 चेतनकी चेतना दुहंधा गुपचूप है ।
 बुद्धिसौ न गही जाइ वैनसौं न कही जाइ,
 पानीकी तरंग जैसें पानीमें गुडूप है ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—उद्दिमी=पुरुषार्थी । ब्रह्मान्यौ=कहा । बैन=वचन । निरदै=कठोर । न सँभारे (न सम्हालै)=असावधान रहै । सैन (शयन)=निद्रा ।

अर्थ—स्वरूपकी मम्हाल और भोगोंका अनुराग ये दोनों बातें एक साथ ही जैनधर्ममें नहीं हो सकतीं, इससे यद्यपि सम्यग्ज्ञानी वर्गणा, योग, हिंसा और भोगोंसे अग्रथ है तो भी उन्हें पुरुषार्थ करनेके लिये जिनराजकी आज्ञा है । वे शक्ति अनुसार पुरुषार्थ करते हैं पर फलकी अमिलापा नहीं करते और हृदयमें सदा दयाभाव रखते हैं, निर्दय नहीं होते । प्रमाद और पुरुषार्थ हीनता तो मिथ्यात्व दशाहीमें होती है जहाँ जीव मोह-निद्रासे जचेत रहता है, सम्यक्त्व भावमें पुरुषार्थ हीनता नहीं है ॥ ६ ॥

उदयकी प्रचलता । दोहा ।

जब जाकौ जैसौ उदै, तब सो है तिहि थान ।
सकति मरोरै जीवकी, उदै महा बलवान ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—जाकौ=जिसका । थान=स्थान । उदै (उदय)=कर्म विपाक ।

अर्थ—जब जिस जीनका जैसा उदय होता है तब वह जीव उसी माफिक वर्तता है । कर्मका उदय बहुत ही प्रबल होता है वह जीवकी शक्तियोंको कुचल डालता है और उसे अपने उदयके अनुकूल परिणमाता है ॥ ७ ॥

उदयकी प्रचलतापर दृष्टान्त । सवेया इकतीसा ।

जैसें गजराज परचौ कर्दमके कुंडवीच,
 उद्दिम अहूटै पै न छूटै दुख-दंदसौं ।
 जैसें लोह-कटककी कोरसों उरइयौ मीन,
 ऐंचत असाता लहे साता लहै संदसौं ॥
 जैसें महाताप सिर बाहिसों गरास्यौ नर,
 तकै निज काज उठि सकै न सुछंदसौ ।
 तैसें ग्यानवंत सब जानै न वसाइ कछु,
 बंध्यौ फिरै पूरव करम-फल-फंदसौ ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—गजराज=हाथी । कर्दम=कीचड़ । कटक=काँटा ।
 कोर=अनी । उरइयौ=फँसा हुआ । मीन=मछली । सद=साँसर ।

अर्थ—जिस प्रकार कीचड़के गड्डेमे पड़ा हुआ हाथी अनेक
 चेष्टाएँ करनेपर भी दुखसे नहीं छूटता, जिस प्रकार लोह-कट-
 कमें फँसी हुई मछली दुख पाती है—निकल नहीं सकती, जिस
 प्रकार तेज बुखार और मस्तक शूलमे पडा हुआ मनुष्य अपना
 कार्य करनेके लिये स्वाधीनतापूर्वक नहीं उठ सकता, उसी प्रकार
 सम्यग्ज्ञानी जीव जानते सब हैं परन्तु पूर्ण उपाजित कर्मोदयके
 फंदेमे फँसे हुए होनेसे उनका कुछ बश नहीं चलता अर्थात् व्रत
 संयम आदि ग्रहण नहीं कर सकते ॥ ८ ॥

मोक्षमार्गमें अज्ञानी जीव पुरुषार्थहीन और ज्ञानी पुरुषार्थी होते हैं ।
चौपाई ।

जे जिय मोह नींदमें सोवें ।

ते आलसी निरुद्धिम होंवें ॥

ट्रिष्टि खोलि जे जगे प्रवीना ।

तिनि आलस तजि उद्धिम कीना ॥९॥

शब्दार्थ—निरुद्धिम=पुरुषार्थहीन । प्रवीना=पंडित ।

अर्थ—जो जीव मिथ्यात्वकी निद्राम सोते रहते हैं वे मोक्ष मार्गमें प्रमादी वा पुरुषार्थ हीन होते हैं और जो विद्वान् ज्ञान नेत्र उघाडकर जाग्रत हुए हैं वे प्रमाद छोडकर मोक्षमार्गमें पुरुषार्थ करते हैं ॥ ९ ॥

ज्ञानी और अज्ञानीकी परणतिपर दृष्टान्त । सरेया इफतीसा ।

काच वाधै सिरसौ सुमनि वाधै पाइनिसौ,
जानै न गवार कैसी मनि कैसौ काच है ।

यौंही मूढ झूठमें मगन झूठहीकौ दौरै,
झूठीवात मानै पै न जानै कहा साच है ॥

मनिकौ परखि जानै जौहरी जगत मांहि,
साचकी समुझि ग्यान लोचनकी जाच है ।

जहांको जु वासी सो तौ तहाकौ मरम जानै,
जाको जैसौ स्वांग ताकौ ताही रूप नाच है १०

शब्दार्थ—सिर=माथा । सुमनि=रत्न । पाइनिर्सी=पैरोसे ।
परखि=परीक्षा । लोचन=नेत्र । स्वाग=वैप ।

अर्थ—जिस प्रकार विवेक हीन मनुष्य माथेमें काँच और पैरमें रत्न पहिनता है वह काँच और रत्नका मूल्य नहीं समझता, उसी प्रकार मिथ्यात्मी जीव अतत्त्वमें मग्न रहता है और अतत्त्व-हीको ग्रहण करता है, वह सत् अमत्को नहीं जानता । संसारमें हीराकी परीक्षा जाँहरी ही जानते हैं, साँच झूठकी पहिचान मात्र ज्ञानदृष्टिसे होती है । जो जिस अवस्थाका रहनेवाला है वह उसीको भली जानता है और जिसका जैसा स्वरूप है वह वैसीही परणति करता है, अर्थात् मिथ्यादृष्टी जीव मिथ्यात्वहीको ग्राह्य समझता है और उसे अपनाता है तथा सम्यक्त्वी सम्यक्त्वको ही ग्राह्य जानता है वा उसे अपनाता है ।

भावार्थ—जाँहरी मणिको परीक्षा करके लेता है और काँचको काँच जानकर उमकी कदर नहीं करता, पर मूर्खलोग काँचको हीरा और हीराको काँच समझकर काँचकी कदर और हीराका अनादर करते हैं, उसी प्रकार सम्यक्त्वी और मिथ्यात्वीका हाल रहता है अर्थात् मिथ्यादृष्टी जीव अतत्त्वहीको तत्त्व श्रद्धान करता है और सम्यक्त्वी जीव पदार्थका यथार्थ स्वरूप ग्रहण करता है ॥ १० ॥

जैसी क्रिया वैसा फल । दोहा ।

बध बढ़ावै अंध है, ते आलसी अजान ।

मुक्ति हेतु करनी करें, ते नर उद्दिमवान् ॥११॥

शब्दार्थ—अंध=विवेक हीन । आलसी=प्रमादी । अज्ञान (अज्ञान =अज्ञानी । उद्विग्नमान=पुरुषार्थी ।

अर्थ—जो विवेक हीन होकर कर्मकी बध परपरा बढ़ाते हैं वे अज्ञानी तथा प्रमादी हैं और जो मोक्ष पानेका प्रयत्न करते हैं वे पुरुषार्थी हैं ॥ ११ ॥

जबतक ज्ञान है तब तक वैराग्य है । सबैया इकतीसा ।

जबलग जीव सुद्धवस्तुकों विचारै ध्यावै,
तबलग भोगसों उदासी सरवंग है ।
भोगमें मगन तब ग्यानकी जगन नांहि,
भोग-अभिलाषकी दसा मिथ्यात अग है ।
तातै विपै-भोगमें मगन सो मिथ्याती जीव,
भोगसौ उदास सो समकित्ती अभग है ।
ऐसी जानि भोगसौ उदास है मुकति साधै,
यहै मन चग तौ कठौती मांहि गग है ॥ १२ ॥

शब्दार्थ—उदासी=विरक्त । सरवंग=बिलकुल । जगन=उदय । अभिलाष=इच्छा । मुकति (मुक्ति)=मोक्ष । चग (चंगो)=पवित्र । कठौती=साष्टका एक वर्तन (काठकी हीदी) ।

१ यह शब्द 'परि' (शुद्धमुखी) भाष्यार्थ प्रचलित है ।

अचिकी सः स न करोति करोति यस्तु
त्यय न यस्तु तद्विल कर्मराग ।
जो ज्ञानयोधमयमध्यवसायमाह

मिथ्यादशः स नियत स च बधहेतु ॥ ५ ॥

अर्थ—जब तक जीवका विचार शुद्ध वस्तुमें रमता है तब तक वह भोगोंसे सर्वथा विरक्त रहता है और जब भोगोंमें लीन होता है तब ज्ञानका उदय नहीं रहता, क्योंकि भोगोंकी इच्छा अज्ञानका रूप है । इससे स्पष्ट है कि जो जीव भोगोंमें मग्न होता है वह मिथ्यात्वी है और जो भोगोंसे विरक्त है वह सम्यग्दृष्टी है । ऐसा जानकर भोगोंसे विरक्त होकर मोक्षका साधन करो ! यदि मन पवित्र है तो कठौतीके जलमें नहाना ही गंगा स्नानके समान है और यदि मन, मिथ्यात्व विषय कषाय आदिसे मलीन है तो गंगा आदि करोड़ों तीर्थोंके स्नानसे भी आत्मामें पवित्रता नहीं आती ॥ १२ ॥

चार पुरुषार्थ । दोहा ।

धरम अरथ अरु काम सिव, पुरुषारथ चतुरंग ।
कुधी कल्पना गहि रहै, सुधी गहै सरवंग ॥ १३ ॥

शब्दार्थ—पुरुषारथ=उत्तम पदार्थ । चतुरंग=चार । कुधी=मूर्ख । सुधी=ज्ञानी । सरवंग (सर्वांग)=पूरा ।

अर्थ—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये पुरुषार्थके चार अंग हैं । उन्हें दुर्बुद्धी जीव मन चाहे ग्रहण करते हैं और सम्यग्दृष्टी ज्ञानी जीव सम्पूर्णतया वास्तविक रूपसे अंगीकार करते हैं ॥१३॥

चार पुरुषार्थोंपर ज्ञानी और अज्ञानीका विचार । सबैसा इकतीसा ।

कुलकौ आचार ताहि मूरख धरम कहै,
पंडित धरम कहै वस्तुके सुभाउकौ ।

शब्दार्थ—अध=विवेक हीन। आलसी=प्रमादी। अज्ञान (अज्ञान)
=अज्ञानी। उद्दिग्धान=पुरुषार्थी।

अर्थ—जो विवेक हीन होकर कर्मकी बंध परंपरा बढ़ाते हैं वे अज्ञानी तथा प्रमादी हैं और जो मोक्ष पानेका प्रयत्न करते हैं वे पुरुषार्थी हैं ॥ ११ ॥

जबतक शान है तब तक वैराग्य है। सबैया इकतीसा।

जबलग जीव सुद्धवस्तुकों विचारै ध्यावै,

तबलग भोगसौ उदासी सरवंग है।

भोगमें मगन तव ग्यानकी जगन नांहि,

भोग-अभिलापकी दसा मिथ्यात अग है ॥

तातै विपै-भोगमें मगन सो मिथ्याती जीव,

भोगसों उदास सो समकित्ती अभग है।

ऐसी जानि भोगसों उदास है मुकति साधै,

यहै मन चग तौ कठौती मांहि गग है ॥१२॥

शब्दार्थ—उदासी=विरक्त। सरवंग=बिलकुल। जगन=उदय।

अभिलाप=इच्छा। मुकति (मुक्ति)=मोक्ष। चंग (चर्गा)=पवित्र।

कठौती=काष्ठका एक वर्तन (काठनी हौदी)।

१ यह शब्द पञ्जाबी (गुरुमुखी) भाषामें प्रचलित है।

जानाति य स न करोति करोति यस्तु

जानात्यय न खलु तत्कल कर्मराग ।

राग त्वबोधमयमध्यवसायमाहु

मिथ्यादश स नियत स च बन्धहेतु ॥ ५ ॥

अंतरकी द्रिष्टियों निरंतर विलोकै बुध,
 धरम अरथ काम मोख निज घटमै ।
 साधन आराधनकी सोज रहै जाके संग,
 भूल्यौ फिरै मूरख मिथ्यातकी अलटमै ॥१५

शब्दार्थ—विलेठ=भिन्न भिन्न ग्रहण करना । संग्रहै=ग्रहण करे ।

निरासपद=निस्पृहता । सोज=सामग्री । अलट=भ्रम ।

अर्थ—वस्तु स्वभाषका यथार्थ जानना वरम पुरुषार्थकी सिद्धि करना है, छह द्रव्योंका भिन्न भिन्न जानना अर्थ पुरुषार्थकी साधना है, निस्पृहताका ग्रहण करना काम पुरुषार्थकी सिद्धि करना है और आत्म स्वरूपकी शुद्धता प्रगट करना मोक्ष पुरुषार्थकी सिद्धि करना है । ऐसे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों पुरुषार्थोंको सम्यग्दृष्टी जीव अपने हृदयमे सदा अतरदृष्टिसे देखते हे और मिथ्यादृष्टी जीव मिथ्यात्वके भ्रममे पड़कर चारों पुरुषार्थोंकी साधक और आराधक सामग्री पासमें रहते हुए भी उन्हें नहीं देखता और बाहर खोजता फिरता है ॥ १५ ॥

वस्तुका सत्य स्वरूप और मूर्खका पिचार । सबैया इकतीसा ।

तिहूं लोकमांहि तिहूं काल सब जीवनिको,
 पूरव करम उदै आइ रस देतु है ।

सर्वे सदैव नियत भवति स्वकीय

कर्मोद्वयान्मरणजीवितदुःखसौख्यम् ।

अज्ञानमेतदिह यत्तु पर परस्य

कुर्यात्पुमान्मरणजीवितदुःखसौख्यम् ॥ ६ ॥

खेहकौ खजानों ताहि अग्यानी अरथ कहै,
 ग्यानी कहै अरथ दरब दरमाउकौ ॥
 दपतिकौ भोग ताहि दुरबुद्धी काम कहै,
 सुधी काम कहै अभिलाप चित चाउकौ ।
 इद्रलोक थानकौ अजान लोग कहें मोख,
 सुधी मोख कहै एक वधके अभाउकौ ॥१४॥

शब्दार्थ—खेह=मिठी । (दंपति)=पुस्प छा । दुरबुद्धी=मूर्ख ।
 सुधी=ज्ञानी । इद्रलोक=स्वर्ग ।

अर्थ—अज्ञानी लोग कुल पद्धति—ज्ञान चौका आदिको धर्म कहते हैं और पंडित लोग वस्तु स्वभापको धर्म कहते हैं । अज्ञानी लोग मिठीके ढेर मोने चादी आदिको द्रव्य कहते हैं, परन्तु ज्ञानी लोग तत्त्व अमलोकनको द्रव्य कहते हैं । अज्ञानी लोग पुस्प स्त्रीके विषय भोगको काम कहते हैं, ज्ञानी आत्माकी निस्पृहताको काम कहते हैं । अज्ञानी स्वर्गलोकको वैकुण्ठ (मोक्ष) कहते हैं पर ज्ञानी लोग कर्म ग्रन्थन नष्ट होनेको मोक्ष कहते हैं ॥ १४ ॥

आत्माहीमें चारों पुस्पार्थ हैं । सबैया इकतीमा ।

धरमकौ साधन जु वस्तुकौ सुभाउ साधै,
 अरथकौ साधन विलेठ दरब पटमे ।
 यहै काम-साधन जु सग्रहै निरासपद,
 सहज सरूप मोख सुद्धता प्रगटमे ॥

अंतरकी द्रिष्टियों निरंतर विलोके बुध,
 धरम अरथ काम मोख निज घटमें ।
 साधन आराधनकी सोज रहै जाके संग,
 भूल्यो फिरै मूरख मिथ्यातकी अलटमें ॥१५

शब्दार्थ—विलेख=भिन्न भिन्न ग्रहण करना । संप्रहै=ग्रहण करे ।
 निरासपद=निस्पृहता । सौज=सामग्री । अलट=भ्रम ।

अर्थ—वस्तु स्वभाषका यथार्थ जानना धर्म पुरुषार्थकी सिद्धि करना है, छह द्रव्योंका भिन्न भिन्न जानना अर्थ पुरुषार्थकी साधना है, निस्पृहताका ग्रहण करना काम पुरुषार्थकी सिद्धि करना है और आत्म स्वरूपकी शुद्धता प्रगट करना मोक्ष पुरुषार्थकी सिद्धि करना है । ऐसे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों पुरुषार्थोंको सम्यग्दृष्टी जीव अपने हृदयमे सदा अंतरदृष्टिसे देखते है और मिथ्यादृष्टी जीव मिथ्यात्वके भ्रममे पडकर चारों पुरुषार्थोंकी साधक और आराधक सामग्री पासमे रहते हुए भी उन्हे नहीं देखता और बाहर खोजता फिरता है ॥ १५ ॥

वस्तुका सत्य स्वरूप और मूर्खका विचार । सबैया इकतीसा ।

तिहूं लोकमांहि तिहूं काल सब जीवनिकौ,
 पूरव करम उदै आइ रस देतु है ।

सर्वे सदैव नियत भवति स्वकीय

कर्मोदयान्मरणजीवितदु खसौख्यम् ।

अज्ञानमेतदिह यत्तु पर परस्य

कुयांतपुमान्मरणजीवितदु खसौख्यम् ॥ ६ ॥

कोउ दीरघाउ धरै कोउ अलपाउ मरै,
 कोउ दुखी कोउ सुखी कोउ समचेतु है ॥
 याहि में जिवायौ याहि मारौ याहि सुखी करौ,
 याहि दुखी करौ ऐसे मूढ मान लेतु है ।
 याही अह बुद्धिसौ न विनसै भरम भूल,
 यहै मिथ्या धरम करम-बंध-हेतु है ॥ १६ ॥

शब्दार्थ— दीरघाउ (दार्ढ्यायु)=अधिक उमर । अलपाउ=छोटी उमर । जिवायौ=जिलाया । मूढ=मिथ्यादृष्टी । हेतु=कारण ।

अर्थ—तीन लोक और तीनो कालमें जगतके सब जीवोंको पूर्व उपाजित कर्म उदयमें आकर फल देता है जिससे कोई अधिक आयु पाते हैं, कोई छोटी उमरमें मरते हैं, कोई दुखी होते हैं, कोई सुखी होते हैं और कोई साधारण स्थितिमें रहते हैं । इसपर मिथ्यात्वी ऐसा मानने लगता है कि मैंने इसे जिलाया है, इसे मारा, इसे सुखी किया, इसे दुखी किया है । इसी अहबुद्धिसे अनानका परदा नहीं हटता और यही मिथ्याभाव है जो कर्मबंधका कारण है ॥ १६ ॥

पुन

जहांलौं जगतके निवासी जीव जगतमें,
 सबै असहाइ कोऊ काहूको न धनी है ।

अज्ञानमेतदधिगम्य परात्परस्य

पश्यति ये मरणजीवितदु खसौत्यम् ।

कर्मोप्यहङ्कृतिरसेन चिकीर्षवस्ते

मिथ्यादृशो नियतमात्महनो भवन्ति ॥ ७ ॥

जैसी जैसी पूरव करम-सत्ता वांधी जिन,
 तैसी तैसी उदैमें अवस्था आइ बनी है ॥
 एतेपरि जो कोउ कहै कि मैं जिवाऊं मारूं,
 इत्यादि अनेक विकल्प वात घनी है ।
 सो तौ अहंबुद्धिसौ विकल भयौ तिहूं काल,
 डोलै निज आत्म सकति तिन हनी है १७

शब्दार्थ—असहाइ=निराधार । घनी=रक्षक । अवस्था=हालत ।
 घनी=बहुतसी । विकल=बेचैन । डोलै=फिरता है । तिहूं काल=सदैव ।
 हनी=नष्ट की ।

अर्थ—जब तक ससारी जीवोंका जन्म मरणरूप ससार है
 तब तक वे असहाय हैं—कोई किसीका रक्षक नहीं है । जिसने
 पूर्वकालमें जैसी कर्म सत्ता वांधी है उदयमें उसकी वैसीही दशा
 हो जाती है । ऐसा होनेपर भी जो कोई कहता है कि मैं पालता
 हूँ, मैं मारता हूँ इत्यादि अनेक प्रकारकी कल्पनाएँ करता है,
 सो वह इसी अहंबुद्धिसे व्याकुल होकर सदा भटकता फिरता है
 और अपनी आत्म शक्तिका घात करता है ॥ १७ ॥

उत्तम, मध्यम, अधम और अधमाधम जीवोंका स्वभाव ।
 सबैया इकतीसा ।

उत्तम पुरुषकी दसा ज्यों किसमिस दाख,
 वाहिज अभितर विरागी मृदु अंग है ।

घशानी जीवकी मूढतापर मृगजल और अधिका दृष्टात ।
सबैया इकतीसा ।

जैसें मृग मत्त वृषादित्यकी तपत मांहि,
तृषावत मृषा-जल कारन अटतु है ।
तैसें भववासी मायाहीसो हित मानि मानि,
ठानि ठानि भ्रम श्रम नाटक नटतु है ।
आगेको धुक्त घाइ पीछे बछरा चवाइ,
जैसें नैन हीन नर जेवरी बटतु है ।
तैसें मूढ चेतन सुकृत करतूति करै,
रोवत हसत फल सोवत खटतु है ॥ २७ ॥

शब्दार्थ—वृषादित्य=वृष संक्रान्तिका सूर्य । तृषावत=प्यासा ।
मृषा=झूटा । अटतु है=भटकता है । नटतु है=नाचता है । नैनहीन नर=
अधा मनुष्य ।

अर्थ—जिस प्रकार ग्रीष्मकालमें सूर्यका तीव्र आताप होने-
पर प्यासा मृग उन्मत्त होकर मिथ्याजलकी ओर व्यर्थही
दौड़ता है, उसी प्रकार ससारी जीव मायाहीमें कल्याण सोचकर
मिथ्या कल्पना करके समारमें नाचते है । जिस प्रकार अधा
मनुष्य आगेको रस्सी बटता (भँजता) जावे और पीछेसे बछड़ा
साता जाये, तो उसका परिश्रम व्यर्थ जाता है, उसी प्रकार मूर्ख
जीव शुभाशुभ क्रिया करता है वा शुभक्रियाके फलमें हर्ष और
अशुभक्रियारु फलमें विषाद करके क्रियाका फल खो देता है ॥२७॥

१ जेठ महीनेमें सूर्य वृष संक्रान्तिपर जाता है ।

अज्ञानी जीव बंधनसे न सुलझ सकनेपर दृष्टान्त ।
सबैया इकतीसा ।

लियें द्रिढ़ पंच फिरै लोटन कबूतरसौ,
उलटौ अनादिकौ न कहूं सुलटतु है ।
जाकौ फल दुख ताहि सातासौं कहत सुख,
सहत-लपेटी असि-धारासी चटतु है ॥
ऐसैं मूढजन निज संपदा न लखै क्यौही,
योहि मेरी मेरी निसिवासर रटतु है ।
याही ममतासौं परमारथ विनसि जाइ,
कांजीकौ परस पाइ दूध ज्यों फटतु है ॥२८॥

शब्दार्थ—द्रिढ़ (दृढ़)=मजबूत । सहत (शहद)=मधु । असि=तलवार । निसिवासर=रात दिन । परस (स्पर्श)=छूना ।

अर्थ—जिस प्रकार लोटन कबूतरके पंखोंमें मजबूत पंच लगे होनेसे वह उलट पुलट फिरता है, उसी प्रकार ससारी जीव अनादि कालसे कर्म बन्धनके पंचमें उलटा हो रहा है, कभी सन्मार्ग ग्रहण नहीं करता, और जिसका फल दुःख है, ऐसी विषय भोगकी किंचित् साताको मुख मानकर शहद लपेटी तलवारकी धारको चाटता है । ऐसा अज्ञानी जीव सदाकाल परमस्तुओंको मेरी मेरी कहता है और अपनी ज्ञानादि विभूतिको नहीं देखता, परद्रव्यके इस ममत्व भावसे आत्महित ऐसा नष्ट हो जाता है जैसे कि काजीके स्पर्शसे दूध फट जाता है ॥ २८ ॥

अज्ञानी जीवकी अहद्युद्धिपर दृष्टान्त । सवैया शकतीसा ।
 रूपकी न झाँक हीयें करमकौ डांक पियै,
 ग्यान दवि रह्यौ मिरगांक जैसे धनमें ।
 लोचनकी डांकसों न मानै सदगुरु हांक,
 डोलै मूढ रांकसौ निसांक तिहूं पनमें ॥
 टांक एक मांसकी डलीमी तामे तीन फांक,
 तीनकौसौ आंक लिखि राख्यौ काहू तनमें ।
 तामौ कहै नांक ताके राखिवैकौ करै कांक,
 लांकसों खडग चांधि वांक धरै मनमें ॥२१॥

शब्दार्थ—मिरगांक (मृगांक)=चन्द्रमा । डाक=ढक्कन । हाक=पुकार । टांक (टक)=तौलनेका एक घाट (चार मासे) । फांक=खण्ड । कांक=क्षगड़ा । लाक (लक)=कमर । खडग (खड्ग)=तलवार । वांक=वक्रता ।

अर्थ—अज्ञानी जीवको अपने स्वरूपकी खबर नहीं है, उस पर कर्मोदयका डाँके लग रहा है, उसका शुद्ध ज्ञान ऐसा दब रहा है जैसे कि चन्द्रमा मेघोंसे दब जाता है । ज्ञाननेत्र ढँक जानेसे वह सद्गुरुकी शिक्षा नहीं मानता, मूर्खतावश दरिद्री हुआ

१ खकेद कौंचरर जिख रंगका डोंक लगाया जाता है, उसी रंगका कौंच दिखने लगता है । उसी प्रकार जीवरूप कौंचरर कर्मका डोंक लग रहा है, सो कर्म जैसा रस देता है, बीवारमा उसी रूप हो जाता है ।

सदैव निःशंक फिरता है । नाक है सो मासकी एक डली है, उसमें तीन फाँक है, मानो किमीने शरीरमें तीनका अरुही लिख रक्खा है, उसे नाक कहता है, उस नाक (अहकार) के रखनेको लड़ाई करता है, कमरसे तलवार बाँधता है और मनमें चक्रता ग्रहण करता है ॥ २९ ॥

अज्ञानीकी विषयासक्ततापर दृष्टान्त । सर्वथा इफतीमा ।

जैसे कोऊ कूकर लुधित सूके हाड़ चाबै,
हाडनिकी कोर चहुं ओर चुभे मुखमें ।
गाल तालु रसना मसूढ़निकौ मांस फाटे,
चाटै निज रुधिर मगन स्वाद-सुखमें ॥
तैसें मूढ विषयी पुरुष रति-रीति ठानै,
तामें चित्त सानै हित मानै खेद दुखमें ।
देखै परतच्छ बल-हानि मल-मूत-खानि,
गहै न गिलानि पगि रहै राग-रुखमें ॥ ३० ॥

शब्दार्थ—पगि रहै=मग्न हो रहै । रख=द्वेष ।

अर्थ—जिस प्रकार भूसा कुत्ता हड्डी चनाता है और उसकी अनी चारो ओरसे मुसमें चुभ जाती है, जिससे गाल, तालु, जीभ तथा जगडोंका मांस फट जाता है और खून निकलता है, उस निकले हुए अपने ही रक्तको वह बड़े स्वादसे चाटता हुआ आनन्दित होता है । उसी प्रकार अज्ञानी विषय-लोलुपी-जीव काम भोगमें आसक्त होकर सताप और कष्टमें भलाई मानता है ।

कामक्रीडामें शक्तिकी हानि और मल मूत्रकी रानि साक्षात् दिखती है, तो मी वह ग्लानि नहीं करता, राग द्वेषमें मग्न ही रहता है ॥ ३० ॥

जो निर्माही है वह साधु है। अडिह ।

सदा करमसों भिन्न, सहज चेतन कह्यौ ।

मोह-विकलता मानि, मिथ्याती है रह्यौ ॥

करै विकल्प अनत, अहमति धारिकै ।

सो मुनि जो थिर होइ, ममत्त निवारिकै ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ—अहंमति=अहंबुद्धि । निवारिकै=दूर करक ।

अर्थ—वास्तवमें आत्मा कर्मोंसे निराला है, परन्तु मोहके कारण स्वरूपको भूलकर मिथ्यात्वी बन गटा है और शरीर आदिमें अहंबुद्धि करके अनेक विकल्प करता है । जो जीव परद्रव्योंसे ममत्वभाज छोडकर आत्मस्वरूपमें स्थिर होता है वह साधु है ॥ ३१ ॥
सम्यग्दृष्टी जीव आत्म स्वरूपमें स्थिर होते हैं । सत्येया इक्तीमा ।

असख्यात लोक परवांन जे मिथ्यात भाव,

तेई विवहार भाव केवली-उरुत हैं ।

जिन्हकौ मिथ्यात गयौ सम्यक दरस भयौ,

ते नियत लीन विवहारसौ मुक्त है ॥

विद्वाद्भिर्मन्त्रोऽपि हि यत्प्रभा ।। शतमानमात्मा विदधाति त्रिदशम् ।
मोहैकबन्दोऽध्ययसाय एव नास्तीह येषा यतयस्त एव ॥ १० ॥

सर्वेप्राध्ययसानमेऽमपिल त्याज्य यदुक्तं जिनै

स्तमन्थे व्यवहार एव निविलोऽप्यथाश्रयस्त्याजित ।

सम्यग्निश्चयमेकमेव तदमी नि कम्पमाश्रम्य किं

शुद्धज्ञानघने महिस्त्रि न निजे वन्नति सतो धृतिम् ॥ ११ ॥

निरविकल्प निरुपाधि आत्म समाधि,
साधि जे सुगुन मोख पंथको दुकत है ।
तेई जीव परम दसामें थिररूप हैकै,
धरममें धुके न करमसौ रुकत है ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ—असंख्यात लोक परवान=जितने लोकाकाशके प्रदेश हैं । उकत=कहा हुआ । नियत=निश्चय नय । मुकत=छूटे हुए ।

अर्थ—जिनराजका कथन है कि जीवके जो लोकाकाशके प्रदेशोंके धरानर मिथ्यात्व भावके अध्ययमाय है, वे व्यवहार नयसे हैं । जिस जीवको मिथ्यात्व नष्ट होनेपर सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, वह व्यवहार छोड़कर निश्चयमे लीन होता है, वह विकल्प और उपाधि रहित आत्म अनुभव ग्रहण करके दर्शन ज्ञान चारित्ररूप मोक्षमार्गमे लगता है और वही परमध्यानमे स्थिर होकर निर्माण प्राप्त करता है, कर्मोंका रोक नही रुकता ॥ ३२ ॥

शिष्यका प्रश्न । कवित्त ।

जे जे मोह करमकी परनाति,
बंध-निदान कही तुम सब्व ।
संतत भिन्न सुद्ध चेतनसौं,
तिन्हकौ मूल हेतु कहु अब्व ॥

रागादयो बन्धनिदानमुक्तास्ते शुद्धचिन्मात्रमहोऽतिरिक्ता ।
आत्मा परो वा किमु तन्निमित्तमिति प्रणुन्ना पुनरेवमाहु ॥ १२ ॥

भूत प्याम और निर्दय पुरुषों द्वारा प्राप्त कष्ट भोगता है, क्षणभर भी विश्राम लेनेकी विरता नहीं पाता और परार्थीन हुआ चक्कर लगाता है ॥ ४२ ॥

ससारी जीवोंकी हालत । सबैया इफतीसा ।

जगतमें डोले जगवासी नररूप धरे,
 प्रेतकेसे दीप फिधों रेतकेसे थूहे हें ।
 दीसै पट भूपन आडंबरसौ नीके फिरि,
 फीके छिनमाझ सांझ-अवर ज्यो सूहे हें ॥
 मोहके अनल दगे मायाकी मनीसों पगे,
 डाभकी अनीसों लगे ओसकेसे फूहे हें ।
 धरमकी वृक्ष नांहि उरझे भरममांहि,
 नाचि नाचि मरि जांहि मरीकेसे चूहे हें ॥४३॥

शब्दार्थ—डोले=फिरि । प्रेतकेसे दीप=मरघटपर जो चिराग जलाया जाता है । रेतकेसे थूहे=रेतके टीने । नीके=अच्छे । फीके=मलीन । सांझ-अंवर=मध्याह्न आकाश । अनल=अग्नि । दगे=दाहे जले । डाभकी=दूब घासकी । अनी=नोक । फूहे=फिदु । वृक्ष=पहिचान । मरि=छेग ।

अर्थ—ससारी जीव मनुष्य आदिका शरीर धारण करके भटक रहे हैं, सो मरघटके दीपके तथा रेतके टीनेके समान क्षण-भंगुर हैं । वृक्ष आभूषण आदिसे अच्छे दिखाई देते हैं परन्तु

१ जल्दी बुझ जाता है, काइ थॉमनेवाला नहीं है । २ मारवाड़में वायुके निमित्तसे बालके टीने बन जाते हैं आर फिर भिट जाते हैं ।

साँझके आकाशके समान क्षणभरमे मलिन हो जाते हैं । वे मोहकी अग्निसे जलते हैं फिर भी मायाकी ममतामे लीन होते हैं और घासपर पड़ी हुई ओसकी बूंदके समान क्षणभरमे नष्ट हो जाते हैं । उन्हें निज स्वरूपकी पहिचान नहीं है, भ्रममे भूल रहे हैं और ड्रेगके चूहोंके समान नाच नाचकर शीघ्र मर जाते हैं ॥४३॥

धन सम्पत्तिसे मोह हटानेका उपदेश । सप्रेया इकतीसा ।

जासौ तू कहत यह संपदा हमारी सो तौ,
साधनि अडारी ऐसै जैसे नाक सिनकी ।
ताहि तू कहत याहि पुन्र जोग पाई सो तौ,
नरककी साई है बड़ाई डेढ़ दिनकी ॥
घेरा मांहि परयौ तू विचारै सुख आंखिनकौ,
माखिनके चूटत मिठाई जैसे भिनकी ।
एते परि होहि न उदासी जगवासी जीव,
जगमै असाता है न साता एक छिनकी ॥४४

शब्दार्थ—अडारी=छोड़ी । साई=त्रयाना । घेरा=चक्कर ।

अर्थ—हे ससारी जीवो ! जिसे तुम कहते हो कि यह हमारा धन है, उसे साधुजन इस तरह छोड़ देते हैं जिस तरह कि नाकका मैल छिनक दिया जाता है और फिर ग्रहण नहीं किया जाता । जिम धनके लिये तुम कहते हो कि पुण्यके निमित्तसे पाया है सो डेढ़ दिनका बडप्पन है पीछे नरकोंमे पटकने-

— १ जब चूहोंपर ड्रेगका आक्रमण होता है तो वे बिल आदिसे निकलकर भूमि-पर गिरते * * * अन्धी बेचैनीके भाग ले सक सकत प्रयागकर शीघ्र मर जाते हैं ।

वाला है, अर्थात् पापरूप है। तुम्हें इससे आँखोंका सुरा दिसता है, इसके कारण तुम कुटुम्बी जन आदिसे ऐसे घिर रहे हो जैसे मिठाईके ऊपर मक्खिया बिनबिनाती हैं। आश्चर्य है कि इवनेपर भी ससारी जीव ससारसे विरक्त नहीं होते, मच पूछो तो ससारमे असाता ही असाता है क्षणमात्रको भी साता नहीं है॥४४॥

लौकिक जनोंसे मोह हटानेका उपदेश। दोहा।

ए जगवासी यह जगत, इन्हसों तोहि न काज।
तेरै घटमें जग वसै, तामे तेरौ राज ॥ ४५ ॥

अर्थ—हे भव्य ! ये ससारी जीव और इस समारसे तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं है, तुम्हारे ज्ञानघटमें समस्त ससारका समावेश है और उसमे तुम्हारा ही राज्य है ॥ ४५ ॥

शरीरमें त्रिलोकके विलास गर्भित हैं। सबैया इक्तीसा।

याही नर-पिडमें विराजै त्रिभुवन थिति,

याहीमें त्रिविधि परिनामरूप सृष्टि है।

याहीमें करमकी उपाधि दुस दावानल,

याहीमें समाधि सुरा वारिदकी वृष्टि है ॥

याहीमें करतार करतूति हीमें विभूति,

यामें भोग याहीमें वियोग यामें घृष्टि है।

याहीमें विलास सब गर्भित गुपतरूप,

ताहीको प्रगट जाके अतर सुदृष्टि है॥४६॥

१ निर्मल ज्ञानमें समस्त लोक बलोक प्रतिबिम्बित होते हैं।

शब्दार्थ—नर पिंड=मनुष्यशरीर । त्रिविध=उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-
रूप । वारिद=त्रादल । घृष्टि=विसना । गर्भित=समावेश ।

अर्थ—इसीही मनुष्य शरीरमें तीन लोक मौजूद हैं, इसीमें तीनों प्रकारके परिणाम हैं, इसीमें कर्म उपाधि जनित दुस्तरूप अग्नि है, इसीमें आत्म-यानरूप सुखकी मेघघृष्टि है, इसीमें कर्मका कर्ता आत्मा है, इसीमें उसकी क्रिया है, इसीमें ज्ञान संपदा है, इसीमें कर्मका भोग वा वियोग है, इसीमें भले बुरे गुणोंका सप्रर्पण है और इसी देहमें सन विलास गुप्तरूप गर्भित हैं, परन्तु जिसके अतरंगमें सम्यग्ज्ञान है उसे ही सन विलास विदित होने हैं ॥ ४६ ॥

आत्मविलास जाननेका उपदेश । सर्वथा तेईसा ।

रे रुचिवंत पचारि कहै गुरु,
तू अपनौ पद वृद्धत नांही ।
खोजु हिये निज चेतन लच्छन,
है निजमें निज गूढत नांही ॥
सुछ सुछंद सदा अति उज्जल,
मायाके फंद अरूद्धत नांही ।
तेरौ सरूप न दुंदकी दोहीमें,
तोहीमें है तोहि सूद्धत नांही ॥ ४७ ॥

११ कटिके नीचे पाताल लोक, नाभि मध्यलोक और नाभिसे ऊपर ब्रह्मलोक ।

२ उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य ।

शब्दार्थ—रुचिरंत=भव्य । पचारि=बुलाकर । वृक्षत=पहिचानते । हिये=घटमें । गूक्षत नाही=उलझता नहीं है । सुंउद=स्वतंत्र । उज्जल=निर्मल । अरूक्षत नाही=छूटता नहीं । दुद (दद)=भ्रम मल । दोही=दुविधा ।

अर्थ—श्रीगुरु बुला करके कहते हैं कि हे भव्य ! तुम अपने स्वरूपको पहिचानते नहीं हो, अपने घटमें चैतन्य चिह्न ढूंढो, वह अपनेहीमें है, अपनेसे उलझता नहीं है, तुम शुद्ध स्वाधीन और अत्यन्त निर्भ्रकार हो, तुम्हारी आत्म-सत्तापर मायाका प्रवेश नहीं है । तुम्हारा स्वरूप भ्रमजाल और दुविधासे रहित है जो तुम्हें सूझता नहीं है ॥ ४७ ॥

आत्मस्वरूपकी पहिचान ज्ञानसे होती है । सचैया तेईसा ।

केई उदास रहें प्रभु कारन,
 केई कहे उठि जाहि कहींकै ।
 केई प्रनाम करै गढि मूरति,
 केई पहार चढें चढि छींकै ॥
 केई कहें असमानके उपरि,
 केई कहे प्रभु हेठि जमींकै ।
 मेरो धनी नहि दूर दिसन्तर,
 मोहीमें है मोहि सूझत नीकै ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ—उदास=विरक्त । गढि=बनाकर । मूरति (मूर्ति)=प्रतिमा । पहार (पहाड़)=पर्वत । असमान (आसमान)=ऊर्ध्व लोक ।

हेठि=नीचे । जमी(जमीन)=धरती । दिसन्तर (देशान्तर)=अन्य क्षेत्र, विदेश ।

अर्थ—आत्माको जानने अर्थात् ईश्वरका खोज करनेके लिये कोई तो घामाजी बन गये हैं, कोई दूसरे क्षेत्रमे यात्रा आदिको जाते हैं, कोई प्रतिमा बनाकर नमन पूजन करते हैं, कोई छींके-पर बैठ पहाड़ोंपर चढ़ते हैं, कोई कहते हैं कि ईश्वर आसमानमें है और कोई कहते हैं कि पातालमें है परन्तु हमारा प्रभु दूरदेशमें नहीं है—हमहीमें है सो हमे भले प्रकार अनुभवमें आता है ॥४८॥

पुन । दोहा ।

कहै सुगरु जो समकिती, परम उदासी होइ ।

सुथिर चित्त अनुभौ करै, प्रभुपद परसै सोइ ॥४९॥

शब्दार्थ—परम=अत्यन्त । उदासी=वीतरागी । परसै=प्राप्त करे ।

अर्थ—श्रीगुरु कहते हैं कि जो सम्यग्दृष्टी अत्यन्त वीतरागी होकर मनको सूत्र स्थिर करके आत्म अनुभव करता है वही आत्म स्वरूपको प्राप्त होता है ॥ ४९ ॥

मनकी चंचलता । सवैया इकतीसा ।

छिनमें प्रवीन छिनहीमें मायासौ मलीन,

छिनकमें दीन छिनमांहि जैसौ सक्र है ।

लियें दौर घूप छिन छिनमें अनंतरूप,

कोलाहल ठानत मथानकौसौ तक्र है ॥

मायाकों झपटि गहै कायासौ लपटि रहै,
 भूल्यौ भ्रम-भीरमे वहीरकौसौ ससा है ।
 ऐसौ मन चंचल पताकाकौसौ अंचल सु,
 ग्यानके जगेसौ निरवाण पथ धसा है ॥५१॥

शब्दार्थ—धायौ=दौड़ा । विमुख=विरुद्ध । सघाती=साथी । कुरा-
 पाती=उपद्रवी । गहै=पकड़े । वहीर=बहेलिया । ससा(शशा)=खर्गोश ।
 पताका=ध्वजा । अंचल=कपड़ा ।

अर्थ—यह मन सुखके लिये हमेशासे ही भटकता रहा है पर
 कहीं सच्चा सुख नहीं पाया । अपने स्वानुभवके सुखसे विरुद्ध
 हुआ दुःखोंके कुएमे पड़ रहा है । धर्मका घाती, अधर्मका सँगाती,
 महा उपद्रवी, सन्निपातके रोगीके समान असावधान हो रहा है ।
 धन सम्पत्ति आदिको फुर्तीके साथ ग्रहण करता है ओर शरीरसे
 मुहब्बत लगाता है, भ्रमजालमे पड़ा हुआ ऐसा भूल रहा है
 जैसा शिकारीके घेरेमे खर्गोश भ्रमण करता है । यह मन पताकाके
 ध्वजके समान चंचल है, वह ज्ञानका उदय होनेसे मोक्षमार्गमे
 प्रवेश करता है ॥ ५१ ॥

मनकी स्थिरताका प्रयत्न । दोहा ।

जो मन विपै कपायमे, वरतै चंचल सोइ ।
 जो मन ध्यान विचारसौ, रुकै सु अविचल होइ ॥

शब्दार्थ—रुकै=ठहरें । अविचल=स्थिर ।

नटकौसौ थार किधौ हार है रहटकौसौ,
 धारकौसौ भोर कि कुभारकौसौ चक्र है ।
 ऐसौ मन भ्रामक सुथिरु आजु कैसे होइ,
 ओरहीकौ चचल अनादिहीकौ वक्र है ॥५०॥

शब्दार्थ—प्रवाण=चतुर । सक्र(शक्र)=इन्द्र । ठनत=रूतता है ।
 मथान=विलोचना । तक्र=छाँउ । थार=थाली । हार=माला । चक्र=चाक ।
 भ्रामक=भ्रमण करनेवाला । चंचल=चपल । वक्र=टेढ़ा ।

अर्थ—यह मन क्षणभरमें पडित बन जाता है, क्षणभरम
 मायासे मलिन हो जाता है, क्षणभरमे विपयोके लिये दीन होता
 है, क्षणभरमे गर्से इन्द्र जैसा मन जाता है, क्षणभरमे जहाँ तहाँ
 दौड लगाता है और क्षणभरमे अनेक वेप मनाता है । जिस प्रकार
 दही त्रिलोचनेपर छाँउकी गड़गड़ी होती है वैसा कोलाहल
 मचाता है, नटका बाल, रहटकी माला, नदीकी धारका भँवर
 अथवा कुभारके चाकके समान घूमताही रहता है । ऐसा भ्रमण
 करनेवाला मन आन कैसे स्थिर हो सकता है, जो स्वभासे ही
 चंचल और अनादिकालसे वक्र है ॥ ५० ॥

मनकी चंचलतापर ज्ञानका प्रभाव । सर्वथा इक्तीसा ।

धायौ सदा काल पै न पायौ कहूँ साचो सुख,
 रूपसों विमुख दुसकूपवास वसा है ।
 धरमकौ घाती अधरमकौ सघाती महा,
 कुरापाती जाकी सनिपातकीसी दसा है ॥

मायाको झपटि गहै कायासो लपटि रहै,
 भूल्यौ भ्रम-भीरमै वहीरकौसौ ससा है ।
 ऐसौ मन चंचल पताकाकौसौ अचल सु,
 ग्यानके जगेसौ निरवाण पथ धसा है ॥५१॥

शब्दार्थ—घायौ=दोड़ा । विमुख=विरुद्ध । सघाती=साथी । कुरा-
 पाती=उपद्रवी । गहै=पकड़े । वहीर=बहेलिया । ससा(शशा)=खर्गोश ।
 पताका=ध्वजा । अंचल=कपड़ा ।

अर्थ—यह मन सुखके लिये हमेशासे ही भटकता रहा है पर
 कहीं सच्चा सुख नहीं पाया । अपने स्वानुभवके सुखसे विरुद्ध
 हुआ दुःखके कुएँमें पड़ रहा है । धर्मका घाती, अधर्मका संगीत,
 महा उपद्रवी, सन्निपातके रोगीके समान अमावधान हो रहा है ।
 धन सम्पत्ति आदिको फुर्तीके साथ ग्रहण करता है और शरीरसे
 गृह्यत लगाता है, भ्रमजालमें पड़ा हुआ ऐसा भूल रहा है
 जैसा शिकारीके घेरेमें खर्गोश भ्रमण करता है । यह मन पताकाके
 ध्वजके समान चंचल है, वह ज्ञानका उदय होनेसे मोक्षमार्गमें
 प्रवेश करता है ॥ ५१ ॥

मनकी स्थिरताका प्रयत्न । दोहा ।

जो मन विपै कपायमें, चरते चंचल सोइ ।
 जो मन ध्यान विचारसों, रुके सु अविचल होइ ॥
 शब्दार्थ—रुके=टहरें । अविचल=स्थिर ।

मोक्ष द्वार ।

(९)

प्रतिज्ञा । दोहा ।

बधद्वार पूरौ भयौ, जो दुख दोष निर्दान ।

अब वरनौ संक्षेपसौं, मोखद्वार सुखथान ॥ १ ॥

शब्दार्थ—निदान=कारण। वरनौ=वर्णन करता हूँ। संक्षेप=थोड़ेमें।

अर्थ—दुःखों और दोषोंके कारणभूत बधका अधिकार समाप्त हुआ अब थोड़ेमें सुखका स्थानरूप मोक्ष अधिकारका वर्णन करता हूँ ॥ १ ॥

मंगलचरण । सत्रैया इकतीसा ।

भेदग्यान आरासौ दुफारा करै ग्यानी जीव,

आतम करम धारा भिन्न भिन्न चरचै ।

अनुभौ अभ्यास लहै परम धरम गहै,

करम भरमकौ खजानौ खोलि खरचै ॥

यौही मोख मुख धावै केवल निकट आवै,

पूरन समाधि लहै परमकौ परचै ।

द्विधाष्टय प्रज्ञापकचदलनाड्यन्धपुरयो

नयन्मोक्ष साक्षात्पुरुषमुपलम्बैः नियत ।

इदानीमु मज्जातसहजपरमानन्दसरसं

पर पूर्णं ज्ञानं तस्यैककृत्य विजयते ॥ १ ॥

भयौ निरदौर याहि करनौ न कछु और,
ऐसौ विश्वनाथ ताहि बनारसी अरचै ॥२॥

शब्दार्थ—चरचै=जाने । खरचै=हटावे । परचै=पहिचाने । निर-
दौर=स्थिर । विश्वनाथ=ससारका स्वामी । अरचै=वदना करता है ।

अर्थ—ज्ञानी जीव भेदविज्ञानकी करौतसे आत्म परणति
और कर्मपरणतिको पृथक करके उन्हें जुदी जुदी जानता है और
अनुभवका अभ्यास तथा रत्नत्रय ग्रहण करके ज्ञानावरणादि
कर्म वा रागद्वेष आदि विभावका खजाना खाली कर देता है ।
इस रीतिसे वह मोक्षके सन्मुख दौड़ता है । जब केवलज्ञान उसके
समीप आता है तब पूर्ण ज्ञान प्राप्त करके परमात्मा बन जाता
है और ससारकी भटकना मिट जाती है, तथा करनेको कुछ
बाकी नहीं रह जाता अर्थात् कृतकृत्य हो जाता है । ऐसे
त्रिलोकीनाथको पंडित बनारसीदासजी नमस्कार करते हैं ॥२॥

सम्यग्ज्ञानसे आत्माकी सिद्धि होती है । सबैया इकतीसा ।

काहू एक जैनी सावधान है परम पैनी,
ऐसी बुद्धि छैनी घटमांहि डार दीनी है ।

पैठी नो करम भेदि दरव करम छेदि,

सुभाउ विभाउताकी संधि सोधि लीनी है ॥

प्रज्ञाछेत्री शितेय कथमपि निपुणै पातिता सावधानैः

सूक्ष्मेऽन्त सन्धियन्धे निपतति रभसादात्मकर्मोभयस्य ।

... आत्मन मग्नमत स्थिरविशदलसद्भासि चैतन्यपूरे

यन्ध चाज्ञानभावे नियमितममित, कुर्वती भिन्नभिन्नौ ॥ २ ॥

मोक्ष द्वार ।

(९)

प्रतिज्ञा । दोहा ।

वधद्वार पूरौ भयौ, जो दुख दोष निदान ।
अब वरनौ संक्षेपसौ, मोखद्वार सुखथान ॥ १ ॥

शब्दार्थ—निदान=कारण । वरनौ=वर्णन करता हूँ । संक्षेप=थोड़ेमें ।

अर्थ—दुखों और दोषोंके कारणभूत वधका अधिकार समाप्त हुआ अब थोड़ेमें सुखका स्थानरूप मोक्ष अधिकारका वर्णन करता हूँ ॥ १ ॥

मंगलाचरण । सनैया इक्तीसा ।

भेदग्यान आरासौ दुफारा करै ग्यानी जीव,
आत्म करम धारा भिन्न भिन्न चरचै ।
अनुभौ अभ्यास लहै परम धरम गहै,
करम भरमकौ खजानौ खोलि खरचै ॥
यौही मोख मुख धावै केवल निकट आवै,
पूरन समाधि लहै परमकौ परचै ।

द्विधाट्य प्रज्ञाककचदलनाद्वन्धपुरुषी

नयन्मोक्ष साक्षात्पुरुषमुपलम्भैःनियत ।

इदानीमुन्मत्तसहजपरमानन्दसरसं

पर पूर्णं ज्ञानं तत्सफलदृश्यं विजयते ॥ १ ॥

भयौ निरदौर याहि करनौ न कछु और,
ऐसौ विश्वनाथ ताहि बनारसी अरचै ॥२॥

शब्दार्थ—वरचै=जाने । खरचै=हटावे । परचै=पहिचाने । निर-
दौर=स्थिर । विश्वनाथ=ससारका स्वामी । अरचै=बदना करता है ।

अर्थ—ज्ञानी जीव भेदविज्ञानकी करौंत्से आत्म परणति
और कर्मपरणतिको पृथक करके उन्हे जुदी जुदी जानता है और
अनुभवका अभ्यास तथा रत्नत्रय ग्रहण करके ज्ञानापरणादि
कर्म वा रागद्वेष आदि विभावका सजाना साली कर देता है ।
इस रीतिसे वह मोक्षके सन्मुख दौड़ता है । जब केवलज्ञान उसके
समीप आता है तत्र पूर्ण ज्ञान प्राप्त करके परमात्मा बन जाता
है और ससारकी भटकना मिट जाती है, तथा करनेको कुछ
बाकी नहीं रह जाता अर्थात् कृतकृत्य हो जाता है । ऐसे
त्रिलोकीनाथको पंडित बनारसीदासजी नमस्कार करते हैं ॥२॥

सम्यग्ज्ञानसे आत्माकी सिद्धि होती है । सबैया इकतीसा ।

काहू एक जैनी सावधान है परम पैनी,
ऐसी बुद्धि छैनी घटमांहि डार दीनी है ।
पैठी नो करम भेदि दरव करम छेदि,
सुभाउ विभाउताकी संधि सोधि लीनी है ॥

प्रज्ञाछेरी शितेय कथमपि निपुणै पातिता सावधानैः
सूक्ष्मेऽन्त सन्धिवन्धे निपतति रमसादात्मकमौंभयस्य ।
आत्मन मग्नमत स्थिरविशदलसद्भासि चैतन्यपूरे
बन्ध चाज्ञानभावे नियमितममित कुर्वती भिन्नभिन्नौ ॥ २ ॥

सम्यग्ज्ञानीका महत्त्व । सब घर्ण गुरु, सबैया इकतीसा ।
 राणाकोसौ बाना लीनै आपा साधै थाना चीनै,
 दानाअगी नानारगी खाना जगी जोधा है ।
 मायावेली जेती तेती रेतैमें धारेती सेती,
 फदाहीकौ कदा खोदैं खेतीकोसौ लोधा है ॥
 बाधासेती हाता लोरै राधासेती तांता जोरै,
 बांदीसेती नाता तोरै चांदीकोसौ सोधा है ।
 जानै जाही ताही नीकै मानै राही पाही पीकै,
 ठाने बातें डाही ऐमौ धाराचाही बोधा है ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—राणा=राजशाह । बाना=भेष । धाना=स्थान । चीनै=पहिचान । दानाअगी=प्रनापी । खाना जगी जोधा=युद्धमें महा शूरवीर । कदा=नासकी जदें । खेतीकोसौ लोधा=किसानके समान । बाधा=रुध । हाता लोरै=भ्रम करता है । तांता=डोर । बांदी=दासी । नाता=सम्बन्ध । डाही=दोश्यारी । बोधा=ज्ञानी ।

अर्थ—भेदविज्ञानी ज्ञाता, राजा जैसा रूप उनाये हुए है । वह अपने आत्मरूप स्वदेशकी रक्षाके लिये परिणामोंकी सम्हाल रखता है, और आत्मसत्ता भूमिरूप स्थानको पहिचानता है, प्रशम, सवेग, अनुकंपा आदिकी सेना सम्हालनेमें दाना अर्थात् प्रवीण होता है, शम, दाम, दंड भेद आदि कलाओंमें कुशल रानाके समान है, तप, समिति, गुप्ति, परीपहजय, धर्म, अनुप्रेक्षा आदि अनेक रंग धारण करता है, कर्मरूपी शत्रुओंको

जीतनेमें बड़ा बहादुर होता है । मायारूपी जितना लोहा है, उस सत्रको चूर चूर करनेको रेतीके समान है, कर्मके फदेरूप कामको जड़से उखाड़नेके लिये किसानके समान है, कर्मबधके दुखासे बचानेवाला है, सुमति राधिकासे प्रीति जोड़ता है, कुमतिरूप दासीसे संघ तोड़ता है, आत्म पदार्थरूप चादीको ग्रहण करने और पर पदार्थरूप धूलको छोड़नेमें रजत-मोधा (सुनार) के समान है । पदार्थको जैसा जानता है, वैसाही मानता है, भाव यह है कि हेयको हेय जानता और हेय मानता है । उपादेयको उपादेय जानता और उपादेय मानता है, ऐसी उत्तम बातोंका आराधक धारा-प्रवाही ज्ञाता है ॥ ६ ॥

ज्ञानी जीवही चक्रवर्ती है । सबैया इकतीसा ।

जिन्हकै दरव मिति साधन छखड थिति,
 विनसै विभाव अरि पंकति पतन हे ।
 जिन्हकै भगतिको विधान एई नौ निधान,
 त्रिगुनके भेद मानौ चौदह रतन हें ॥
 जिन्हकै सुबुद्धिरानी चूरै महा मोह वज्र,
 पूरै मंगलीक जे जे मोखके जतन हें ।
 जिन्हके प्रमान अंग सौहै चमू चतुरग,
 तेई चक्रवर्ती तनु धरै पै अतन हें ॥ ७ ॥

१ आत्मा उषदना मास (भीतरी गुदा) मगज आदिके समान उपादेय है, और छिटका फोक आदिने समान शरीरादि हेय है ।

शब्दार्थ—अरि पवति=शत्रु समूह । पतन=नष्ट होना । नव निधाने=नव निधि । मंगलीक=मण्डल चौक । चमू=सेना । चतुरंग=मेंनाके चार अंग—हाथी घोड़े रथ पैदल । अतन=शरीर रहित ।

अर्थ—ज्ञानी जीव चक्रवर्तीके समान है, क्योंकि चक्रवर्ती छह सड़ पृथ्वी साधते-जीतते हैं, ज्ञानी छह द्रव्योंको साधते हैं, चक्रवर्ती शत्रु समूहको नष्ट करते हैं, ज्ञानी जीव विभाव परणतिका विनाश करते हैं, चक्रवर्तीको नवनिधि होती है, ज्ञानी नवभक्ति धारण करते हैं, चक्रवर्तीके चौदह रत्न होते हैं, ज्ञानियोंको सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रके भेदरूप चौदह रत्न होते हैं, चक्रवर्तीकी पटरानी दिग्विजयको जानेके अरसरपर चुटकीसे वज्र-रत्नोंका चूर्ण करके चाँक पूरती है, ज्ञानी जीवकी सुसुद्धिरूप पटरानी

१ महापाल अस्ति मसिके साधन, देत कालनिधि प्रथ महान ।

मानत्र आयुध भाड नसरप, सुभग पिगला भूपन खान ॥

पाडुष नाधि सब धाय देत ह, करै शय वाजिप्र प्रदान ।

सवै रतन रत्नोंकी दाता, धरत देत निधि पद्म महान ॥

२ नवभक्तिके नाम आगके दोहेमें कहे हैं ।

३ चक्रवर्तीके चौदह रत्नोंमें सात सजीव रत्न होते हैं, और सात अजीव होते हैं । वे इस प्रकार हैं —

दोहा—सनापति महपति थपित, प्रोहित नाग तुरग ।

वनिता मिलि सार्ती रतन, हैं सजीव सरवग ॥ १ ॥

चक्र छत्र अस्ति दृड मणि, धर्म वाक्णी नाम ।

ये अजीव सार्ती रतन, चक्रवर्तिके धाम ॥ २ ॥

४ कविने चौदह रत्नोंकी सख्याको त्रिगुणके भेदोंमें गिनाया है, जो सम्यग्दर्शनके उपगम क्षयोपशम, क्षायक ये तीन, ज्ञानके मति श्रुत अवाधि, मन पयय, कबल ये पाँच, और चारित्रके सामाधिक, छदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मतापराय, आर समयमासयम ये छह ऐसे सब रत्नकृत सौन्दर्य लक्षण लक्षणे हैं ।

मोक्ष जानेका शकुन करनेको महामोहरूप वज्रको चूर्ण करती है, चक्रवर्तीके हाथी घोड़े रथ पैदल ऐसी चतुरगिनी सेना रहती है, ज्ञानी जीवोंके प्रत्यक्ष परोक्ष प्रमाण नय और निपेक्ष होते हैं । विशेष यह है कि चक्रवर्तीके शरीर होता है, पर ज्ञानी-जीव देहसे विरक्त होनेके कारण शरीर रहित होते हैं, इसलिये ज्ञानी जीवोंका पराक्रम चक्रवर्तीके समान है ॥ ७ ॥

नव भक्तिके नाम । दोहा ।

श्रवण कीरतन चितवन, सेवन वदन ध्यान ।

लघुता समता एकता, नौधा भक्ति प्रवान ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—श्रवण=उपादेय गुणोंका सुनना । कीरतन (कीर्तन)=गुणोंका व्याख्यान करना । चितवन=गुणोंका विचार करना । सेवन=गुणोंका अध्ययन करना । वदन=गुणोंकी स्तुति करना । ध्यान=गुणोंका स्मरण रखना । लघुता=गुणोंका गर्व नहीं करना । समता=सत्रपर एकसी दृष्टि रखना । एकता=एक आत्माहीको अपना मानना, शरीरान्तरों पर मानना ।

अर्थ—श्रवण, कीर्तन, चितवन, सेवन, वदन, ध्यान, लघुता, समता, एकता ये नव प्रकारकी भक्ति है, जो ज्ञानी जीव करते हैं ॥ ८ ॥

ज्ञानी जीवोंका मन्त्र-य । सबैया इकतीसा ।

*कोऊ अनुभवी जीव कहै मेरे अनुभौमें,

लक्षण विभेद भिन्न करमकौ जाल है ।

* भित्त्वा सर्वमपि स्वलक्षणबलाद्भेदेषु हि यच्छक्यते

चिमुद्राङ्कितनिर्विभागमहिमा शुद्धधिदेवास्म्यहम् ।

भिद्यते यदि कारकाणि यदि वा धर्मा गुणा वा यदि

भिद्यता न मिदाऽस्ति वाचन विभौ भावे विशुद्धे चिति ॥३॥

जानै आपा आपुकों जु आपुकरि आपुविषै,
 उतपति नास ध्रुव धारा असराल है ॥
 सारे विकल्प मोसौ न्यारे सरवथा मेरौ,
 निहचै सुभाव यह विवहार चाल है ।
 मैं तौ सुद्ध चेतन अनंत चिनमुडा धारी,
 प्रभुता हमारी एकरूप तिहुं काल है ॥ ९ ॥

अर्थ—आत्म अनुभवी जीव कहते हैं कि हमारे अनुभवमें आत्म स्वभाससे विरुद्ध चिह्नोंका धारक कर्मोंका फदा हमसे पृथक् है, वे आप अपनेको अपने द्वारा अपनेमें जानते हैं । द्रव्यकी उत्पाद, व्यय और ध्रुव यह त्रिगुण धारा जो मुझमें बहती है, सो ये विकल्प, व्यवहार नयसे है, मुझसे सर्वा मित्र हैं, मैं तो निःशय नयका विषयभूत शुद्ध और अनंत चैतन्यमूर्त्तिका धारक हूँ, मेरा यह सामर्थ्य सदा एकसा रहता है—कभी घटता घटता नहीं है ॥ ९ ॥

आत्माके चेतन लक्षणका स्वरूप । संख्या इवतीस्ता ।

निराकार चेतना कहावै दरसन गुन,
 साकार चेतना सुद्ध ग्यान गुनसार है ।

१ यह कर्तृरूप है । २ यह कर्मरूप है । ३ यह कारणरूप है । ४ यह अधिकरण है ।

अद्वैताऽपि हि चेतना जगति चेद्दृग्गतिरूप त्यजे

सत्सामान्यप्रियोरूपप्रिहात्साऽस्तित्वमेव त्यजेत् ।

तत्प्रागे जडता चित्तोऽपि भवति व्याप्यो विना व्यापका

दात्मा चान्तमुपैति तेन नियत दृग्गतिरूपास्तु चित् ॥ ४ ॥

चेतना अद्वैत दोऊ चेतन दरव मांहि,
 सामान विशेष सत्ताहीकौ विसतार है ॥
 कोऊ कहै चेतना चिहन नांही आतमामै,
 चेतनाके नास होत त्रिविध विकार है ।
 लक्षणकौ नास सत्ता नास मूल वस्तु नास,
 तातै जीव दरवकौ चेतना आधार है ॥१०॥

शब्दार्थ—निराकार चेतना=जीवका दर्शन गुण जो आकार आदिको नहीं जानता । साकार चेतना=जीवका ज्ञान गुण जो आकार आदि समेत जानता है । अद्वैत=एक । सामान्य=जिसमें आकार आदिका विकल्प नहीं होता । विशेष=जो आकार आदि सहित जानता है । चिहन (चिह्न)=लक्षण । त्रिविधि=तीन तरहके । विकार=दोष ।

अर्थ—चैतन्य पदार्थ एकरूप ही है, पर दर्शन गुणको निराकार चेतना और ज्ञान गुणको साकार चेतना कहते हैं । सो ये सामान्य और विशेष दोनों एक चैतन्यहीके विकल्प हैं, एकही

१-२ पदार्थको जाननेके पहले पदार्थके अस्तित्वका जो किंचित् भान होता है वह दर्शन है, दर्शन यह नहीं जानता कि पदार्थ किस आकार व रंगका है, वह तो सामान्य अस्तित्व मात्र जानता है, इसीसे दर्शन गुण निराकार और सामान्य है । इसमें महासत्ता अथात् सामान्य सत्ताका प्रतिभास होता है । आकार रंग आदिका जानना ज्ञान है, इससे ज्ञान साकार है, सविकल्प है, विशेष जानता है । इसमें अवातर सत्ता अथात् विशेषसत्ताका प्रतिभास होता है । (विशेष समझनेके लिये 'बृहदद्रव्यसप्रह' की ज स्थापना बरकरा आदि गायार्थका अध्ययन करना

द्रव्यमे रहते है । वैशेषिक आदि मतपाले आत्मामें चैतन्यगुण नहीं मानते हैं, सो उनसे जनमतपालोंका कहना है कि चेतनाका अभाव माननेसे तीन दोष उपजते है, प्रथम तो लक्षणका नाश होता है, दूसरे लक्षणका नाश होनेसे सत्ताका नाश होता है, तीसरे सत्ताका नाश होनेसे मूल वस्तुहीका नाश होता है । इसलिये जीव द्रव्यका स्वरूप जाननेके लिये चैतन्यहीका अवलम्बन है ॥ १० ॥

दोहा ।

चेतन लक्षण आत्मा, आत्म सत्ता माहि ।

सत्तापरिमित वस्तु है, भेद तिहूमै नांहि ॥ ११ ॥

अर्थ—आत्माका लक्षण चेतना है, और आत्मा सत्तामें है, क्योंकि सत्ता धर्मके बिना आत्मपदार्थ सिद्ध नहीं होता, और अपनी सत्ता प्रमाण वस्तु है, सो द्रव्य अपेक्षा तीनोंमे भेद नहीं है एक ही है ॥ ११ ॥

आत्मा नित्य है । सबैया तेईसा ।

ज्यों कलधौत सुनारकी सगति,

भूपन नाम कहै सब कोई ।

कंचनता न मिटी तिहि हेतु,

वहै फिरि औटिके कंचन होई ॥

त्यों यह जीव अजीव सजोग,

भयौ बहुरूप भयौ नहि दोई ।

चेतनता न गई कबहू,

तिहि कारन ब्रह्म कहावत सोई ॥ १२ ॥

शब्दार्थ—कलघाँत=सोना । भूपन=गहना । औँटत=गलानेसे ।

ब्रह्म=नित्य आत्मा ।

अर्थ—जिस प्रकार सुनारके द्वारा गढ़े जानेपर सोना गहनेके रूपमें हो जाता है, पर गलानेसे फिर सुवर्ण ही कहलाता है, उसी प्रकार यह जीव अजीवरूप कर्मके निमित्तसे अनेक वेप धारण करता है, पर अन्यरूप नहीं हो जाता, क्योंकि चैतन्य गुण कहीं चला नहीं जाता, इसी कारण जीवको सत्र अपस्थाओंमें ब्रह्म कहते हैं ॥ १२ ॥

सुबुद्धि सखीको ब्रह्मका स्वरूप समझाते हैं । सचैया तेईसा ।

देखु सखी यह ब्रह्म विराजित,

याकी दसा सच याहीकौ सोहै ।

एकमें एक अनेक अनेकमें,

टुंद लिये दुविधामह दो है ॥

आपु सभारि लखै अपनौ पद,

आपु विसारिकै आपुहि मोहै ।

व्यापकरूप यहै घट अतर,

ग्यानमें कोन अग्यानमें को है ॥ १३ ॥

शब्दार्थ—विराजित=शोभायमान । दसा=परणति । विसारिकै=

भूलके ।

अर्थ—सुषुद्धिरूप सखीसे कहते हैं, कि हे सखी देख, यह अपना ईश्वर सुशोभित है, इसकी सत्र परणति इसे ही शोभा देती है, ऐसी विचित्रता और दूसरेमें नहीं है। इसे आत्मसत्तामें देखो तो एकरूप है, और परमत्तामें देखो तो अनेकरूप है, ज्ञानदशामें देखो तो ज्ञानरूप, अज्ञानदशामें देखो तो अज्ञानरूप, ऐसी दोनों दुविधाएँ इसमें हैं। कभी तो सचेत होकर अपनी शक्तिको सम्हालता है और कभी प्रमादमें पडकर निज स्वरूपको भूलता है, पर यह ईश्वर निनघटमें व्यापक रहता है, उन विचार करो कि ज्ञानरूप परिणमन करनेवाला कौन है और अज्ञान दशामें बर्तनेवाला कौन है ? अर्थात् वही है ॥ १३ ॥

आत्म अनुभवना दृष्टान्त । सत्रैया तेईसा ।

ज्यों नट एक धरै बहु भेख,
 कला प्रगटै बहु कौतुक देखै ।
 आपु लखै अपनी करतूति,
 वही नट भिन्न विलोकत भेखै ॥
 त्यों घटमें नट चेतन राव,
 विभाउ दसा धरि रूप विसेरै ।
 खोलि सुदृष्टि लखै अपनी पद,
 दुद विचारि दसा नहि लेखै ॥ १४ ॥

अर्थ—जिस प्रकार नट अनेक स्वाँग धनाता है, और उन स्वाँगोंके तमाशे देखकर लोग कौतूहल समझते हैं, पर वह नट

अपने अमली रूपसे कृत्रिम किये हुए वेषको भिन्न जानता है, उसी प्रकार यह नटरूप चेतन राजा परद्रव्यके निमित्तसे अनेक विभार पर्यायोंको प्राप्त होता है, परंतु जब अंतरगदृष्टि सोलकर अपने सत्य रूपको देखता है तब अन्य अवस्थाओंको अपनी नहीं मानता ॥ १४ ॥

हेय उपादेय भावोंपर उपदेश । छद् अडिह ।

*जाके चेतन भाव, चिदानंद सोइ है ।

और भाव जो धरे, सौ औरौ कोइ है ॥

जो चिनमंडित भाउ, उपादे जाननै ।

त्याग जोग परभाव, पराये माननै ॥ १५ ॥

शब्दार्थ—चिदानंद=चेतनवत आत्मा । उपादे (उपादेय)=ग्रहण करनेके योग्य । हेय=त्यागने योग्य । पराये=दूसरे । मानने=श्रद्धान करना चाहिये ।

अर्थ—जिसमें चैतन्यभाव है वह चिदात्मा है, और जिसमें अन्यभाव है, वह और ही अर्थात् अनात्मा है । चैतन्य भाव उपादेय है, परद्रव्योके भाव पर है—त्यागने योग्य है ॥ १५ ॥

शानी जीव चाहे घरमें रहें चाहे वनमें रहें, मोक्षमार्गं साधते हैं ।
सर्वैया इकतीसा ।

जिन्हके सुमति जागी भोगसों भये विरागी,
परसंग त्यागी जे पुरुष त्रिभुवनमें ।

*एषश्चितश्चिन्मय एव भावो भावा परे च क्लृप्ते परेषाम् ।
प्राणस्ततश्चिन्मय एव भावो भावा परे सर्वत एव हेया ॥ ५ ॥

धाम चहुँओर=चतुर्गति भ्रमण । समाधि=अनुभव । साहु=भला आदमी ।
गहै=ग्रहण करे ।

अर्थ—दहीके मयनेमे घीकी सत्ता साथी जाती है, आप-
धियोंकी हिकमतमे रसकी सत्ता है, शास्त्रोमे जहाँ तहाँ सत्ताहीका
कथन है, ज्ञानका सूर्य सत्तामे है, अमृतका पुत्र सत्तामे है, सत्ताका
छुपाना माझके अधिकारके समान है, और सत्ताको प्रधान करना
सवेरेका सूर्य उदय करना है । सत्ताका स्वरूपही मोक्ष है, सत्ताका
भूलना ही जन्म मरण आदि दोषरूप समार है, अपनी आत्म
सत्ताका उलघन करनेसे चतुर्गतिमे भटकना पड़ता है । जो आत्म
सत्ताके अनुभवमे विरानमान है वही भला आदमी है और जो
आत्म सत्ताको छोड़कर अन्यकी सत्ताको ग्रहण करता है वही
चोर है ॥ २३ ॥

आत्मसत्ताका अनुभव निर्विकल्प है । सर्वथा इक्तीसा ।

जामै लोक वेद नाहि थापना उछेद नाहि,
पाप पुत्र खेद नाहि क्रिया नाहि करनी ।
जामैं राग दोष नाहि जामैं बध मोख नाहि,
जामैं प्रभु दास न अफास नाहि धरनी ॥
जामैं कुल रीत नाहि जामैं हारि जीत नाहि,
जामैं गुरु सीप नाहि वीप नाहि भरनी ।

१-२ सांनके अधिकारसे भाव यह दिखता है कि अज्ञानका अधिकार बढ़ता
जावे । प्रभातके सूर्यादयसे यह भाव दिखता है कि ज्ञानका प्रकाश बढ़ता जावे ।

आश्रम वरन नांहि काहूकी सरन नांहि,
ऐसी सुद्ध सत्ताकी समाधिभूमि वरनी ॥२४॥

शब्दार्थ—लोक वेद=लौकिक ज्ञान । थापना उच्छेद=लौकिक वार्ताका खंडन । जैसे मूर्तिको ईश्वर कहना यह लोक व्यवहार है और मूर्तिपूजाका खंडन करना लोक स्थापनाका उच्छेद करना है सो सत्तामें दोनों नहीं हैं । खेद=कष्ट । प्रभु=स्वामी । दास=सेवक । धरनी=पृथ्वी । धीप भरनी=मजिल पूरी करना । वरन आश्रम (वर्ण आश्रम)=ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र ये चार ।

अर्थ—जिममें लौकिक रीतियोंकी न विधि है न निषेध है, न पाप पुण्यका क्लेश है, न क्रियाकी मनाही है, न राग द्वेष है, न बध मोक्ष है, न स्वामी है न सेवक है, न आकाश है न धरती है, न कुलाचार है, न हारजीत है, न गुरु है न शिष्य है, न चलना फिरना है, न वर्णाश्रम है, न किसीका शरण है । ऐसी शुद्धसत्ता अनुभवरूप भूमिपर पाई जाती है ॥ २४ ॥

जो आत्मसत्ताको नहीं जानता वह अपराधी है । दोहा ।

जाकै घट समता नहीं, ममता मगन सदीव ।
रमता राम न जानई, सो अपराधी जीव ॥ २५ ॥

१-२ ऊंच नीचका भेद नहीं है ।

अतो हता प्रमादिनो गता सुरासीनिता

प्रलीन चापलमुन्मूलितमालम्बनम् ।

आत्मन्येव आलानित च चित्तमा-

सपूर्णविज्ञानघनोपलब्धे ॥ ९ ॥ (१)

अपराधी मिथ्यामती, निरदै हिरदै अध ।
 परक्रों मानै आतमा, करै करमकौ वध ॥ २६ ॥
 झूठी करनी आचरै, झूठे सुरसकी आस ।
 झूठी भगति हिण धरै, झूठे प्रभुकौ दास ॥ २७ ॥

शब्दार्थ—समता=राग द्वेष रहित भाव । ममता=पर द्रव्योंमें अहं बुद्धि । रमता राम=अपने रूपमें आनंद करनेवाला आतमराम । अपराधी=दोषी । निरदै (निर्दय)=दुष्ट । हिरदै (हृदय)=मनमें । आस (आशा)=उम्मेद । भगति (भक्ति)=सेवा, पूजा । दास=सेवक ।

अर्थ—जिम्हें हृदयमें ममता नहीं है, जो सदा शरीर आदि परपदार्थोंमें मग्न रहता है और अपने आत्म रामको नहीं जानता वह जीव अपराधी है ॥२५॥ अपने आत्म स्वरूपको नहीं जाननेवाला अपराधी जीव मिथ्यात्वी है, अपनी आत्माका हिंसक है, हृदयका अधा है । वह शरीर आदि पर पदार्थोंको आत्मा मानता है और कर्म बंधको बढ़ाता है ॥ २६ ॥ आत्मज्ञानके बिना उसका तपाचरण मिथ्या है, उसकी मोक्षसुरसकी आशा झूठी है, ईश्वरको जाने बिना ईश्वरकी भक्ति वा दासत्व मिथ्या है ॥ २७ ॥

मिथ्यात्वकी विपरीत वृत्ति । सर्वथा इक्षतीति ।

माटी भूमि सैलकी सो सपदा वखानै निज,
 कर्ममें अमृत जानै ग्यानमें जहर है ।
 अपना न रूप गहे औरहीसो आपौ कहै,
 साता तो समाधि जाकै असाता कहर है ॥

कोपकौ कृपान लिए मान मद पान कियैं,
 मायाकी मरोर हियैं लोभकी लहर है ।
 याही भांति चेतन अचेतनकी संगतिसौं,
 सांचसौ विमुख भयौ झूठमै बहर हे ॥ २८ ॥

शब्दार्थ—सैल (शैल)=पर्वत । जहर=विष । और ही सौं=पर
 द्रव्यसे । कहर=आपत्ति । कृपान=नलनार । बहर है=लगा हुआ है ।

अर्थ—सोना चादी जो पहाड़ोंकी मिट्टी है उन्हे निज सम्पत्ति
 कहता है, शुभक्रियाको अमृत मानता है और ज्ञानको जहर
 जानता है । अपने आत्मरूपको ग्रहण नहीं करता, शरीर आदिको
 आत्मा मानता है, साता वेदनीय जनित लौकिक सुखमें आनन्द
 मानता है और असाताके उदयको आफत कहता है । क्रोधकी
 तलनार ले रखी है, मानकी शराब पी बैठा है, मनमें मायाकी
 बरुता है और लोभके चक्करमें पडा हुआ है । इम प्रकार
 अचेतनकी संगतिसे चिद्रूप आत्मा सत्यसे परान्मुख होकर झूठ
 हीमें उलझ रहा है ॥ २८ ॥

तीन काल अतीत अनागत वरतमान,
 जगमें अखंडित प्रवाहकौ डहर है ।
 तासौं कहै यह मेरो दिन यह मेरी राति,
 यह मेरी घरी यह मेरोही पहर है ॥

जिन्हकी चित्तौनि आगे उदै स्वान भूसि भागै,
लागै न करम रज ग्यान गज चढे हैं ॥

जिन्हकी समुञ्जिकी तरंग अग आगममे,
आगममे निपुन अध्यातममे कढे हे ।

तेई परमारथी पुनीत नर आठो जाम,

राम रस गाढ़ करे यहै पाठ पढे हे ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ—पापक=अग्नि । त्रिरज (वृक्ष)=शाइ । स्वान=कुत्ता ।
रज=धूल । ग्यान गज=ज्ञानरूपी हाथी । अध्यातम=आत्माका स्वरूप
बताने वाली विद्या । परमारथी (परमार्थी)=परम पदार्थ अर्थात् मोक्षके
मार्गमें लगे हुए । पुनीत=पवित्र । आठो जाम=आठों पहर-सदाकाल ।

अर्थ—जिनकी धर्म यानरूप अग्निमें सगय विमोह विश्रम
ये तीनों वृक्ष जल गये हैं, जिनकी सुदृष्टिके आगे उदयरूपी
कुत्ते भौंकते भौंकते भाग जाते हैं, वे ज्ञानरूपी हाथीपर सवार
हैं इससे कर्मरूपी धूल उन तक नहीं पहुँचती । जिनके विचारमें
शास्त्रज्ञानकी तरंगें उठती हैं, जो सिद्धान्तमें प्रवीण हैं, जो
आध्यात्मिक विद्याके पागामी हैं, वे ही मोक्षमार्गी हैं—वे ही
पवित्र हैं, सदा आत्म अनुभवका रस दृढ करते हैं और आत्म
अनुभवहीका पाठ पढते हैं ॥ ३१ ॥

जिन्हकी चिहुंटी चिमटासी गुन चूनिवेकौ,
कुक्थाके सुनिवेकौ दोऊ कान मढे हे ।

शब्दार्थ—सुद्ध चेतना=शुद्ध ज्ञान दर्शन । लघुकालमें=योड़े समयमें ।

अर्थ—जो मुनिगज विकल्प रहित है, अनुभव और शुद्ध ज्ञान दर्शन महित है, वे योड़े ही समयमें कर्म रहित होते हैं, अर्थात् मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥ ४३ ॥

ज्ञानमें सब जीव एकमे भासते ह । फरिस्त ।

जैसे पुरुष लखै परवत चढ़ि,
 भूचर-पुरुष ताहि लघु लगौ ।
 भूचर पुरुष लखै ताकौ लघु,
 उतरि मिलै दुहुकौ भ्रम भगौ ।
 तैसे अभिमानी उन्नत लग,
 और जीवकौ लघुपद दगौ ।
 अभिमानीकौ कहे तुच्छ सब,
 ग्यान जगै समता रस जगौ ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ—भूचर=धरतीपर रहनेवाला । लघु=छोटा । उन्नत लग=उंचा सिर रखनेवाला ।

अर्थ—जैसे पहाडपर चढ़े हुए मनुष्यको नीचेका मनुष्य छोटा दिसता है, और नीचेके मनुष्यको उपर पहाडपर चढ़ा हुआ मनुष्य छोटा दिसता है, पर जत्र वह नीचे आता है तत्र दोनोंका भ्रम हट जाता है और विषमता मिट जाती है, उसी प्रकार उंचा

सिर रखनेवाले अभिमानी मनुष्यको सब आदमी तुच्छ दिखते हैं, और सबको वह अभिमानी तुच्छ दिखता है, परन्तु जब ज्ञानका उदय होता है तब मान कपाय गल जानेसे समता प्रगट होती है। ज्ञानमे कोई छोटा बड़ा नहीं दिखता, सब जीव एरुसे भासते हैं ॥ ४४ ॥

अभिमानी जीवोंकी दशा । सबया इरुतीसा ।

करमके भारी समुझै न गुनकौ मरम,
परम अनीति अधरम रीति गहे है ।
हौंहि न नरम चित्त गरम घरमहूतें,
चरमकी द्रिष्टिसौ भरम भूलि रहे है ॥

आसन न खोलें मुख वचन न वोलें,
सिर नाये हू न डोलें मानौ पाथरके चहे हैं ।
देखनके हाऊ भव पंथके बढ़ाऊ ऐसे,
मायाके खटाऊ अभिमानी जीव कहे हैं ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ—करमके भारी=अत्यन्त कर्म वर बाँधे हुए । मरम=असलियत । अधरम (अधर्म)=पाप । नरम=सौमल । चरम द्रिष्टि (चर्म दृष्टि)=इन्द्रिय जनित ज्ञान । चहे (चय)=चिने हुए । हाऊ=भयकर । बढ़ाऊ=बढ़ानेगले । खटाऊ=टिकाऊ-मजबूत ।

अर्थ—जो कर्मोंका तीव्र बंध बाँधे हुए है, गुणोंका मर्म नहीं जानते, अत्यन्त अनुचित और पापमय मार्ग ग्रहण करते हैं,

* दोषको ही गुण समझ जाते हैं ।

नरमचित्त नही होते, धूपसे भी अधिक गरम रहते हैं और इन्द्रियज्ञानहीमें भूले रहते हैं, दिखानेके लिये एक आसनसे बैठते वा सड़े हो रहते हैं, मौनसे रहते हैं, महन्तजी जानकर कोई नमस्कार करे तो उत्तरके लिये अग तक नहीं हिलाते, मानो पत्थर ही चिन रख्वा हो, देखनेमें भयंकर हैं, ससारमार्गके बढानेवाले हैं, मायाचारीमें पके हैं, ऐसे अभिमानी जीव होते हैं ॥ ४५ ॥

शानी जीवोंकी दशा । सबैया इकतीसा ।

धीरके धरैया भव नीरके तरैया भय,
 भीरके हरैया वर वीर ज्यों उमहे है ।
 मारके मरैया सुविचारके करैया सुख,
 ढारके ढरैया गुन लौसो लह लहे है ॥
 रूपके रिझैया सव नैके समझैया सव,
 हीके लघु भैया सवके कुबोल सहे हैं ।
 वामके वमैया दुख दामके दमैया ऐसे,
 रामके रमैया नर ग्यानी जीव कहे है ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ—भव नीर=ससार समुद्र । मार=समुदाय । वरवीर=महा-योद्धा । उमहे=उमग सहित—उत्माहित । मार=कामकी वासना । लहलहे=हरे भरे । रूपके रिझैया=आत्म स्वरूपके रचिया । लघु भैया=छोटे बन-

कर नम्रता पूर्वक चलनेवाले । कुपोल=कठोर वचन । बाम=वक्रता-कुटिलता । दुख दामके दमैया=दु खोंकी संततिको नष्ट करनेवाले । रामके रमैया=आत्मस्वरूपमें स्थिर होनेवाले ।

अर्थ—जो धीरजके धरनेवाले हैं, समार समुद्रसे तरनेवाले है, सब प्रकारके भय नष्ट करनेवाले हैं, महायोद्धा समान धर्ममें उत्साहित रहते है, विषयनासनाओंको जलाते हैं, आत्महितका चिंतन किया करते है, सुखशान्तिकी चाल चलते है, सद्गुणोंकी ज्योतिसे जगमगाते है, आत्मस्वरूपमें रुचि रखते हैं, सब नयोंका रहस्य जानते है, ऐसे क्षमावान् हैं कि सबके छोटे भाई बनकर रहते हैं वा उनकी सरी सौटी गते सहते है, हृदयकी कुटिलता छोड़कर सरल चित्त हुए है, दुख सतापकी राह नहीं चलते, आत्मस्वरूपमें विश्राम किया करते हैं ऐसे महानुभाव ज्ञानी कहलाते हैं ॥ ४६ ॥

सम्यक्स्वी जीवोंकी महिमा । चौपाई ।

जे समकिती जीव समचेती ।
तिनकी कथा कहों तुमसेती ॥

त्यक्त्वाऽशुद्धिनिधायि तत्किल परद्रव्य समग्र स्वय
स्वद्रव्ये रतिमेति य स नियत सर्वापराधच्युतः ।
बन्धध्वंसमुपेत्य नित्यमुदित स्वज्योतिरच्छोच्छल-
श्चैतन्यामृतपूरपूर्णमहिमा शुद्धो भवन्मुच्यते ॥ १२ ॥

जहां प्रमाद क्रिया नहि कोई ।
 निरविकल्प अनुभौ पद सोई ॥ ४७ ॥
 परिग्रह त्याग जोग थिर तीनों ।
 करम वध नहि होय नवीनों ॥
 जहां न राग दोष रस मोहै ।
 प्रगट मोख मारग मुख सोहै ॥ ४८ ॥
 पूरव वध उदय नहि व्यापै ।
 जहा न भेद पुन अरु पापै ॥
 दरव भाव गुन निरमल धारा ।
 बोध विधान विविध विस्तारा ॥ ४९ ॥
 जिन्हकी सहज अवस्था ऐसी ।
 तिन्हकै हिरदै दुविधा कैसी ॥
 जे मुनि छपक श्रेणि चढि धाये ।
 ते केवलि भगवान कहाये ॥ ५० ॥

शब्दार्थ—समचेती=समता भाववाले । कथा=वार्ता । तुमसेती=तुमसे । प्रमादक्रिया=शुभाचार । जोग थिर तीनों=मन बचन कायके योगोंका निग्रह । नवीनों=नया । पुन (पुण्य)=शुभोपयोग । द्रव्यभात्र=बाह्य और अंतरग । बोधि=रत्नत्रय । छपकश्रेणि=मोह धर्म नष्ट करनेकी सीढ़ी । धाये=चढ़े ।

अर्थ—हे भव्य जीमो ! समता स्वभावके धारक सम्यग्दृष्टी जीवोंकी दशा तुमसे कहता हूँ, जहा शुभाचारकी प्रवृत्ति नहीं है वहा निर्विकल्प अनुभवपद रहता है ॥ ४७ ॥ जो सर्व परिग्रह छोड़कर, मन वचन कायके तीनों योगोंका निग्रह करके वध पर-पराका समर करते है, जिन्हें राग द्वेष मोह नहीं रहता वे साक्षात् मोक्षमार्गके सन्मुख रहते है ॥ ४८ ॥ जो पूर्ण बंधके उदयमे ममत्व नहीं करते, पुण्य पापको एकमा जानते है, अतरंग और ब्राह्ममे निर्विकार रहते है, जिनके सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र गुण उन्नति पर है ॥ ४९ ॥ ऐसी जिनकी स्वाभाविक दशा है, उन्हें आत्म स्वरूपकी दुविधा कैसे हो सकती है ? वे मुनि क्षपक श्रेणिपर चढ़ते है ओर केवली भगवान बनते है ॥ ५० ॥

सम्यग्दृष्टी जीवोंको वदना । दोहा ।

इहि विधि जे पूरन भये, अष्टकरम वन दाहि ।
तिन्हकी महिमा जो लखै, नमै बनारसि ताहि ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ—पूरन भये=परिपूर्ण उन्नतिको प्राप्त हुए । दाहि=जला-कर । लखै=जाने ।

अर्थ—जो इस रीतिसे अष्टकर्मका वन जलाकर परिपूर्ण हुए हैं, उनकी महिमाको जो जानता है उसे पंडित बनारसीदासजी नमस्कार करते हैं ॥ ५१ ॥

१ देवनेम नेत्रोंकी लालिमा वा चेहरेकी वक्रता रहित शरीरकी मुद्रा रहती है आर अतरंगम मोधादि विकार नहीं होते ।

मोक्ष प्राप्तिना नाम । छप्पय छन्द ।

भयौ सुद्ध अकूर, गयौ मिथ्यात मूर नसि ।

क्रम क्रम होत उदोत,

सहज जिम सुकल पक्ष ससि ॥

केवल रूप प्रकासि,

भासि सुख रासि धरम धुव ।

करि पूरन थिति आउ,

त्यागि गत लाभ परम हुव ॥

इह विधि अनन्य प्रभुता धरत,

प्रगटि बूदि सागर थयौ ।

अविचल अरुड अनुभय अखय,

जीव दरव जग महि जयौ ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ—अकूर (अकुर)=पौधा । मूर (मूल)=जड़से ।
सुकल पक्ष ससि (शुक्ल पक्ष शशि)=उजेले पक्षका चंद्रमा । अनन्य=
जिसके समान दूसरा नहीं—सर्व श्रेष्ठ ।

यद्यच्छेद्रात्कलयदतुल मोक्षमक्षयमेत

न्नित्योद्योतस्फुटितसहजावस्थमेका तशुद्धम् ।

एकाकारस्थरसभरतोऽत्यन्तगम्भीरधीर

पूर्णं ज्ञानं ज्वलितमचल स्वस्य लीन महिम्नि ॥ १३ ॥

इति मोक्षो निष्कांत ॥ ९ ॥

अर्थ—शुद्धताका अकुर प्रगट हुआ, मिथ्यात्व जड़से हट गया, शुरुपक्षके चन्द्रमाके समान क्रमशः ज्ञानका उदय बढ़ा, केवलज्ञानका प्रकाश हुआ, आत्माका नित्य और पूर्ण आनंदमय स्वभाव भासने लगा, मनुष्य आयु और कर्मकी स्थिति पूर्ण हुई, मनुष्यगतिका अभाव हुआ और पूर्ण परमात्मा बना । इस प्रकार सर्व श्रेष्ठ महिमा प्राप्त करके पानीकी बुदसे समुद्र होनेके समान अविचल, अखंड, निर्भय और अक्षय जीवपदार्थ, ससारमे जयवन्त हुआ ॥ ५२ ॥

अष्ट कर्मोंके नष्ट होनेसे अष्ट गुणोंका प्रगट होना । सवेया इफतीला ।

ग्यानावरनीकै गयें जानियै जु है सु सव,
 दर्सनावरनकै गयैतै सव देखियै ।
 वेदनी करमके गयैतै निराबाध सुख,
 मोहनीके गयै सुद्ध चारित विसेखियै ॥
 आउकर्म गयें अवगाहना अटल होइ,
 नामकर्म गयैतैं अमूरतीक पेखियै ।
 अगुरु अलघुरूप होत गोत्रकर्म गयें,
 अंतराय गयैतैं अनंत बल लेखिये ॥५३॥

शब्दार्थ—निराबाध रस=साता असाताके क्षोभका अभाव । अटल अवगाहना=चारों गतिके भ्रमणका अभाव । अमूर्तीक=चर्म चक्षुओंके अगोचर । अगुरु अलघु=न ऊँच न नीच ।

अर्थ—ज्ञानारणीय कर्मके अभावसे केवलज्ञान, दर्शनारणीय कर्मके अभावसे केवल दर्शन, वेदनीय कर्मके अभावसे निरावाधता, मोहनीय कर्मके अभावसे शुद्ध चारित्र, आयु कर्मके अभावसे अटल अग्रगाहना, नाम कर्मके अभावसे अमूर्तीकृता, गोत्र कर्मके अभावसे अगुरु लघुत्व और अतराय कर्मके नष्ट होनेसे जनतरीय प्रगट होता है । इस प्रकार सिद्ध भगवानमें अष्ट कर्म रहित होने से अष्ट गुण होते हैं ॥ ५३ ॥

नवमें अधिकारका सार ।

प्रगट हो कि मिथ्यात्व ही आसन्न बध है और मिथ्यात्वका अभाव अर्थात् सम्यक्त्व, सार, निर्नरा तथा मोक्ष है, और मोक्ष आत्माका निःस्वभाव अर्थात् जीवकी कर्ममल रहित अवस्था है । वास्तवमें सोचा जावे तो मोक्ष होता ही नहीं है, क्योंकि निश्चय नयमें जीव बंधा हुआ नहीं है—अग्रध है, और जन अग्रध है तब छूटेगा ही क्या ? जीव मोक्ष हुआ यह कथन व्यनहार मात्र है, नहीं तो वह हमेशा मोक्षरूप ही है ।

यह बात जगत् प्रसिद्ध है कि जो मनुष्य दूसरोंके धनपर अपना अधिकार जमाता है, उस भूखको लोक अन्यायी कहते हैं । यदि वह अपनी ही सम्पत्तिको उपयोग करता है तो लोग उसे न्यायशील कहते हैं, इसी प्रकार जब आत्मा परद्रव्योंमें अहंकार करता है, तब वह अज्ञानी मिथ्यात्वी होता है, और जन ऐसी बद् आदत्तको छोड़कर आध्यात्मिक विद्याका अभ्यास करता है तथा आत्मीक रसका स्वाद लेता है तब प्रमादका पतन करके पुण्य

पापका भेद हटा देता है और क्षपक्रेणी चढ़कर केनली भगवान बनता है, पश्चात् थोड़े ही समयमें अष्ट कर्म रहित और अष्ट गुण सहित सिद्ध पदको प्राप्त होता है ।

मुख्य अभिप्राय ममता हटाने और समता सम्हालनेका है । जिस प्रकार कि सुनारके प्रसंगसे सोनेकी नाना अवस्थाएँ होती हैं, परन्तु उसकी सुवर्णता कहीं नहीं चली जाती । जलानेसे फिर सुकर्णका सुवर्ण ही बना रहता है, उसी प्रकार यह जीवात्मा अनात्माके संसर्गसे अनेक वेप धारण करता है, परन्तु उसकी चैतन्यता कहीं चली नहीं जाती है—वह तो ब्रह्मका ब्रह्म ही बना रहता है । इसलिये शरीरसे मिथ्या अभिमान हटाकर आत्म सत्ता और अनात्म सत्ताका पृथक्करण करना चाहिये, ऐसा करनेसे थोड़ेही समयमें आधुनिक नूतन मात्र ज्ञान स्वल्प कालहीमें समुद्ररूप परिणामन करता है और अविचल असंख्य अक्षय अनभय और शुद्ध स्वरूप होता है ।

सर्व विशुद्धि द्वार ।

(१०)

प्रतिज्ञा । दोहा ।

इति श्री नाटक ग्रथमें, कहौ मोस अधिकार ।
अब चरनों सछेपसौ, सर्व विसुद्धी द्वार ॥ १ ॥

अर्थ—नाटक समयमार ग्रथके मोस अधिकारकी इति श्री
की, अन सर्व विशुद्धि द्वारको सक्षेपमें कहते हैं ॥ १ ॥

सर्व उपाधि रहित शुभ आभाषा स्वरूप । सदैया इकतीसा ।

कर्मनिकौ करता है भोगनिकौ भोगता है,
जाकी प्रभुतामें ऐसौ कथन अहित है ।

जामें एक इट्टी आदि पचधा कथन नांहि,
सदा निरदोष बंध मोखसौ रहित है ॥

ग्यानकौ समूह ग्यान गम्य है सुभाव जाकौ,
लोक व्यापी लोकातीत लोकमें महित है ।

सुद्ध वस सुद्ध चेतनाके रस अस भरचौ,
ऐसौ हस परम पुनीतता सहित है ॥ २ ॥

नीत्या सम्यक् प्रलयमयिला नर्तमोक्षत्रादिभाषान्

दूरीभूत प्रतिपदमय बन्धमोक्षप्रकृते ।

शुद्ध शुद्ध स्वरसविसरापूर्णपुण्याचलार्चि

एङ्कोत्कीर्णप्रकटमहिमा स्फूर्जति ज्ञानपुञ्जः ॥ १ ॥

शब्दार्थ—प्रमुता=सामर्थ्य । अहित=बुराई करनेवाला । पंचधा=पाच प्रकारकी । लोकातीत=लोकसे परे । महित=पूजनीय । परम पुनीत=अत्यन्त पवित्र ।

अर्थ—जिसकी सामर्थ्यके आगे कर्मका कर्ता है और कर्मका भोगता है ऐसा कहना हानिकारक है, पचेद्रिय भेदका कथन जिसमे नहीं है, जो सर्व दोष रहित है, जो न कर्मसे बधता है न छूटता है, जो ज्ञानका पिंड और ज्ञानगोचर है, जो लोक व्यापी है, लोकसे परे है, ससारमे पूजनीय अर्थात् उपादेय है, जिसकी जाति शुद्ध है, जिसमे चैतन्य रस भरा हुआ है, ऐसा हस अर्थात् आत्मा परम पवित्र है ॥ २ ॥

पुन दोहा ।

जो निहचै निरमल सदा, आदि मध्य अरु अंत ।
सो चिद्रूप बनारसी, जगत मांहि जयवंत ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—निहचै=निश्चय नयसे । निर्मल=पवित्र । चिद्रूप=चैतन्य रूप ।

अर्थ—जो निश्चय नयसे आदि, मध्य और अतमें सदैव निर्मल है, ५० बनारसीदासजी कहते हैं कि वह चैतन्य पिंड आत्मा जगतमें सदा जयवंत रहै ॥ ३ ॥

१ व्यवहार नय जीवको कर्मका कर्ता भोगता कहता है, परंतु वास्तवमें जीव कर्मका कर्ता भोगता अपने ज्ञान दशन स्वभावका कर्ता भोगता है ।

वास्तवमें जीव कर्मका कर्ता भोगता नहीं है। चौपाई ।

जीव करम करता नहि ऐसैं ।
 रस भोगता सुभाव न तैसैं ॥
 मिथ्यामतिसौ करता होई ।
 गए अग्यान अकरता सोई ॥ ४ ॥

अर्थ—जीव पदार्थ वास्तवमें कर्मका कर्ता नहीं है और न कर्मरसका भोगता है, मिथ्यामतिसे कर्मका कर्ता भोगता होता है, अज्ञान हटनेसे कर्मका अकर्ता अभोगता ही होता है ॥ ४ ॥

अज्ञानमें जीव कर्मका कर्ता है। सबैया इक्तीसा ।

निहचै निहारत सुभाव याहि आतमाकौ,
 आतमीक धरम परम परकासना ।
 अतीत अनागत वरतमान काल जाकौ,
 केवल स्वरूप गुन लोकालोक भासना ॥
 सोई जीव ससार अवस्था माहि करमकौ,
 करतासौ दीसै लीए भरम उपासना ।

कर्तृत्व न स्वभावोऽस्य चित्तो वेदयितृत्ववत् ।

अज्ञानादेव कर्त्ताऽय तद्भावादकारकः ॥ २ ॥

अकर्ता जीवोऽय स्थित इति विगुद्ध स्वरसत

स्फुरच्चिज्ज्योतिर्भिश्लुरितभुवनाभोगमघन ।

तथाप्यस्यासौ स्याद्यदिह निल ष घ प्रकृतिभि

स सत्त्वज्ञानस्य स्फुरति महिमा कोऽपि गहनः ॥ ३ ॥

यहै महा मोहकौ पसार यहै मिथ्याचार,
यहै भौ विकार यह विवहार वासना ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—निहारत=द्रेखनेसे । उपासना=सेवा । पसार=विस्तार ।
मिथ्याचार=निजस्वभापसे विपरीत आचरण । भौ=जन्ममरणरूप संसार ।
व्यग्रहार=किसी निमित्तके वशसे एक पदार्थको दूसरे पदार्थरूप जानने-
वाले ज्ञानको व्यग्रहार नय कहते हैं, जैसे—मिट्टीके घड़ेको घीके निमि-
त्तसे घीका घड़ा कहना ।

अर्थ—निश्चयनयसे देखो तो इस आत्माका निज स्वभाप
परम प्रकाशरूप है और जिसमे लोकालोकके छहों द्रव्योंके भूत
भविष्यत वर्तमान त्रिकालप्रती अनन्त गुण पर्याय प्रतिभासित
होती हैं । वही जीव संमारी दशामे मिथ्यात्वकी सेवा करनेसे
कर्मका कर्ता दिखता है, सो यह मिथ्यात्वकी सेवा मोहका विस्तार
है, मिथ्याचरण है, जन्ममरणरूप संसारका विकार है, व्यग्रहारका
विषयभूत आत्माका जशुद्ध स्वभाप है ॥ ५ ॥

जैसे जीव कर्मका अकर्ता है वैसे अभोगता भी है । चौपाई ।

यथा जीव करता न कहावै ।

तथा भोगता नाम न पावै ॥

है भोगी मिथ्यामति मांही ।

गयै मिथ्यात भोगता नांही ॥ ६ ॥

अर्थ—जिस प्रकार जीव कर्मका कर्ता नहीं है उसी प्रकार
भोगता भी नहीं है, मिथ्यात्वके उदयमें कर्मका भोगता है,
मिथ्यात्वके अभावमें भोगता नहीं है ॥ ६ ॥ -

अज्ञानी जीव विषयोंका भोगता है ज्ञानी नहीं है । सदैवै इकतीसा ।

जगवासी अग्यानी त्रिकाल परजाइ बुद्धी,
 सो तौ विषै भोगनिकौ भोगता कहायौ है ।
 समकिती जीव जोग भोगसौ उदासी तातैं,
 सहज अभोगता गरंथनिमें गायौ है ॥
 याही भाति वस्तुकी व्यवस्था अवधारि बुध,
 परभाउ त्यागि अपनौ सुभाउ आयौ है ।
 निरविकल्प निरुपाधि आतम अराधि,
 साधि जोग जुगति समाधिमें समायौ है ॥७

शब्दार्थ—जगवासी=ससारी । विषै (विषय)=पंच इंद्रिय और मनके भोग । गरंथनिमें=शास्त्रोंमें । अवधारि=निर्णय करके । बुध=ज्ञानी । जोग जुगति=योग निग्रहका उपाय ।

अर्थ—शास्त्रोंमें मनुष्य आदि पर्यायोंसे सदा काल अहबुद्धि रखनेवाले अज्ञानी ससारी जीवको अपने स्वरूपका अज्ञाता होनेसे विषय भोगोंका भोगता कहा है, और ज्ञानी सम्यग्दृष्टी जीवको भोगोंसे विरक्त भाव रखनेके कारण विषय भोगते हुए भी अभोगता कहा है । ज्ञानी लोग इस प्रकार वस्तु स्वरूपका निर्णय करके विभाव भाव छोड़कर स्वभाव ग्रहण करते हैं, और विकल्प

भोक्तृत्य न स्वभावोऽस्य स्मृत कर्तृत्ववञ्चित ।
 वज्ञानादेव भोक्ताऽय तदभावाद्देवक ॥ ४ ॥

तथा उपाधि रहित आत्माकी आराधना वा योग निग्रह करनेका मार्ग ग्रहण करके निज स्वरूपमें लीन होते है ॥ ७ ॥

शनी कर्मके कर्ता भोगता नहीं ह इसका कारण । सबैया इकतीसा ।

चिन्मुद्राधारी ध्रुव धर्म अधिकारी गुन,

रतन भंडारी अपहारी कर्म रोगकौ ।

प्यारौ पडितनकौ हुस्यारौ मोख मारगमें,

न्यारौ पुदगलसौ उज्यारौ उपयोगकौ ॥

जानै निज पर तत्त रहै जगमें विरत्त,

गहै न ममत्त मन वच काय जोगकौ ।

ता कारन ग्यानी ग्यानावरनादि करमकौ,

करता न होइ भोगता न होइ भोगकौ ॥८॥

शब्दार्थ—चिमुद्रा=चैतन्य चिह्न । ध्रुव=नित्य । अपहारी कर्म रोगकौ=कर्मरूपी रोगका नष्ट करनेवाला । हुस्यारौ (होश्यार)=प्रवीण । उज्यारौ=प्रकाश । उपयोग=ज्ञानदर्शन । तत्त (तत्त्व)=निःस्वरूप । विरत्त (विरक्त)=वैरागी । ममत्त (ममत्व)=अपनापन ।

अर्थ—चैतन्य चिह्नका धारक, अपने नित्य स्वभावका स्वामी, ज्ञान आदि गुणरूप रत्नोंका भंडार, कर्मरूप रोगका नष्ट करनेवाला, ज्ञानी लोगका प्रिय, मोक्षमार्गमें कुशल, शरीर

अज्ञानी प्रकृतिस्वभावविरतो नित्य भवेद्वेदको

ज्ञानी तु प्रकृतिस्वभावविरतो नो जातुचिद्वेदक ।

इत्येव नियम निरूप्य निपुणैरज्ञानिता त्यज्यता

शुद्धैकात्ममये महस्यचलितैरासेव्यतां ज्ञानिता ॥ ५ ॥

आदि पुद्गलोंसे पृथक्, ज्ञानदर्शनका प्रकाशक, निज पर तत्त्वका ज्ञाता, समारसे विरक्त, मन वचन कायके योगोंसे ममत्व रहित होनेके कारण ज्ञानी जीव ज्ञानापरणादि कर्मोंका कर्ता और भोगोंका भोगता नहीं होता है ॥ ८ ॥

दोहा ।

निरभिलाष करनी करै, भोग अरुचि घट मांहि ।
ताते साधक सिद्धसम, करता भुगता नाहि ॥ ९ ॥

शब्दार्थ—निरभिलाष=इच्छा रहित । अरुचि=अनुरागका अभाव । साधक=भोक्षका साधक सम्यग्दृष्टी जीव । भुगता (भोक्ता)=भोगनेवाला ।

अर्थ—सम्यग्दृष्टी जीव इच्छा रहित क्रिया करते हैं और अतरगमे भोगोंसे विरक्त रहते हैं, इससे वे सिद्ध भगवानके समान मात्र ज्ञाता दृष्टा हैं, कर्ता भोगता नहीं है ॥ ९ ॥

अज्ञानी जीव कर्मका कर्ता भोगता है इसका कारण । कवित्त ।

ज्यों हिय अध विरुल मिव्यात धर,
मृषा सकल विकल्प उपजावत ।
गहि एकत पक्ष आतमकौ,
करता मानि अधोमुख धावत ॥

ज्ञानी करोति न न वेदयते च कर्म

जानाति केवलमयं त्रिल तत्स्वभाव ।

ज्ञान पर करणवेदनयोरभावा-

च्छुद्धस्वभावनियत स हि मुक्त एव ॥ ६ ॥

ये तु कर्त्तारमात्मानं पश्यन्ति तमसावृता ।

सामान्यजनयत्तेषां न मोक्षोऽपि मुमुक्षताम् ॥ ७ ॥

त्यों जिनमती दरवचारित्री कर,

कर करनी करतार कहावत ।

वंछित मुकति तथापि मूढमति,

विन समकित भव पार न पावत ॥ १० ॥

अर्थ—हृदयका अधा अज्ञानी जीव मिथ्यात्वसे व्याकुल होकर मनमें अनेक प्रकारके झूठे विकल्प उत्पन्न करता है, और एकान्त पक्ष ग्रहण करके आत्माको कर्मका कर्ता मानके नीच गतिका पथ पकड़ता है । वह व्यवहार सम्यक्त्वी भावचारित्रके बिना बाह्य चारित्र स्वीकार करके शुभ क्रियासे कर्मका कर्ता कहलाता है । वह मूर्ख मोक्षको तो चाहता है परन्तु निश्चय सम्यक्त्वके बिना समारममुद्रसे नहीं तरता ॥ १० ॥

वास्तवमें जीव कर्मका अकर्ता है इसका कारण । चौपाई ।

चेतन अंक जीव लखि लीन्हा ।

पुदगल कर्म अचेतन चीन्हा ॥

वासी एक खेतके दोऊ ।

जदापि तथापि मिलै नहि कोऊ ॥ ११ ॥

अर्थ—जीवका चैतन्य चिह्न जान लिया और पुद्गल कर्मको अचेतन पहिचान लिया । यद्यपि ये दोनो एक क्षेत्राग्राही हैं तौ भी एक दूसरेसे नहीं मिलते ॥ ११ ॥

नास्ति सर्वोऽपि सम्यग्धः परद्रव्यात्मतत्त्वयो ।

कतृकर्मत्रसम्यग्धाभावे तत्कर्षता कुत ॥ ८ ॥

पुन दोहा ।

निज निज भाव क्रियासहित, व्यापक व्यापि न कोइ।
कर्ता पुद्गल करमकौ, जीव कहांसों होइ ॥ १२ ॥

शब्दार्थ—व्यापक=जो व्यापै—जो प्रवेश करे । व्यापि=जिसमें व्यापै—जिसमें प्रवेश करे ।

अर्थ—दोनों द्रव्य अपने अपने गुण पर्यायमें रहते हैं, कोई किसीका व्याप्य व्यापक नहीं है अर्थात् जीवमें न तो पुद्गलका प्रवेश होता है और न पुद्गलमें जीवका प्रवेश होता है । इससे जीव षडार्थ पौद्गलिक कर्मका कर्ता कैसे हो सकता है ? ॥१२॥
अज्ञानमें जीव कर्मका कर्ता और ज्ञानमें भक्तका है । सबैया इकतीसा ।

जीव अरु पुद्गल करम रहें एक सेत,
जदपि तथापि सत्ता न्यारी न्यारी कही है ।
लक्षण स्वरूप गुन परजै प्रकृति भेद,
दुहूमै अनादिहीकी दुविधा हे रही है ॥
एतेपर भिन्नता न भासै जीव करमकी,
जौलौ मिथ्याभाव तौलौ ओधि वाउ वही है ।
ग्यानके उदोत होत ऐसी सूधी द्रिष्टि भई,
जीव कर्म पिंडकौ अकरतार सही है ॥१३॥

एकस्य यस्तुन इहान्यतरेण सार्द्धे

सम्यग् एव सकलोऽपि यतो निषिद्ध ।

तत्कर्तृकर्मघटनाऽस्ति न यस्तुभेदे

पश्यन्वकर्तृमुनयश्च जनाः स्वतत्त्व ॥ ९ ॥

शब्दार्थ—सत्ता=अस्तित्व । दुग्धि=भेदभाज । ओधि=उल्टी ।
सूधीदृष्टि=सच्चा श्रद्धान । सही=सचमुचमे ।

अर्थ—यद्यपि जीव और पौद्गलिक कर्म एक क्षेत्रागगाह स्थित हैं तौ भी दोनोंकी जुदी जुदी मत्ता है । उनके लक्षण, स्वरूप, गुण, पर्याय, स्वभाजमे अनादिका ही भेद है । इतनेपर भी जज तक मिथ्या भाजका उल्टा विचार चलता है तज तक जीव पुद्गलकी भिन्नता नहीं भासती, इससे अजानी जीव अपनेको कर्मका कर्ता मानता है, पर ज्ञानका उदय होते ही ऐसा सत्य श्रद्धान हुआ कि सचमुचमे जीव कर्मका कर्ता नहीं है ।

विशेष—जीवका लक्षण उपयोग है, पुद्गलका स्पर्श रस गध वर्ण है । जीव अमूर्तीक है, पुद्गल मूर्तीक है । जीवके गुण दर्शन ज्ञान सुख आदि हैं, पुद्गलके गुण स्पर्श रस गध वर्ण आदि हैं । जीवकी पर्याये नर नारक आदि हैं, पुद्गलकी पर्याये ईट पत्थर पृथ्वी आदि हैं । जीव अजघ और अखड द्रव्य है, पुद्गलमे क्षिग्ध रुक्षता है । इससे उसके परमाणु मिलते विछुरते हैं । भाव यह है कि दोनोंके द्रव्य क्षेत्र काल भाजका चतुष्टय जुदा जुदा है और जुदी जुदी सत्ता है । दोनों अपने ही गुण पर्यायोंके कर्ता भोगता हैं, कोई किसी दूसरेका कर्ता भोगता नहीं है ॥ १३ ॥

पुन दोहा ।

एक वस्तु जैसी जु है, तासौ मिले न आन ।

जीव अकरता करमकौ, यह अनुभौ परवांन ॥१४॥

अर्थ—जो पदार्थ जैसा है वह वैसा ही है, उसमें अन्य पदार्थ नहीं मिल सकता, इससे जीव कर्मका अकर्ता है, यह विज्ञानसे सर्वथा सत्य है ॥ १४ ॥

अज्ञानी जीव अशुभ भागोंका कर्ता होनेसे भावकर्मका कर्ता है ।
चौपाई ।

* जो दुरमती विफल अग्यानी ।

जिन्हि सु रीति पर रीति न जानी ॥

माया मगन भ्रमके भरता ।

ते जिय भाव करमके करता ॥ १५ ॥

अर्थ—जो दुर्युद्धिसे व्याकुल और अज्ञानी है वे निज परणति और पर परणतिको नहीं जानते, मायामे मग्न है और भ्रममे भूले ह इससे वे भाव कर्मके कर्ता हैं ॥ १५ ॥

जे मिथ्यामति तिमिरसों, लखै न जीव अजीव ।

तेई भावित करमके, करता होंहि मदीव ॥ १६ ॥

जे असुद्ध परनति धरे, करे अह परवान ।

ते असुद्ध परिनामके, करता होहि अजान ॥ १७ ॥

अर्थ—जो मिथ्याज्ञानके अधकारसे जीव अजीवको नहीं जानते वे ही सदा भाव कर्मके कर्ता हैं ॥ १६ ॥ जो विभ्रान

* ये तु स्वभावनियम कल्पयन्ति तम
मज्ञानमग्नमहसो यत ते वराका ।

दुर्वृत्ति कर्म तत एव हि भावकर्म

कर्त्ता स्वयं भवति चेतन एव नान्य ॥ १० ॥

परणतिके कारण परपदार्योंमें अहंबुद्धि करते हैं वे अज्ञानी अशुद्ध
भागोंके कर्ता होनेसे भाग कर्मोंके कर्ता है ॥ १७ ॥

इसके विषयमें शिष्यका प्रश्न । दोहा ।

शिष्य कहै प्रभु तुम कह्यो, दुविधि करमकौ रूप ।

दरव कर्म पुदगल मई, भावकर्म चिद्रूप ॥ १८ ॥

करता दरवित करमकौ, जीव न होइ त्रिकाल ।

अव यह भावित करम तुम, कहौ कौनकी चाल ॥ १९ ॥

करता याकौ कौन है, कौन करै फल भोग ।

कै पुदगल कै आतमा, कै दुहुंकौ संजोग ? ॥ २० ॥

अर्थ—शिष्य प्रश्न करता है कि हे स्वामि ! आपने कहा
कि कर्मका स्वरूप दो प्रकारका है, एक पुदगलमय द्रव्यकर्म है
और दूसरे चेतन्यके विकार भावकर्म हैं ॥ १८ ॥ आपने यह
भी कहा कि जीव, द्रव्यकर्मोंका कर्ता कभी त्रिकालमें भी नहीं
हो सकता, तो अब आप कहिये कि भावकर्म किमकी परणति है ?
॥ १९ ॥ इन भावकर्मोंका कर्ता कौन है ? और उनके फलका
भोगता कौन है ? भावकर्मोंका कर्ता भोगता पुदगल है या जीव है,
या दोनोंके सयोगसे कर्ता भोगता है ? ॥ २० ॥

कार्यत्वाद्दृष्टं न कर्म न च तज्जीवप्रकृत्योर्द्वयो

रक्षायाम् प्रकृते स्वकार्यफलभुग्भावानुषङ्गाकृति ।

नैकस्या प्रकृतेरचित्पलसनाजीवोऽस्य कर्त्ता ततो

जीवस्यैव च कर्म तच्चिदनुग क्षाता न यत्पुदगल ॥ ११ ॥

इसपर धीगुरु समाधान करते हैं । दोहा ।

क्रिया एक करता जुगल, यौ न जिनागम मांहि ।
 अथवा करनी औरकी, और करै यों नांहि ॥ २१ ॥
 करै और फल भोगवै, और वनै नहि एम ।
 जो करता सो भोगता, यहै जथावत जेम ॥ २२ ॥
 भावकरम करतव्यता, स्वयसिद्ध नहि होइ ।
 जो जगकी करनी करै, जगवासी जिय सोइ ॥ २३ ॥
 जिय करता जिय भोगता, भावकरम जियचाल ।
 पुदगल करै न भोगवै, दुविधा मिथ्याजाल ॥ २४ ॥
 तातै भावित करमकौ, करै मिथ्याती जीव ।
 सुख दुख आपद सपदा, भुजै सहज सदीव ॥ २५ ॥

शब्दार्थ—जुगल (युगल)=दो । जिनागम (जिन+आगम)=जिनराजका उपदेश । जथानत=वास्तवमें । कर्तव्यता=करतूति । स्वयसिद्ध=अपने आप । जगवासी जिय=ससारी जीव । जियचाल=जीवनी परणति । दुविधा=दोनों औरका चुकाव । आपद=इष्ट त्रियोग, अनिष्टसंयोग । संपदा=अनिष्ट त्रियोग, इष्ट संयोग । भुजै=भोगै ।

अर्थ—क्रिया एक और कर्त्ता दो ऐसा कथन जिनराजके आगममें नहीं है, अथवा किसीकी क्रिया कोई करे, ऐसा भी नहीं हो सकता ॥२१॥ क्रिया कोई करे और फल कोई भोगे ऐसा जैन वैतमें नहीं है, क्योंकि जो कर्त्ता होता है, वही वास्तवमें

भोगता होता है ॥ २२ ॥ भाग्यकर्मका उत्पाद अपने आप नहीं होता, जो ससारकी क्रिया-हलन चलन चतुर्गति भ्रमण आदि करता है, वही समारी जीव भाग्यकर्मका कर्त्ता है ॥ २३ ॥ भाग्यकर्मोंका कर्त्ता जीव है, भावकर्मोंका भोगता जीव है, भाग्यकर्म जीवकी विभाय परणति है । इनका कर्त्ता भोगता पुद्गल नहीं है, और पुद्गल तथा दोनोंका मानना मिथ्या जजाल है ॥ २४ ॥ इससे स्पष्ट है कि भाग्यकर्मोंका कर्त्ता मिथ्यात्वी जीव है और वही उनके फल सुख दुःख वा सयोग वियोगको सदा भोगता है ॥ २५ ॥

कर्मके कर्त्ता भोगता वायत एकात पक्षपर विचार । सत्रैया इकतीसा ।

केई मूढ़ विकल एकंत पच्छ गहै कहै,
 आतमा अकरतार पूरन परम है ।
 तिन्हिसौ जु कोऊ कहै जीव करता है तासों,
 फेरि कहैं करमकौ करता करम है ॥
 ऐसै मिथ्यामगन मिथ्याती ब्रह्मधाती जीव,
 जिन्हिकें हिए अनादि मोहकौ भरम है ।
 तिन्हिकौ मिथ्यात दूर करिवैकौ कहैं गुरु,
 स्यादवाद परवान आतम धरम है ॥ २६ ॥

कर्मैव प्रवितन्व्य कर्तुं हतकैः क्षिप्रवात्मन कर्तृता
 कर्त्तात्मैव कथंचिदित्यचलिता कैश्चिच्छ्रुति कोपिता ।
 तेषामुद्धतमोहमुद्रितधिया घोधस्य सशुद्धये
 स्याद्वादप्रतिबन्धलब्धविजया यस्तुस्थिति स्तूयते ॥ १२ ॥

शब्दार्थ—विरुद्ध=दुखी । एकान्त पक्ष=पदाथक एक धर्मको उसका स्वरूप माननेका हठ । ब्रह्मघाती=अपना जीवका बाहित करने-वाला ।

अर्थ—अज्ञानसे दुरी अनेक एकान्तवादी कहते हैं कि आत्मा कर्मका कर्ता नहीं है, यह पूर्ण परमात्मा है । और उनसे कोई कहे कि कर्मका कर्ता जीव है, तो वे एकान्तपक्षी कहते हैं कि कर्मका कर्ता कर्म ही है । ऐसे मिथ्यात्वमे पगे हुए मिथ्यात्वी जीव आत्माके घातक हैं, उनके हृदयम अनादि कालसे मोहकर्म जनित भूल भरी हुई है । उनका मिथ्यात्व दूर करनेके लिये श्रीगुरुने स्याद्वादरूप आत्माका स्वरूप वर्णन किया है ॥ २६ ॥

स्याद्वादमे आत्माका स्वरूप । दोहा ।

चेतन करता भोगता, मिथ्या मगन अजान ।

नहि करता नहि भोगता, निहचै सम्यक्वान ॥ २७ ॥

अर्थ—मिथ्यात्वमे पगा हुआ अज्ञानी जीव कर्मका कर्ता भोगता है, निश्चयका अमलम्बनलेनेवाला सम्यक्त्वी कर्मका न करता है न भोगता है ॥ २७ ॥

इस विषयका एका तपक्ष खडन करनेवाले स्याद्वादका उपदेश ।
सर्वथा इकतीसा ।

*जैसे सांख्यमती कहे अलख अकरता है,
सर्वथा प्रकार करता न होइ कवहीं ।

१ सांख्यमती आदि ।

* मा कर्त्तारममी स्पृशन्तु पुरुष साख्या इथाप्यार्हता
कर्त्तार कल्पयतु त किल सदा भेदावबोधाय ।

उर्द्धु त्द्वतबोधधाम नियत प्रत्यक्षमेन स्वय

पश्यतु च्युतकर्तृभाजमचल गतारमेक परम् ॥ १३ ॥

तैसें जिनमती गुरुमुख एक पक्ष सुनि,
 याहि भांति मानै सो एकंत तजौ अवही ॥
 जौलों दुरमती तौलों करमकौ करता है,
 सुमती सदा अकरतार कह्यौ सवहीं ।
 जाके घटि ग्यायक सुभाउ जग्यौ जवहीसौ,
 सो तौ जगजालसौ निरालौ भयो तवहीं २८

शब्दार्थ—जिनमती=जिनराज कपित स्याद्वाद विद्याके ज्ञाता ।

अर्थ—जिस प्रकार सारयमती कहते हैं कि आत्मा अकर्त्ता है, किसी भी हालतमें कभी कर्ता नहीं हो सकता । जैनमती भी अपने गुरुके मुखसे एक नयका कथन सुनकर इसी प्रकार मानते हैं, पर इस एकान्तवादको अभी ही छोड़ दो, मत्त्यार्थ बात यह है कि जब तक अज्ञान है, तब तक ही जीव कर्मका कर्त्ता है, मय्य-ज्ञानकी सब हालतमें सदैव अकर्त्ता कहा है । जिसके हृदयमें जबसे ज्ञायक स्वभाव प्रगट हुआ है वह तभीसे जगतके जजालसे निराला हुआ—अर्थात् मोक्षके सन्मुख हुआ है ॥ २८ ॥

इस विषयमें बौद्धमतवालोंका विचार । दोहा ।

बौध छिनकवादी कहै, छिनभंगुर तन मांहि ।
 प्रथम समय जो जीव है, दुतिय समय सो नांहि ॥२९॥

क्षणिकमिदमिहैक कल्पयित्वात्मतत्त्वं

निजमनसि विधत्ते कर्तृभोक्त्रोर्विभेदम् ।

अपहरति विमोह तस्य नित्यामृतौघै

स्वयमयमभिविञ्चच्चिश्चमत्कार एव ॥ १४ ॥

तातें मेरै मतविषैं, करै करम जो कोइ ।

सो न भोगवै सरवथा, और भोगता होइ ॥ ३० ॥

अर्थ—क्षणिकतादी बौद्धमतवाले कहते हैं कि जीव शरीरमें क्षणभर रहता है, मर्दव नहीं रहता । प्रथम समयमें जो जीव है वह दूसरे समयमें नहीं रहता ॥ २९ ॥ इससे मेरे विचारमें जो कर्म करता है वह किसी हालतमें भी भोगता नहीं हो सकता, भोगनेवाला और ही होता है ॥ ३० ॥

बौद्धमतवालोंका एकांत विचार दूर करनेको दृष्टांत द्वारा समझाते हैं । दोहा ।

यह एकत मिथ्यात पख, दूर करनके काज ।

चिड्डिलास अविचल कथा, भापै श्रीजिनराज ॥ ३१ ॥

वालापन काहू पुरुष, देख्यौ पुर इक कोइ ।

तरुन भए फिरिके लख्यौ, कहै नगर यह सोइ ॥ ३२ ॥

जो दुहु पनमें एक थौ, तौ तिनि सुमिरन कीय ।

और पुरुषको अनुभव्यौ, और न जानैं जीय ॥ ३३ ॥

जब यह वचन प्रगट सुन्यौ, सुन्यौ जैनमत सुद्ध ।

तब इकतवादी पुरुष, जैन भयौ प्रतिबुद्ध ॥ ३४ ॥

अर्थ—यह एकान्तवादकी मिथ्यापक्ष हटानेके लिये श्रीम-ज्जिनेन्द्रदेव आत्माके नित्य स्वरूपका कथन करते हुए कहते

हैं ॥ ३१ ॥ कि किसी मनुष्यने मालरूपनमे कोई नगर देखा,
और फिर कुछ दिनोंके बाद जयानीकी अवस्थामे वही नगर देखा
तो कहता है कि यह वही नगर है जो पूर्वमे देखा था ॥ ३२ ॥
दोनों अवस्थाओंमे वह एक ही जीव था तब तो उसने स्मरण
किया, किसी दूसरे जीवका जाना हुआ वह नहीं जान सकता
था ॥ ३३ ॥ जब इस प्रकारका स्पष्ट कथन सुना और सचे जैन
मतका उपदेश मिला तब वह एकान्तवादी मनुष्य प्रतिबुद्ध हुआ
और उसने जैनमत अंगीकार किया ॥ ३४ ॥

बौद्ध भी जीव द्रव्यको क्षण भगुर कैसे मान बैठे इसका कारण
बतलाते हैं । सधैया इकतीसा ।

एक परजाइ एक समैमें विनसि जाइ,

दूजी परजाइ दूजै समै उपजति है ।

ताकौ छल पकरिके वोध कहै समै समै,

नवौ जीव उपजै पुरातनकी छति है ॥

तातै मानै करमकौ करता है और जीव,

भोगता है और वाकै हिए ऐसी मति है ।

परजौ प्रवांनकौ सरवथा दरव जानै,

ऐसे दुरबुद्धीकौ अवसि दुरगति है ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ—परजाइ=अवस्था । पुरातन=प्राचीन । छति (क्षति)=

नाश । मति=समझ । परजौ प्रवान=हालतोंके अनुसार । दुरबुद्धी=मूर्ख ।

वृत्त्याशमेदतोऽत्यन्त वृत्तिमन्नाशकत्पनात् ।

अन्यः करोति भुङ्क्तेऽन्य इत्येकान्तश्चकास्तु मा ॥ १५ ॥

अर्थ—जीवकी एक पर्याय एक समयमे नष्ट होती है और दूसरे समयमे दूसरी पर्याय उपजती है, और जैनमतका सिद्धान्त भी है, सो उसी बातको पकड़के बौद्धमत कहता है कि क्षण क्षण-पर नया जीव उपजता है, और पुराना विनशता है। इससे वे मानते हैं कि कर्मका कर्ता और जीव है, तथा भोगता और ही है, सो उनके चित्तमे ऐसी उलटी समझ बैठ गई है। श्रीगुरु कहते हैं कि जो पर्यायके अनुसार ही द्रव्यको सर्वथा अनित्य मानता है ऐसे मूर्खकी अग्रगति कुगति होती है।

विशेष—क्षणिकवादी जानते हैं कि मास भक्षण आदि अनाचारमे वतनेवाला जीव है, वह नष्ट हो जावेगा, अनाचारमें वतनेवालेको तो कुछ भोगना ही नहीं पडेगा, इससे मौज करते हैं और मनमाने वर्तते हैं। परन्तु किया हुआ कर्म भोगना ही पडता है। सो नियमसे वे अपने आत्माको कुगतिमे पटकते हैं ॥ ३५ ॥

दुर्बुद्धीकी दुर्गतिही होती है। दोहा।

कहै अनात्मकी कथा, चहै न आत्म सुद्धि ।
 रहै अध्यात्मसौ विमुख, दुराराधि दुरबुद्धि ॥३६॥
 दुरबुद्धी मिथ्यामती, दुरगति मिथ्याचाल ।
 गहि एकंत दुरबुद्धिसौ, मुक्त न होइ त्रिकाल ॥३७

शब्दार्थ—अनात्म=अजीव । अध्यात्म=आत्मज्ञान । विमुख=विरुद्ध । दुराराधि=किसी भी तरहसे न समझनाया । दुर्बुद्धि=मूर्ख ।

अर्थ—मूर्ख मनुष्य अनात्माकी चरचा किया करता है, आत्माका अभाव कहता है—आत्मशुद्धि नहीं चाहता । वह आत्म-ज्ञानसे परान्मुख रहता है, बहुत परिश्रम पूर्वक समझानेसे भी नहीं समझता ॥ ३६ ॥ मिथ्यादृष्टी जीव अज्ञानी है, और उसकी मिथ्या प्रवृत्ति दुर्गतिका कारण है, वह एकान्तपक्ष ग्रहण करता है, और ऐसी मूर्खतासे वह कमी भी मुक्त नहीं हो सकता ॥ ३७ ॥

दुर्बुद्धीकी भूलपर दृष्टान्त । सबैया इकतीसा ।

कायासौ विचारै प्रीति मायाहीसौ हारि जीति,
 लियै हठ रीति जैसें हारिलकी लकरी ।
 चंगुलके जोर जैसें गोह गहि रहै भूमि,
 त्योंही पाइ गाड़ै पै न छाड़ै टेक पकरी ॥
 मोहकी मरोरसौ भरमकौ न छोर पावे,
 धावै चहुं वोर ज्यों बढावै जाल मकरी ।
 ऐसी दुरबुद्धि भूली झूठकै झरोखे झूली,
 फूली फिरै ममता जंजीरनिसौ जकरी ॥३८

शब्दार्थ—काया=शरीर । हठ=दुराग्रह । गहि रहै=पकड़ रखे । लकरी=लाठी । चुगल=पकड़ । पाइ गाड़ै=अड़ जाता है । टेक=हठ । धावै=भटके ।

अर्थ—अज्ञानी जीव शरीरसे अनुराग रखता है, धनकी कमीसे हार और धनकी बढ़तीमें विजय मानता है, हठीला तो इतना होता

है कि जिस प्रकार हरियल पक्षी अपने पावसे लकड़ीको खूब मजबूत पकड़ता है, अथवा जिस प्रकार गोह जमीन वा दीवालको पकड़कर रह जाता है, उसी प्रकार वह अपनी कुट्ये नहीं छोड़ता—उसी पर डटा रहता है। मोहके झकोरोंसे उसके भ्रमकी धाह नहीं मिलती अर्थात् उसका मिथ्यात्व अनन्त होता है, वह चतुर्गतिमें भटकता हुआ मकड़ीकासा जाल फैलाता है, इस प्रकार उसकी मूर्खता अज्ञानसे झूठके मार्गमें झल रही है, और ममताकी साँकलोंसे जकड़ी हुई बढ़ रही है ॥ ३८ ॥

दुर्बुद्धीकी परणति । सवैया इकतीसा ।

वात सुनि चौकि उठै वातहीसों भौंकि उठै,
 वातसों नरम होइ वातहीसों अकरी ।
 निदा करै साधुकी प्रससा करै हिंसककी,
 साता मानै प्रभुता असाता मानै फकरी ॥
 मोख न सुहाइ दोष देखै तहां पैठि जाइ,
 कालसौ डराइ जैसे नाहरसौ बकरी ।
 ऐसी दुरबुद्धि भूली झूठके झरोखे झूली,
 फूली फिरै ममता जजीरनिसों जकरी ॥ ३९ ॥

१ गोह एक प्रकारका जानवर होता है। उसे चोर लोग पासमें रखते हैं, जब उन्हें ऊँचे महलों मंदिरोंपर चढ़ना होता है तब वे गोहकी कमरसे लंबी रस्सी बांधकर उसे ऊपरको पकड़ देते हैं तो वह ऊपर जमीन वा भीतको खूब मजबूत पकड़ लेता है और चोर लटकती हुई रस्सीको पकड़कर ऊपर चढ़ जाते हैं।

शब्दार्थ—चौंकि उठै=तेज पड़े । भौंकि उठै=कुत्तेके समान भूखने लगे । अफरी=ऐंठ जावे । प्रभुता=बड़प्पन । फकरी (फकीरी)=गरीबी । काल=मृत्यु । नाहर=बाघ, सिंह ।

अर्थ—अज्ञानी जीव हिताहित नहीं विचारता, बात सुनते ही तेज पडने लगता है, बात ही सुनकर कुत्तेके समान भौकने लगता है, मन रुचिती बात सुनकर नरम हो जाता है, और असुहाती बात हो तो ऐंठ जाता है । मोक्षमार्गी साधुओंकी निन्दा करता है, हिंसक अधर्मियोंकी प्रशंसा करता है, साताके उदयमे अपनेको महान और असाताके उदयमे तुच्छ गिनता है । उसे मोक्ष नहीं सुहाता, कहीं दुर्गुण दिखाई देवे तो उन्हें शीघ्र अगीकार करलेता है । शरीरमे अह्युद्धि होनेके कारण भौतसे तो ऐसा डरता है जैसे बाघसे चकरी डरती है, इस प्रकार उसकी मूर्खता अज्ञानसे झठके मार्गमें झल रही है और ममताकी साँफलोंसे जकड़ी हुई बढ़ रही है ॥ ३९ ॥

अनेकान्तकी महिमा । कवित्त ।

केई कहै जीव क्षनभंगुर, केई कहै करम करतार ।
केई करमरहित नित जपहि, नय अनंत नानापरकार
जे एकांत गहै ते मूरख, पंडित अनेकांत पख धार ।

आत्मान परिशुद्धमीप्सुभिरतिव्याप्तिं प्रपद्यान्धक

कालोपाधिबलादशुद्धिमधिका तत्रापि मत्या परै ।

चैतन्य क्षणिक प्रकल्प्य पृथक् शुद्धञ्जुसूत्रैरितै-

रात्मा व्युद्भित एव हारवदहो निस्सुत्रमुक्तोक्षिभि ॥ १६ ॥

जैसे भिन्न भिन्न मुक्ताहल, गुनसौ गहत कहावे हार ॥ ४० ॥

शब्दार्थ—क्षण भंगुर=अनित्य । जपहिं=कहते हैं । एकान्त=एक ही नय । अनेकांत=अपेक्षित अनेक नय । पल धार=यक्ष ग्रहण करना । मुक्ताहल (मुक्ताफल)=मोती । गुन=सूत ।

अर्थ—बोद्धमती जीवको अनित्य ही कहते हैं, मीमामक मतमाले जीवको कर्मका करता ही कहते ह, साख्यमती जीवको कर्मरहित ही कहने है । ऐसे अनेक मतमाले एक एक धर्मको ग्रहण करके अनेक प्रकारका कहते है, पर जो एकान्त ग्रहण करते है वे मूर्ख है, विद्वान् लोग अनेकांतको स्वीकार करते है । जिम प्रकार मोती जुदा जुटा होते है, पर सूतमे गुहनेसे हार बन जाता है । उसी प्रकार अनेकांतसे पदार्थकी सिद्धि होती है, और जिम प्रकार जुदा जुदा मोती हारका काम नहीं देते, उसी प्रकार एक नयसे पदार्थका स्वरूप स्पष्ट नहीं होता, बल्कि विपरीत हो जाता है ॥ ४० ॥

पुन । दोहा ।

यथा सूत सग्रह विना, मुक्त माल नहि होइ ।
तथा स्यादवादी विना, मोख न साधै कोइ ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ—सग्रह=इकडे । मुक्त माल=मोतियोंकी माला ।

अर्थ—जैसे सूतम पोये विना मोतियोंकी माला नहीं बनती वैसेही स्यादवादीके विना कोई मोक्षमार्ग नहीं साध सकता ॥४१॥

पुनः । दोहा ।

पद सुभाव पूरव उदै, निहचै उद्यम काल ।
पच्छपात मिश्यात पथ, सरवंगी सिव चाल ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ—पद=पदार्थ । सुभाज (स्वभाव)=निजधर्म । उद्यम=पुरुषार्थ, तदवीर । काल=समय । पक्षपात=एक ही नयका ग्रहण । सरवंगी=अनेक नयका ग्रहण ।

अर्थ—कोई पदार्थके स्वभावही को, कोई पूर्व कर्मके उदय हीको, कोई निश्चयमात्रको, कोई पुरुषार्थको और कोई कालहीको मानते है, पर एकही पक्षका हठ ग्रहण करना मिश्यात्व है, और अपेक्षित सत्रहीको स्वीकार करना सत्यार्थ है ॥ ४२ ॥

भाचार्य—कोई कहता है कि जो कुछ होता है, सो स्वभाज (नेचरल) हीसे अर्थात् प्रकृतिसे होता है, कोई कहते है कि जो कुछ होता है, वह तदवीरसे होता है, कोई कहते है कि एक ब्रह्म ही है, न कुछ नष्ट होता है, न कुछ उत्पन्न होता है, कोई कहते है कि तदवीर ही प्रधान है, कोई कहते है कि जो कुछ करता है सो काल ही करता है, परन्तु इन पाँचोमेसे एक किसीहीको मानना, शेष चारका अभाज करना एकान्त है ।

कर्तुर्वेदयितुश्च युक्तिवशतो भेदोऽस्त्वभेदोऽपि वा
कर्त्ता वेदयिता च मा भयतु वा वस्तुवेव सञ्चिन्त्यता ।
प्रोता सूत्र इवात्मनीह निपुणैर्भक्तु(भर्तु) न शक्या ह्यचि-
श्चिन्तामणिमालिकेयमभितोऽप्येका चकास्त्येव न ॥१७॥

छहों मतवालोंका जीव पदार्थपर विचार । सबैया इकतीसा ।

एक जीव वस्तुके अनेक गुण रूप नाम,
 निजजोग सुद्ध परजोगसों असुद्ध है ।
 वेदपाठी ब्रह्म कहै मीमांसक कर्म कहैं,
 सिवमती सिव कहै बौद्ध कहैं बुद्ध है ॥
 जैनी कहै जिन न्यायवादी करतार कहैं,
 छहों दरसनमे वचनकौ विरुद्ध है ।
 वस्तुकौ सुरूप पहिचानै सोई परवीन,
 वचनकै भेद भेद मानै सोई सुद्ध है ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ—निजजोग=निजस्वरूपसे । परजोग=अन्य पदार्थके सयोगसे । दरसन (दर्शन)=मत । वस्तुकौ सुरूप=पदार्थका निज स्वभाव । परवीन (प्रवीण)=पण्डित ।

अर्थ—एक जीव पदार्थके अनेक गुण, अनेक रूप, अनेक नाम हैं, वह परपदार्थके सयोग बिना अर्थात् निजस्वरूपसे शुद्ध है और परद्रव्यके सयोगसे अशुद्ध है । उसे वेदपाठी अर्थात् वेदान्ती ब्रह्म कहते हैं, मीमांसक कर्म कहते हैं, शैवलोग वैशेषिक मतवाले शिव कहते हैं, बौद्ध मतवाले बुद्ध कहते हैं, जैनी लोग जिन कहते हैं, नैयायिक कर्त्ता कहते हैं । इस प्रकार छहों मतके कथनमे वचनका विरोध है । परन्तु जो पदार्थका निज स्वरूप जानता है वही पण्डित है, और जो वचनके भेदसे पदार्थमे भेद मानता है वही मूर्ख है ॥ ४३ ॥

पाँचों मतवाले एकान्ती और जैनी स्याद्धात्री हैं । सबैया इकतीसा ।

वेदपाठी ब्रह्म मांनि निहचै सुरूप गहै,

मीमांसक कर्म मांनि उदैमें रहत है ।

बौद्धमती बुद्ध मांनि सूच्छम सुभाव साधै,

सिवमती सिवरूप कालको कहत है ॥

न्याय ग्रंथके पहैया थापै करतार रूप,

उद्दिम उदीरि उर आनंद लहत है ।

पाँचों दरसनि तेतौ पोपै एक एक अंग,

जैनी जिनपंथी सरवंगी नै गहत है ॥४४॥

शब्दार्थ—उद्दिम=क्रिया । आनंद=हर्ष । पोपै=पुष्ट करें । जिन पंथी=जैन मतके उपासक । सरवंगी नै=सर्वनय-स्याद्धाद ।

अर्थ—वेदान्ती जीवको निश्चय नयकी दृष्टिसे देखकर उसे सर्वथा ब्रह्म कहता है, मीमामसक जीवके कर्म उदयकी तरफ दृष्टि देकर उसे कर्म कहता है, बौद्धमती जीवको बुद्ध मानता है और उसका क्षणभंगुर सूक्ष्म स्वभाव सिद्ध करता है, शैव जीवको शिव मानता है और शिवको कालरूप कहता है, नैयायिक जीवको क्रियाका कर्ता देखकर आनंदित होता है और उसे कर्ता मानता है । हम प्रकार पाँचों मतवाले जीवके एक एक धर्मकी पुष्टि करते हैं, परन्तु जैनधर्मके अनुयायी जैनी लोग सर्व नय का विययभूत आत्मा जानते हैं, अर्थात् जैनमत जीवको अपेक्षासे ब्रह्म भी मानता है, कर्मरूप भी मानता है, अनित्य भी मानता है, शिवस्वरूप भी मानता है, कर्ता भी मानता है, निष्कर्म भी

मानता है, पर एकान्त रूपसे नहीं। जैनमतके सिवाय सभी मत मतगले हैं, सर्वथा एक पथके पक्षपाती होनेसे उन्हें स्वरूपकी समझ नहीं है ॥ ४४ ॥

पाँचों मतोंके एक एक अंगका जैनमत समर्थक है। सबेया इकतीसा।

निहचै अभेद अग उदै गुनकी तरग,

उद्दिमकी रीति लिए उच्छता सकति है।

परजाइ रूपकौ प्रवान सूच्छम सुभाव,

कालकीसी ढाल परिनाम चक्र गति है ॥

याही भाँति आतम दरवके अनेक अग,

एक मानै एकको न माने सो कुमति है।

टेक डारि एकमें अनेक खोजै सो सुबुद्धि,—

खोजी जीवै वादी मरै सांची कहवति है। ४५।

शब्दार्थ—याही भाँति—इस प्रकार। कुमति—मिथ्याज्ञान। खोजै—
खूँदें। सुबुद्धि—सम्यग्ज्ञान। खोजी—उद्योगी। वादी—वक्ताद करनेवाला।

अर्थ—जीव पदार्थके लक्षणमे भेद नहीं है, सब जीव समान हैं, इसलिये वेदान्तीका माना हुआ अद्वैतवाद सत्य है। जीवके उदयम गुणोंकी तरंगें उठती हैं, इसलिये भीमासकका माना हुआ उदय भी सत्य है। जीवमें अनन्त शक्ति होनेसे स्वभावमे प्रवर्तता है, इसलिये नैयायिकका माना हुआ उद्यम अंग भी सत्य है। जीवकी पर्याय लक्षण बदलती हैं, इसलिये बौद्धमेतीका माना हुआ क्षणिक भाव भी सत्य है। जीवके परिणाम कालके चक्रके समान फिरते हैं, और उन परिणामोंके परिणामनमें, काल

द्रव्य सहायक है, इसलिये शैपोका माना हुआ काल भी सत्य है । इस प्रकार आत्म पदार्थके अनेक अंग हैं । एकको मानना और एकको नहीं मानना मिथ्याज्ञान है, और दुराग्रह छोड़कर एकमें अनेक धर्म ढूँढना सम्यग्ज्ञान है । इसलिये ससारमें जो कहावत है, कि ' खोजी पावे वादी मरे ' सो सत्य है ॥ ४५ ॥

स्याद्वादका व्याख्यान । नवैया इकतीसा ।

एकमें अनेक है अनेकहीमें एक है सो,
 एक न अनेक कछु कह्यौ न परतु है ।
 करता अकरता है भोगता अभोगता है,
 उपजै न उपजत मृए न मरतु है ॥
 बोलत विचारत न बोले न विचारै कछु,
 भेख्यौ न भाजन पै भेखसौ धरतु है ।
 ऐसो प्रभु चेतन अचेतनकी संगतिसौं,
 उलट पलट नटवाजीसी करतु है ॥ ४६ ॥

अर्थ—जीवमें अनेक पर्याय होती है इसलिये एकमें अनेक है, अनेक पर्यायें एक ही जीव द्रव्यकी हैं इसलिये अनेकमें एक है, इससे एक है या अनेक है कुछ कहा ही नहीं जा सकता । एक भी नहीं है, अनेक भी नहीं है, अपेक्षित एक है, अपेक्षित अनेक है । वह व्यवहार नयसे कर्त्ता है निश्चयसे अकर्त्ता है, व्यवहार नयसे कर्मोक्ता भोगता है, निश्चयसे कर्मोक्ता अभोक्ता है, व्यवहार नयसे उपजता है, निश्चय नयसे नहीं उपजता है—या, है और रहेगा, व्यवहार नयसे मरता है निश्चय नयसे अमर है, व्यवहार नयसे

घोलता है, विचारता है, निश्चय नयसे न गोलता है, न विचारता है, निश्चय नयसे उसका कोई रूप नहीं है, व्यवहार नयसे अनेक रूपोंका धारक है। ऐसा चैतन्य परमेश्वर पौद्गलिक कर्मोंकी सगतिसे उलट पलट हो रहा है, मानों नट जैसा खेल खेल रहा है ॥ ४६ ॥

निर्विकल्प उपयोक्त ही अनुभवके योग्य है। दोहा।

नटवाजी विकल्प दसा, नांही अनुभौ जोग।

केवल अनुभौ करनकौ, निरविकल्प उपजोग ॥४७॥

शब्दार्थ—नटवाजी=नटका खेल। जोग=योग्य।

अर्थ—जीवकी नटके ममान उलटा पुलटी सविकल्प अस्त्या है, वह अनुभवके योग्य नहीं है। अनुभव करने योग्य तो उसकी सिर्फ निर्विकल्प अस्त्या ही है ॥ ४७ ॥

अनुभवमें विकल्प त्यागनेका दृष्टान्त। सर्वथा इकतीसा।

जैसे काहू चतुर सवारी है मुकत माल,

मालाकी क्रियामें नाना भातिकौ विग्यान है।

क्रियाकौ विकल्प न देखै पहिरनवारौ,

मोतिनकी सोभामें मगन सुखवान है ॥

तैसे न करै न भुजै अथवा करै सो भुजै,

और करै और भुजै सब नय प्रवांन है।

जदपि तथापि विकल्प विधि त्याग जोग,

निरविकल्प अनुभौ अमृत पान है ॥४८॥

शब्दार्थ—सजारी=सजाई । मुक्त माल=मोतियोंकी माला ।
त्रिग्यान=अकलमदी । मगन=मस्त । अमृतपान=अमृत पीना ।

अर्थ—जैसे किसी चतुर मनुष्यने मोतियोंकी माला बनाई,
माला बनानेमें अनेक प्रकार चतुराई की गई, परन्तु पहिने-
वाला माला बनानेकी कारीगरीपर ध्यान नहीं देता, मोतियोंकी
शोभामें मस्त होकर आनंद मानता है, उसी प्रकार यद्यपि जीव
न कर्त्ता है, न भोगता है, जो कर्त्ता है वही भोक्ता है, कर्त्ता और
है, भोक्ता और है ये सत्र नय मान्य हैं तो भी अनुभवमें ये सत्र
विकल्प जाल त्यागने योग्य है, केवल निर्विकल्प अनुभवही अमृत
पान करना है ॥ ४८ ॥

किस नयसे आत्मा कर्मोंका कर्त्ता है और किस नयसे नहीं है । दोहा ।

दरव करम करता अलख, यह विवहार कहाउ ।
निहचै जो जैसौ दरव, तैसौ ताकौ भाउ ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ—दरव करम (द्रव्य कर्म)=ज्ञानारणीय आदि कर्मोंकी
घूल । अलख=आत्मा ।

अर्थ—द्रव्य कर्मका कर्त्ता आत्मा है यह व्यवहार नय कहता
है, पर निश्चय नयसे तो जो द्रव्य जैसा है उसका वैसा ही स्वभाव
होता है—अर्थात् अचेतन द्रव्य अचेतनका कर्त्ता है और चेतन
भावका कर्त्ता चेतन्य है ॥ ४९ ॥

व्यावहारिकदृश्य केवल कर्त्तृ कर्म च विभिन्नमिष्यते ।

निश्चयेन यदि वस्तु चिन्त्यते कर्त्तृकर्म च सदैकमिष्यते ॥ १८ ॥

‘ज्ञानका ज्ञेयाकाररूप परिणमन होता है पर यह ज्ञेयरूप नहीं हो जाता । सबैया इकतीसा ।

“ ग्यानको सहज ज्ञेयाकार रूप परिणवै,
 यद्यपि तथापि ग्यान ग्यानरूप कह्यौ है ।
 ज्ञेय ज्ञेयरूप यौ अनादिहीकी मरजाद,
 काहू वस्तु काहूको सुभाव नहि गह्यौ है ॥
 एतेपर कोऊ मिथ्यामती कहै ज्ञेयाकार,
 प्रतिभासनसौ ग्यान अमुछ है रह्यो है ।
 याही दुरबुद्धिसौ विकल भयौ डोलत है,
 समुझै न धरम यौ भरम मांहि वह्यौ है ॥५०॥

शब्दार्थ—ज्ञेयाकार=ज्ञेयके आकार । ज्ञय=जानने योग्य घटपटादि

ननु परिणाम एव किल कर्म विनिश्चयत
 स भवति नापरस्य परिणामिन एव भवेत् ।
 न भवति कर्तृशून्यमिह कर्म न चैकतया
 स्थितिरिह वस्तुनो भवतु कर्तृ तदेव तत ॥

यह श्लोक कलकत्तेकी छापी हुई परमाध्यात्मतरंगिणीमें है । किन्तु इसकी संस्कृत टीका प्रकाशकको उपलब्ध नहीं हुई । काशीके छपे हुए प्रथम गुच्छकमें यह श्लोक नहीं है । ईडर भण्डारकी प्राचीन हस्तलिखित प्रतिमें भी यह श्लोक नहीं है, और न इसकी कविता ही है ।

घहिल्लुठति यद्यपि स्फुटदनन्तशक्ति स्वय
 तथाप्यपरवस्तुनो विशति नान्यवस्वतर ।
 स्वभावनियत यत सकलमेव वस्त्रिप्यते
 स्वभावचलनाहुल किमिह मोहित क्लिश्यते ॥ १९ ॥

पदार्थ । मरजाद (मर्याद)=सीमा । प्रतिभासना=छाया पड़ना । भ्रम (भ्रम)=भ्रान्ति ।

अर्थ—यद्यपि ज्ञानका स्वभाव ज्ञेयाकार रूप परिणमन करनेका है, तौ भी ज्ञान, ज्ञान ही रहता है और ज्ञेय ज्ञेय ही रहता है । यह मर्यादा अनादि कालसे चली आती है, कोई किसीके स्वभावाको ग्रहण नहीं करता अर्थात् ज्ञान ज्ञेय नहीं हो जाता और ज्ञेय ज्ञान नहीं हो जाता । इतनेपर कोई मिथ्यामती—वैशेषिक आदि कहते हैं, कि ज्ञेयाकार परिणमनसे ज्ञान अशुद्ध हो रहा है, सो वे इसी मूर्खतासे व्याकुल हुए भटकते हैं—वस्तु स्वभाव नहीं समझे भ्रममे भूले हुए हैं ।

विशेष—वैशेषिकोंका एकान्त सिद्धान्त है, कि जगतके पदार्थ ज्ञानमे प्रतिबिम्बित होते हैं, इससे ज्ञान अशुद्ध हो जाता है, सो जब तक अशुद्धता नहीं मिटेगी तब तक मुक्त नहीं होगा । परन्तु ऐसा नहीं है, ज्ञान स्वच्छ आरसीके समान है, उसपर पदार्थोंकी छाया पड़ती है, सो व्यवहारसे कहना पड़ता है कि अमुक रंगका पदार्थ झलकनेसे काँच अमुक रंगका दिखता है, पर वास्तवमें छाया पड़नेसे काँचमे कुछ परिवर्तन नहीं होता ज्योंका त्यों बना रहता है ॥ ५० ॥

जगतके पदार्थ परस्पर अव्यापक हैं । चौपाई ।

सकल वस्तु जगमें असहाई ।

वस्तु वस्तुसौ मिलै न काई ॥

वस्तु चैकमिह नान्यवस्तुनो येन तेन खलु वस्तु वस्तु तत् ।

निश्चयोऽयमपरोऽपरस्य क किं करोति हि बहिर्लुठन्नपि ॥ २० ॥

जीव वस्तु जानै जग जेती ।

सोऊ भिन्न रहै सब सेती ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ—असहाई=स्वाधीन । जेती=जितनी ।

अर्थ—निश्चय नयसे जगतमे सत्र पदार्थ स्वाधीन हैं, कोई किसीकी अपेक्षा नहीं करते और न कोई पदार्थ किसी पदार्थसे मिलता है । जीवात्मा जगतके जितने पदार्थ हैं उन्हे जानता है पर वे सत्र उससे भिन्न रहते हैं ।

भावार्थ—व्यवहार नयसे जगतके द्रव्य एक दूसरेसे मिलते हैं, एक दूसरेमें प्रवेश करते और एक दूसरेको अवकाश देते हैं, पर निश्चय नयसे सब निजाश्रित हैं, कोई किसीसे नहीं मिलते हैं । जीवके पूर्ण ज्ञानमे वे सत्र और अपूर्ण ज्ञानमे यथासम्भ्र जगतके पदार्थ प्रतिभासित होते हैं, पर ज्ञान उनसे मिलता नहीं है और न वे पदार्थ ज्ञानसे मिलते हैं ॥ ५१ ॥

कर्म करना और फल भोगना यह जीवका निज स्वरूप नहीं है । दोहा ।

करम करै फल भोगवै, जीव अग्यानी कोइ ।

यह कथनी विवहारकी, वस्तु स्वरूप न होइ ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ—कथनी=चरचा । वस्तु=पदार्थ ।

अर्थ—अज्ञानी जीव कर्म करते हैं और उनका फल भोगते हैं, यह कथन व्यवहार नयका है, पदार्थका निज स्वरूप नहीं है ॥ ५२ ॥

यद्यु वस्तु पुरुतेऽन्यवस्तुन विश्रुतापि परिणामिन स्वयम् ।
व्यापहारिषुदशैव तमत नान्यदस्ति किमपीह निश्चयात् ॥ २१ ॥

ज्ञान और ज्ञेयकी भिन्नता । कवित्त ।

ज्ञेयाकार ग्यानकी परणति,
 पै वह ग्यान ज्ञेय नहि होइ ।
 ज्ञेय रूप पट दरव भिन्न पद,
 ग्यानरूप आत्म पद सोइ ॥
 जानै भेदभाउ सु विचच्छन,
 गुन लच्छन सम्यक्द्रिग जोइ ।
 मूरख कहै ग्यानमय आकृति,
 प्रगट कलंक लखे नहि कोइ ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ—ज्ञान=ज्ञानना । ज्ञेय=ज्ञानने योग्य पदार्थ ।

अर्थ—ज्ञानकी परणति ज्ञेयके आकार हुआ करती है, पर ज्ञान ज्ञेयरूप नहीं हो जाता, छहों द्रव्य ज्ञेय हैं और वे आत्माके निज स्वभाव ज्ञानसे भिन्न हैं, जो ज्ञेय ज्ञायकका भेद भाव गुण लक्षणसे जानता है वह भेदविज्ञानी सम्यग्दृष्टी है । वैशेषिक आदि अज्ञानी ज्ञानमें आकारका विकल्प देखकर कहते हैं कि ज्ञानमें ज्ञेयकी आकृति है, इससे ज्ञान स्पष्टतया अशुद्ध हो जाता है लोग इस अशुद्धताको नहीं देखते ।

शुद्धद्रव्यनिरूपणापितमतेस्तत्र समुत्पद्यतो

नैकद्रव्यगत चकास्ति किमपि द्रव्यान्तर जातुचित् ।

ज्ञान ज्ञेयमत्रैति यत्तु तदयं शुद्धस्वभावोदय

किं द्रव्यान्तरशुचन्नाकुलधियस्तत्राच्च्यवन्ते जनाः ॥ २२ ॥

मोह गये उपजे सुख केवल,

सिद्ध भयो जगमांहि न आवे ॥ ५९ ॥

शब्दार्थ—निरोध=द्वय । मृगामग=मिथ्या मार्ग ।

अर्थ—जब तब इम जीवको मिथ्यागानका उदय रहता है, तब तब वह राग द्वेषमें वर्तता है । परन्तु जब उसे ज्ञानका उदय हो जाता है, तब वह कर्मपरणतिको अपनेसे भिन्न गिनता है, और जब कर्मपरणति तथा जात्मपणतिको पृथक्करण करके जात्म अनुभव करता है, तब मिथ्या मोहनीको स्थान नहीं मिलता । और मोहके पूर्णतया नष्ट होनेपर वैश्वज्ञान तथा अनंत सुख प्रगट होता है, जिससे सिद्ध पदकी प्राप्ति होती है और फिर जन्ममरणरूप समारमं नहीं आना पडता ॥ ५९ ॥

परमात्म पदकी प्राप्तिका मार्ग । छण्य छन्द ।

जीव करम सजोग, महज मिथ्यातरूप घर ।

राग दोष परनति प्रभाव, जानै न आप पर ॥

तम मिथ्यात मिटि गयो, हुवो समकित्त उदोत ससि ।

राग दोष कछु वस्तु नांहि, छिन मांहि गये नसि ॥

अनुभौ अभ्यास सुख रासि रमि,

भयो निपुन तारन तरन ।

रागद्वेषाविह हि भवति ज्ञानमज्ञानभावा

त्तौ वस्तुत्प्रणिहितदशा दृश्यमानौ न किञ्चित् । ;

सम्यग्दृष्टि क्षपयतु ततस्तद्वदृष्ट्या स्फुटनौ

ज्ञानज्योतिज्वलति सहज येन पूणाचलाधि ॥ २५ ॥

पूरन प्रकास निहचल निरखि, वनारसि वंदत चरन ॥ ६० ॥

शब्दार्थ—निपुन=पूर्ण ज्ञाता । तरन तारन=ससार सागरसे स्वयं तारनेवाला और दूसरोंको तारनेवाला ।

अर्थ—जीवात्माका अनादिकालसे कर्मोंके साथ सम्बन्ध है, इसलिये वह सहज ही मिथ्या भावको प्राप्त होता है, और राग द्वेष परणतिके कारण स्व पर स्वरूपको नहीं जानता । पर मिथ्यात्व रूप अधकारके नाश और मम्यक्त्व शशिके उदय होनेपर राग द्वेषका अस्तित्व नहीं रहता—क्षणभरमे नष्ट हो जाता है, जिससे आत्म अनुभवके अभ्यासरूप सुखमे लीन होकर तारन तरन पूर्ण परमात्मा होता है । ऐसे पूर्ण परमात्माका निश्चय स्वरूप जगलोकन करके प० बनारसीदासजी चरण बन्दना करते हैं ॥ ६० ॥

राग द्वेषका कारण मिथ्यात्व है । सत्रैया इकतीसा ।

कोऊ सिष्य कहै स्वामी राग दोष परिनाम,
ताकौ मूल प्रेरक कहहु तुम कौन है ।
पुगल करम जोग किधौ इद्रिनिकौ भोग,
किधौ धन किधौ परिजन किधौ भौन है ॥
गुरु कहै छहौं दर्व अपने अपने रूप,
सवनिकौ सदा असहाई परिनौन है ।

रागद्वेषोत्पादक तरजदृष्ट्या नान्यद्द्रव्य धीक्ष्यते किञ्चनापि ।
सर्वद्रव्योत्पत्तिरन्तश्चकास्ति व्यक्ताऽत्यन्त स्वस्वभावेन यस्मात् ॥२६॥

कोऊ दरव काहूको न प्रेरक कदाचि तातें,
राग दोष मोह मृपा मदिरा अचौन है ॥६१॥

शब्दार्थ—मूल=असली । प्रेरक=प्रेरणा करनेवाला । परिजन=घरके लोग । भौन (भवन)=मकान । परिनौन=परिणमन । मदिरा=शराब । अचौन (अचरन)=पीना ।

अर्थ—शिष्य प्रश्न करता है कि हे स्वामी, राग द्वेष परिणामोका मुख्य कारण क्या है ? पौद्रलिक कर्म है ? या इन्द्रियोंके भोग हैं ? या धन है ? या घरके लोग हैं ? या घर है ? सो आप कहिए । इसपर श्रीगुरु समाधान करते हैं, कि छहों द्रव्य अपने अपने स्वरूपमें सदा निजाश्रित परिणमन करते हैं, कोई द्रव्य किसी द्रव्यकी परणतिके लिये कभी भी प्रेरक नहीं होता, अतः राग द्वेषका मूल कारण मोह मिथ्यात्वका मदिरापान है ॥ ६१ ॥

यज्ञानियोंके विचारमें राग द्वेषका कारण । दोहा ।

कोऊ मूरख यों कहै, राग दोष परिनाम ।
पुगलकी जोरावरी, वरतै आत्मराम ॥ ६२॥
ज्यों ज्यों पुगल बल करै, धरिधरि कर्मज भेष ।
रागदोषको परिणमन, त्यों त्यों होइ विगेष ॥ ६३ ॥

यदिह भवति रागद्वेषदोषप्रसूति

कतरदपि परेषा दूषण नास्ति तत्र ।

स्वयमयमपराधी तत्र सर्पत्यबोधो

भयतु विदितमस्त यात्वबोधोऽस्मि बोध ॥ २७ ॥

शब्दार्थ—परिणाम=मात्र । जोरावरी=जवरदस्ती । भेस (वेष)=रूप । विशेष=अ्यादा ।

अर्थ—कोई कोई मूर्ख ऐसा कहते हैं कि आत्मामें राग द्वेष मात्र पुद्गलकी जवरदस्तीसे होते है ॥ ६२ ॥ वे कहते है कि पुद्गल कर्मरूप परिणामनके उदयमें जैसा जैसा जोर करता है, वैसे वैसे बाहुल्यतासे राग द्वेष परिणाम होते है ॥ ६३ ॥

अज्ञानियोंको सत्य मार्गका उपदेश । दोहा ।

इहिविधि जो विपरीत पख, गहै सदहै कोइ ।
सो नर राग विरोधसौ, कवहूं भिन्न न होइ ॥६४॥
*सुगुरु कहै जगमै रहै, पुग्गल संग सदीव ।
सहज सुद्ध परिनमनिकौ, औसर लहै न जीव ॥६५॥
तातै चिदभावनि विपै, समरथ चेतन राउ ।
राग विरोध मिथ्यातमै, समकितमै सिव भाउ ॥६६॥

शब्दार्थ—विपरीत पख=उल्टा हट । भिन्न=जुदा । परिणाम=भाव । औसर=मौका । चिदभावनि विपै=चैतन्य भावोंमें—अशुद्ध दशामें राग द्वेष ज्ञानावरणीय आदि और शुद्ध दशामें पूर्णज्ञान पूर्ण आनन्द आदि । समरथ (समर्थ)=उल्लयान । चेतन राउ=चैतन्य राजा । सिव भाउ=मोक्षके भाव—पूर्णज्ञान, पूर्णदर्शन, पूर्णआनन्द, सम्यक्त्व सिद्धत्व आदि ।

अर्थ—श्रीगुरु कहते हैं कि जो कोई इस प्रकार उल्टा हट ग्रहण करके श्रद्धान करते है वे कमी भी राग द्वेष मोहसे नही

* रागजन्मनि निमित्तता परद्रव्यमेव कल्पयन्ति ये तु ते ।

। उत्तरन्ति न हि मोहवादिनीं शुद्धबोधविधुरान्धबुद्धयः ॥ २८ ॥

छूट सकते ॥ ६४ ॥ और यदि जगतमें जीवका पुद्गलसे हमेशा ही संबंध रहे, तो उसे शुद्ध भावोंकी प्राप्तिका कोई भी मौका नहीं है—अर्थात् वह शुद्ध होही नहीं सकता ॥ ६५ ॥ इससे चैतन्य भाव उपजानेमें चैतन्य राजा ही समर्थ हैं, सो मिथ्यात्व की दशामें राग द्वेष भाव उपजाते हैं और सम्यक्त्व दशामें शिव भाव अर्थात् ज्ञान दर्शन सुख आदि उपजते हैं ॥ ६६ ॥

ज्ञानका माहात्म्य । दोहा ।

ज्यौ दीपक रजनी समे, चहुं दिसि करै उदोत ।
 प्रगतै घटपटरूपमें, घटपटरूप न होत ॥ ६७ ॥
 त्यों सुग्यान जानै सकल ज्ञेय वस्तुको मर्म ।
 ज्ञेयाकृति परिनवै पै, तजै न आत्म-धर्म ॥ ६८ ॥
 ग्यानधर्म अविचल सदा, गहै विकार न कोइ ।
 राग विरोध विमोहमय, कवहुं भूलि न होइ ॥ ६९ ॥
 ऐसी महिमा ग्यानकी, निहचै है घट माहि ।
 मूरख मिथ्याद्रिष्टिसों, सहज विलोकै नाहि ॥ ७० ॥

अर्थ—जिस प्रकार रात्रिमें चिराग चहुँ ओर प्रकाश पहुँचाता है और घट पट पदार्थोंको प्रकाशित करता है, पर घट,

पूर्णेकाच्युतशुद्धयोधमहिमा योधो न योष्यादय
 यायात्नामपि विन्या तत इतो दीप प्रमादयादिव ।
 तद्वस्तुस्थितिरोधय धधिपणा पते किमनानिनो
 रागद्वेषमया भवति सहजा मुञ्चत्युदासीनताम् ॥ २९ ॥

पटरूप नहीं हो जाता ॥ ६७ ॥ उसी प्रकार ज्ञान सत्र ज्ञेय पदार्थोंको जानता है और ज्ञेयाकार परिणमन करता है तौ भी अपने निजस्वभाबको नहीं छोडता ॥ ६८ ॥ ज्ञानका जानना स्वभाब सदा अचल रहता है, उसमें कभी किसी भी प्रकारका विकार नहीं होता और न वह कभी भूलकर भी रागद्वेष मोह-रूप होता है ॥ ६९ ॥ निश्चय नयसे आत्मामे ज्ञानकी ऐसी महिमा है, परन्तु अज्ञानी मिथ्यादृष्टी आत्मस्वरूपकी ओर देखते भी नहीं है ॥ ७० ॥

अज्ञानी जीव परद्रव्यमें ही लीन रहते ह । दोहा ।

पर सुभावमें मगन है, ठानै राग विरोध ।

धरै परिग्रह धारना, करै न आत्म सोध ॥ ७१ ॥

शब्दार्थ—पर सुभाब=आत्म स्वभाबके बिना सत्र अचेतन भाव । ठानै=करे । राग विरोध=राग द्वेष । सोध=खोज ।

अर्थ—अज्ञानी जीव पर द्रव्योमे मस्त रहते हैं, राग द्वेष करते है और परिग्रहकी इच्छा करते है, परतु आत्मस्वभाबकी खोज नहीं करते ॥ ७१ ॥

अज्ञानीको कुमति और ज्ञानीको सुमति उपजती है । चीपाई ।

मूरखके घट दुरमति भासी ।

पंडित हिये सुमति परगासी ॥

दुरमति कुविजा करम कमावै ।

सुमति राधिका राम रमावै ॥ ७२ ॥

दोहा ।

कुविजा कारी कूवरी, करै जगतमें सेद ।
अलख अराधे राधिका, जानै निज पर भेद ॥७३॥

अर्थ—मूर्खके हृदयमें कुमति उपनती है और ज्ञानियोंके हृदयमें सुमतिका प्रकाश रहता है। दुर्बुद्धि कुञ्जाके समान है, नवीन कर्मोंका बन्ध करती है, और सुबुद्धि राधिका है, आत्मराममें रमण कराती है ॥ ७२ ॥ बुद्धि कारी कूवरी कुञ्जाके समान है, ससारमें सताप उपजाती है, और सुबुद्धि राधिकाके समान है, निज आत्माकी उपासना कराती है तथा स्व परका भेद जानती है ॥ ७३ ॥

दुर्मति और कुञ्जाकी समानता । सचैया इकतीसा ।

कुटिल कुरूप अग लगी है पराये सग,
अपुनो प्रवान करि आपुही विकारि है ।
गहै गति अधकीसी सकति कवधकीसी,
बधकौ बढाउ करै धधहीमें धारि है ।
राडकीसी रीत लिये माडकीसी मतवारी,
साड ज्यों सुछद डोलै भांडकीसी जाई है ।

१ हिंदु धर्म देवीभागवत आदि ग्रन्थोंका ब्यथन है कि, कुञ्जा कसकी दासी थी । उसका शरीर कुरूप कान्ति हीन था । राजा श्रीकृष्णचन्द्र अपनी स्त्री राधिकासे धलग होकर उससे फैस गये थे, राधिकाके बहुत प्रयत्न करनेपर वे सन्मार्गपर आये । सो यहींपर दृष्टान्तमात्र ग्रहण किया है ।

घरको न जानै भेद करै पराधीन खेद,
याते दुरबुद्धि दासी कुब्जा कहाई है ॥७४॥

शब्दार्थ—कुटिल=कपटिन । पराये=दूसरेके । संग=साथ । कबंध= एक राक्षसका नाम । राड=विधवा । माड (मण्ड)=शराप । साड=बिना बढिया किया हुआ । सुउद=स्वतंत्र । जाई=पैदा हुई । यातै=इससे ।

अर्थ—कुबुद्धि मायाका उदय रहते होती है इससे कुटिला है, और कुब्जा मायाचारणी थी, उसने पराये पतिको वशमे कर रक्खा था । कुबुद्धि जगतको असुहाननी लगती है इससे कुरूपा है, कुब्जा काली कान्तिहीन ही थी इससे कुरूपा थी । कुबुद्धि परद्रव्योंको अपनाती है, कुब्जा परपतिसे सम्बन्ध रखती थी इससे दोनो व्यभिचारिणी हुई । कुबुद्धि अपनी अशुद्धतासे विप-योके आधीन होती है इससे विकी हुईके समान है, कुब्जा पर-वशमे पड़ी हुई थी इससे दूसरेके हाथ विकी हुई ही थी । कुबुद्धि-को वा कुब्जाको अपनी भलाई बुराई नहीं दिखती, इससे दोनोंकी दशा अथेके समान हुई । कुबुद्धि परपदाथोंसे अहबुद्धि करनेमे समर्थ है, कुब्जा भी कृष्णको कब्जेमे रखनेके लिये समर्थ थी, इससे दोनो कबंधके समान प्रलयान है । दोनो कर्मोंका बंध

१ व्यभिचारिणी स्त्रियों अपने मुखसे अपने शरीरका मोल करती हैं,—अथात् अपना अमूल्य शील-रत्न बेच देती हैं, यह बात ध्यानमें रखके कविने कहा है कि 'आपनो प्रवांनकरि आपुही बिकाइ है' ।

२ यह भी हिन्दू धर्म-शास्त्रोंका दृष्टान्त मात्र लिया है, कि बंध पूवजन्ममें गर्भव था । उसने दुवासा ऋषिको गाना सुनाया, पर वे कुछ प्रसन्न नहीं हुए, तब उसने मुनिको हँसी उड़ाई, तो दुवासाने क्रोधित होकर शाप दिया, कि तू राक्षस हो जा । बस फिर क्या था, वह राक्षस हो गया । उसकी एक एक यौवनकी भुजाएँ

पढ़ाती है। दोनोंकी प्रवृत्ति उपद्रवकी ओर रहती है। बुद्धि अपने पति आत्माकी ओर नहीं देखती, कुन्ना भी अपने पतिकी ओर नहीं देखती थी, इससे दोनोंकी राड मरीसी रीति है। दोनों ही शरामीके समान भतगाली हो रही है। दुर्बुद्धिम कोई धार्मिक नियम आदिका बधन नहीं, कुन्ना भी अपने पति आदिकी आवामे नहीं रहती थी, इगलिये दोनों साइके समान स्वतंत्र है। दोनों भाँड़की सततिके समान निर्लज्ज है। दुर्बुद्धि अपने आत्मक्षेत्ररूप घरका भर्म नहीं जानती, कुन्ना भी दुर्गचारमे रत रहती थी, घरका हाल नहीं देखती थी। दुर्बुद्धि कर्मके आधीन है, कुन्ना परपतिके आधीन, इससे दोनों पराधीनताके केशमें है। इस प्रकार दुर्बुद्धिको कुन्ना दासीकी उपमा दी है ॥ ७४ ॥

सुबुद्धिसे राधिकाकी तुलना। सर्वथा शक्तीसा।

रूपकी रसीली भ्रम कुलफकी कीली सील,
सुधाके समुद्र झीली सीली सुखदाई है।
प्राची ग्यानभानकी अजाची है निदानकी,
सुराची निरवाची ठौर साची ठकुराई है ॥

थी, और वह बहुत ही बलवान था, सो अपनी भुजाओंसे वह एक योवन दूर तकके जोबोंको खा जाता था, और बहुत उपद्रव करता था, इससे इन्द्रने उसे बल मारा, जिससे उसका भाथा उसीके पेटमें धँस गया, पर वह शापके कारण मरा नहीं, तबसे उसका नाम बध पडा। एक दिन धनमें विचरत हुए राजा राम लक्ष्मण दोनों भाइ इसके सपाटेमें धा गये, और इन्हे भी उसने खाना चाहा, तब राम चन्द्रने उसके हाथ काट डाले और उसे स्वर्गधाम पहुँचा दिया।

१ दास्ता-पिवाद विधिके बिना ही धर्मविद्वद रक्ती हुई औरत।

धामकी खबरदारि रामकी रमनहारि,
 राधा रस-पंथनिके ग्रंथनिमें गाई है ।
 संतनकी मानी निरवानी नूरकी निसानी,
 याते सदबुद्धि रानी राधिका कहाई है॥७५

शब्दार्थ—कुडफ=ताला । कीली=चाबी । शीली=स्नान की हुई ।
 सीली=भोगी हुई । प्राची=पूर्व दिशा । अजाची=नहीं मागनेवाली । निदान=
 आगामी विषयोंको अभिलाषा । निरवाची (निरवाच्य)=वचन अगोचर ।
 ठठुराई=स्वामीपन । धाम=रर । रमनहारि=मौज करनेवाली । रस पंथके
 ग्रंथनिमें=रस मार्गके शास्त्रोंमें । निरवानी=गमीर । नूरकी निसानी=
 सौन्दर्यका चिह्न ।

अर्थ—सुबुद्धि आत्मस्वरूपमें सरम है, राधिका भी रूपवती
 है । सुबुद्धि अज्ञानका ताला खोलनेकी चाबी है, राधिका भी
 अपने पतिको शुभ सम्मति देती है । सुबुद्धि और राधिका दोनों
 शीलरूपी सुधाके मसुद्रमें स्नान की हुई हैं, दोनों शान्त स्वभावी
 सुखदायक हैं । ज्ञानरूपी सूर्यका उदय करनेमें दोनों पूर्व दिशाके
 समान हैं । सुबुद्धि आगामी विषय भोगोंकी गल्लासे रहित
 है, राधिका भी आगामी भोगोंकी याचना नहीं करती । सुबुद्धि
 आत्मस्वरूपमें भले प्रकार राचती है, राधिका भी पति-प्रेममें
 पगती है । सुबुद्धि और राधिका रानी दोनोंके स्थानकी महिमा
 वचन अगोचर अर्थात् महान् है । सुबुद्धिका आत्मापर सचा
 स्वामित्व है, राधिकाकी भी घरपर मालिकी है । सुबुद्धि
 अपने घर अर्थात् जात्माकी सावधानी रखती है, राधिका भी

घरकी निगरानी रखती है। सुबुद्धि अपने आत्मराममें रमण करती है, राधिका अपने पति कृष्णके साथ रमण करती है। सुबुद्धिकी महिमा अध्यात्मरसके ग्रंथोंमें बखानी गई है, और राधिकाकी महिमा शृंगाररस आदिके ग्रंथोंमें कही गई है। सुबुद्धि साधुजनों द्वारा आदरणीय है, राधिका ज्ञानियों द्वारा माननीय है। सुबुद्धि और राधिका दोनों लोभ रहित अर्थात् गमीर है। सुबुद्धि शोभासे सम्पन्न है, राधिका भी कान्तिमान् है। इस प्रकार सुबुद्धिको राधिकारानीकी उपमा दी गई है ॥ ७५ ॥

सुमति सुमतिकर कृत्य । दोहा ।

वह कुविजा वह राधिका, दोऊ गति मतिवानि ।
वह अधिकारनि करमकी, यह विवेककी खानि ॥ ७६ ॥

अर्थ—दुर्बुद्धि बुज्जा है, सुबुद्धि राधिका है, बुद्धि समारमें भ्रमण करानेवाली है और सुबुद्धि विवेकमान है। दुर्बुद्धि कर्मबधके योग्य है और सुबुद्धि स्व पर विवेककी खानि है ॥ ७६ ॥

द्रव्यकर्म भावकर्म और विवेकका निर्णय । दोहा ।

दरबकरम पुग्गल दसा, भावकरम मति वरु ।
जो सुग्यानकौ परिनमन, सो विवेक गुरु चक्र ॥ ७७ ॥

शब्दार्थ—दरबकरम (द्रव्य कर्म)=ज्ञानावरणीय आदि । भावकर्म= राग द्वेष आदि । मतिवक्र=आत्माका विभाव । गुरु चक्र=बड़ा पुंज ।

अर्थ—ज्ञानावर्णीय आदि द्रव्यकर्म पुद्गलकी पर्याये हैं, राग द्वेष आदि भाव कर्म आत्माके विभाव है, और स्व पर विवेककी परणति ज्ञानका बड़ा पुंज है ॥ ७७ ॥

कर्मके उदयपर चौपरका दृष्टात । कवित्त ।

जैसे नर खिलार चौपरिकौ,
 लाभ विचारि करै चितचाउ ।
 धरै सवारि सारि बुधिवलसौ,
 पासा जो कुछ परै सु दाउ ॥
 तैसे जगत जीव स्वारथकौ,
 करि उद्दिम चितवै उपाउ ।
 लिख्यौ ललाट होइ सोई फल,
 करम चक्रकौ यही सुभाउ ॥ ७८ ॥

शब्दार्थ—चितचाउ=उत्साह । सारि=गोट । उपाउ (उपाय)=
 तदवीर । लिख्यौ ललाट=मस्तकका लिखा—तकदीर ।

अर्थ—जिस प्रकार चौपड़का खेलनेवाला मनमे जीतनेका
 उत्साह रखके अपनी अरुके जोरसे सम्हालकर ठीक ठीक गोट
 जमाता है, पर दाउ तो पॉसेके आधीन है । उसी प्रकार जगतके
 जीव अपने प्रयोजनकी सिद्धिके लिये प्रयत्न सोचते हैं, पर
 जैसा कर्मका उदय है वैसा ही होता है, कर्मपरणतिकी ऐसी
 ही रीति है । उदयावलीमे आया हुआ कर्म फल दिये बिना
 नहीं रुकता ॥ ७८ ॥

विवेक चक्रके स्वभावपर सतरजका दृष्टान्त । कवित्त ।

जैसे नर खिलार सतरंजकौ,
 समुझै सब सतरजकी घात ।

निरुपाधि आत्म समाधिमें विराजै ताते,
कहिए प्रगट पूरन परम हस है ॥ ८२ ॥

शब्दार्थ—सरवंस (सर्वस्य)=पूर्ण सपति । जानै ज्ञेय वस्तु
मर्म=वागने योग्य और ग्रहण करने योग्य पदार्थोंको जानते हैं ।

अर्थ—जहाँ शुद्ध ज्ञानकी कलाका प्रकाश दिखता है, वहाँ
उसके अनुसार चारित्रका अंश रहता है, इससे ज्ञानी जीन मन
ज्ञेय उपादेयको समझते हैं । उनका सर्वस्व वैराग्यभावन ही रहता
है, वे राग द्वेष मोहसे भिन्न रहते हैं, इससे उनके पहलेके बंधे
हुए कर्म झड़ते हैं, और वर्तमान तथा भविष्यमें कर्मबंध नहीं
होता । वे शुद्ध आत्माकी भावनामें स्थिर होते हैं, इससे साक्षात्
पूर्ण परमात्मा ही है ॥ ८२ ॥

पुन । दोहा ।

ग्यायक भाव जहाँ तहा, सुद्ध चरनकी चाल ।
ताते ग्यान विराग मिलि, सिव साथै समकाल ॥ ८३ ॥

शब्दार्थ—ज्ञायक भाव=आत्म स्वरूपका ज्ञान । चरन=चारित्र ।
समकाल=एक ही समयमें ।

अर्थ—जहाँ ज्ञानभाव है वहाँ शुद्ध चारित्र रहता है, इस-
लिये ज्ञान और वैराग्य एक साथ मिलकर मोक्ष साधते हैं ॥ ८३ ॥

ज्ञानस्य सचेतनयैव नित्यं प्रकाशते ज्ञानमतीव शुद्धं ।
अज्ञानसचेतनया तु धावन् बोधस्य शुद्धिं निरुणाद्धि यन्धः ॥ ३१ ॥

ज्ञान चारित्रपर पंगु अंधका दृष्टान्त । दोहा ।

जथा अंधके कधपर, चढै पंगु नर कोइ ।
वाके दृग वाके चरन, होंहि पथिक मिलि दोइ ॥ ८४ ॥
जहां ग्यान किरिया मिलै, तहां मोख-मग सोइ ।
वह जानै पदकौ मरम, वह पदमै थिर होइ ॥ ८५ ॥

शब्दार्थ—पंगु=लँगड़ा । वाके=उसके । दृग=नेत्र । चरन=पैर ।
पथिक=रास्तागीर । क्रिया=चारित्र । पदकौ मरम=आत्माका स्वरूप ।
पदमै थिर होइ=आत्मामें स्थिर होने ।

अर्थ—जिस प्रकार कोई लँगड़ा मनुष्य अंधके कधपर चढ़े, तो लँगड़ेकी आँखों और अंधके पैरोंके योगसे दोनोंका गमन होता है ॥ ८४ ॥ उसी प्रकार जहाँ ज्ञान और चारित्रकी एकता है वहाँ मोक्षमार्ग है, ज्ञान आत्माका स्वरूप जानता है और चारित्र आत्मामें स्थिर होता है ॥ ८५ ॥

ज्ञान और क्रियाकी परणति । दोहा ।

ग्यान जीवकी संजगता, करम जीवकी भूल ।
ग्यान मोख अंकूर है, करम जगतकौ मूल ॥ ८६ ॥
ग्यान चेतनाके जगे, प्रगटै केवलराम ।
कर्म चेतनामै वसै, कर्मबंध परिनाम ॥ ८७ ॥

शब्दार्थ—सजगता=सावधानी । अंकूर=पौधा । केवलराम=
आत्माका शुद्ध स्वरूप । कर्म चेतना=ज्ञान रहित भाव । परिनाम=भाव ।

अर्थ—ज्ञान जीवकी साधनता है, और शुभाशुभ परणति उसे भुलाती है, ज्ञान मोक्षका उत्पादक है और कर्म जन्म मरणरूप समारका कारण है ॥ ८६ ॥ ज्ञान चेतनाका उदय होनेसे शुद्ध परमात्मा प्रगट होता है, और शुभाशुभ परणतिसे बंधके योग्य भाव उपजते हैं ॥ ८७ ॥

कर्म और ज्ञानका भिन्न भिन्न प्रभाव । चौपाई ।

जबलग ग्यान चेतना न्याारी ।

तबलग जीव विकल संसारी ॥

जब घट ग्यान चेतना जागी ।

तब समकिती महज वैरागी ॥ ८८ ॥

सिद्ध समान रूप निज जानै ।

पर सजोग भाव परमानै ॥

सुद्धात्म अनुभौ अभ्यासै ।

त्रिविधि कर्मकी ममता नासै ॥ ८९ ॥

अर्थ—जबतक ज्ञान चेतना अपनेसे भिन्न है, अर्थात् ज्ञान चेतनाका उदय नहीं हुआ है, तबतक जीव दुखी और संसारी रहता है, और जब हृदयमें ज्ञान चेतना जगती है, तब वह अपने

१, 'भारी' ऐसा भी पाठ है ।

वृत्तकारितानुमननैस्त्रिरालविषय मनोवचनकायै ।

परिहृत्य कमे सर्वे परम नष्कर्म्यमवलम्ब्ये ॥ ३२ ॥

आप ही ज्ञानी वैरागी होता है ॥ ८८ ॥ वह अपना स्वरूप सिद्ध सदृश शुद्ध जानता है, और परके निमित्तसे उत्पन्न हुए भावोंको पर स्वरूप मानता है । वह शुद्ध आत्माके अनुभवका अभ्यास करता है और भावकर्म द्रव्यकर्म तथा नोकर्मको अपने नहीं मानता ॥ ८९ ॥

ज्ञानीकी आलोचना । दोहा ।

ग्यानवंत* अपनी कथा, कहै आपसों आप ।

में मिथ्यात दसाविषैं, कीने बहु विधि पाप ॥९०॥

अर्थ—ज्ञानी जीव अपनी कथा अपनेहीसे कहता है, कि मैंने मिथ्यात्वकी दशामे अनेक प्रकारके पाप किये ॥ ९० ॥

पुन । सधैया इफतीसा ।

हिरदै हमारे महा मोहकी विकलताई,

तातै हम करुना न कीनी जीवघातकी ।

आप पाप कीने औरनिकों उपदेस दीनैं,

हुती अनुमोदना हमारे याही वातकी ॥

मन वच कायामें मगन है कमाये कर्म,

धाये भ्रमजालमें कहाये हम पातकी ।

ग्यानके उदय भए हमारी दसा ऐसी भई,

जैसे भानु भासत अवस्था होत प्रातकी ॥ ९१ ॥

* यदहकार्यं यदहमन्त्रीकर यत्कुर्ये तमप्यन्य समन्वशास्त, मनसा च घाचा च कायेन तमिथ्या मे दुःश्रुतमिति ।

अर्थ—हमारे हृदयमें महा मोहजनित भ्रम था, इससे हमने जीवोंपर दया नहीं की। हमने सुद पाप किये, दूसरोंको पापका उपदेश दिया, और किसीको पाप करते देखा, तो उसका समर्थन किया। मन वचन कायकी प्रवृत्तिके निजत्वमें मग्न होकर कर्म-बध किये, और भ्रमजालमें भटककर हम पापी कहलाये, परन्तु ज्ञानका उदय होनेसे हमारी ऐसी अवस्था हो गई, जैसे कि सूर्यका उदय होनेसे प्रभातकी होती है—अर्थात् प्रकाश फैल जाता है, और अंधकार नष्ट हो जाता है ॥ ९१ ॥

ज्ञानका उदय होनेपर अज्ञान दशा हट जाती है। सर्वैया इक्षतीसा।

ग्यानभान भासत प्रवान ग्यानवान कहै,
 करुना-निधान अमलान मेरौ रूप है।
 कालसौं अतीत कर्मजालसौं अजीत जोग-
 जालसौं अभीत जाकी महिमा अनूप है ॥
 मोहकौ विलास यह जगतकौ वास मै तौ,
 जगतसौं सुन्न पाप पुन्न अध कूप है।
 पाप किनि कियौ कौन करै करि है सु कौन,
 क्रियाकौ विचार सुपिनेकी दौर धूप है ॥९२॥

मोहायद्दहमकार्षे समस्तमपि कर्म तत्प्रतिक्रम्य ।

आत्मनि चैतन्यात्मनि नि.कर्मणि नित्यमात्मना घसं ॥ ३३ ॥

अर्थ—ज्ञान-सूर्यका उदय होते ही ज्ञानी ऐसा विचारता है कि मेरा स्वरूप करुणामय और निर्मल है । उसपर मृत्युकी पहुँच नहीं है, वह कर्म-मरणतिको जीत लेता है, वह योग समुदायसे निर्भय है, उसकी महिमा अपरम्पार है, यह जगतका जजाल मोहजनित है, मैं तो ससार अर्थात् जन्म मरणसे रहित हूँ, और शुभाशुभ प्रवृत्ति अध-रूपके समान है । किमने पाप किये ? पाप कौन करता है ? पाप कौन करेगा ? इस प्रकारकी क्रियाका विचार ज्ञानीको स्वप्नके समान मिथ्या दिखता है ॥ ९३ ॥

कर्म प्रपञ्च मिथ्या है । दोहा ।

मैं कीनौ मैं यौ करौं, अब यह मेरो काम ।
मन वच कायामै वसै, ए मिथ्या परिनाम ॥९३॥
मनवचकाया करमफल, करम-दसा जड़ अंग ।
दरवित पुग्गल पिडमय, भावित भरम तरंग ॥९४॥
तातै आतम धरममौ, करम सुभाउ अपूठ ।
कौन करावै को करै, कोसल है सब झूठ ॥ ९५ ॥

शब्दार्थ—अपूठ=अजानकार ।

अर्थ—मैंने यह किया, अब ऐसा कहूँगा, यह मेरी कार्यवाई है, ये सब मिथ्याभाव मन वचन कायामे निवास करते

१ वह जानता है कि मन वचन कायके योग पुद्गलके हैं, मेरे स्वरूपको बिगाड़ नहीं सकते ।

न करोमि न कारयामि न कुर्वन्तमप्यन्य समनुजानामि मनसा च घाचा च कायेन चेति ।

है ॥ ९३ ॥ मन वचन काय कर्म जनित हैं, कर्म-परणति जड है,
द्रव्यकर्म पुद्गलके पिण्ड है, और भावकर्म अज्ञानकी लहर है ॥ ९४ ॥
आत्मासे कर्म स्वभाव विपरीत है, इससे कर्मको कौन करावे ?
कौन करे ? यह सब कौशल मिथ्या है ॥ ९५ ॥

मोक्ष मार्गमें क्रियाका निषेध । दोहा ।

करनी हित हरनी सदा, मुक्ति वितरनी नांहि ।
गनी वध पद्धति विपे, सनी महादुरमांहि ॥ ९६ ॥

अर्थ—क्रिया आत्माकी अहित करनेवाली है, मुक्ति देनेवाली
नहीं है, इससे क्रियाकी गणना वध-पद्धतिमें की गई है, यह महा
दुःखसे लित है ॥ ९६ ॥

क्रियाकी निंदा । सवैया इफतीसा ।

करनीकी घरनीमें महा मोह राजा बसै,
करनी अग्यान भाव राकिसकी पुरी है ।
करनी करम काया पुग्गलकी प्रति छाया,
करनी प्रगट माया मिसरीकी छुरी है ॥

मोहविलासविजृम्भितामिदमुदयत्कर्म सकलमालोच्य ।

आत्मनि चैतन्यात्मनि नि कर्मणि नित्यमात्मना वसे ॥ ३४ ॥

न करिष्यामि न कारयिष्यामि न कुर्वन्तमप्यन्य समनुशास्यामि
मनसा च वाचा च कायेन चेति ।

इस प्रकारका ऊपर तीन जगह संस्कृत गद्य दिया गया है, सो यह गद्य दोनों
मुद्रित प्रतिमें नहीं है । किन्तु इडरकी प्रतिमें उपलब्ध हुआ है । इन गद्योंके
अर्थसे कविताके अर्थका बराबर मिलान नहीं होता है । इडरकी प्रतिमें कहींसे
उद्धृत किया है ऐसा मालूम पड़ता है ।

करनीके जालमें उरझि रह्यौ चिदानंद,
 करनीकी वोट ग्यानभान दुति दुरी है ।
 आचारज कहै करनीसों विवहारी जीव,
 करनी सदैव निहचै सुरूप बुरी है ॥ ९७ ॥

अर्थ—क्रियाकी भूमिपर मोह महाराजाका निवास है, क्रिया अज्ञानभाररूप राक्षसका नगर है, क्रिया कर्म और शरीर आदि पुद्गलोंकी मूर्ति है, क्रिया साक्षात् मायारूप मिथी लपेटी हुई छुरी है, क्रियाके जंजालमें आत्मा फँस रहा है, क्रियाकी आड़ ज्ञान-सूर्यके प्रकाशको छुपा देती है । श्रीगुरु कहते हैं, कि क्रियासे जीव कर्मका कर्ता होता है, निश्चय स्वरूपसे देखो तो क्रिया सदैव दुःखदायक है ॥ ९७ ॥

ज्ञानियोंका विचार । चौपाई ।

मृपा मोहकी परनति फैली ।
 ताते करम चेतना मैली ॥
 ग्यान होत हम समझी एती ।
 जीव सदीव भिन्न परसेती ॥ ९८ ॥

दोहा ।

जीव अनादि सरूप मम, करम रहित निरुपाधि ।
 अविनासी असरन सदा, सुखमय सिद्ध समाधि ९९

प्रत्याख्याय भ्रमिष्यत्कर्म समस्त निरस्तसम्मोह ।

आत्मनि चैतन्यात्मनि निःकर्मणि नित्यमात्मना चर्त्त ॥ ३५ ॥

समस्तमित्येवमपास्य कर्म त्रैकालिक शुद्धनयावलम्बी ।

प्रिलीनमोहो रहित विकारिध्वन्मात्रमात्मानमथाऽजलम्बे ॥ ३६ ॥

अर्थ—पहले झूठा मोहका उदय फैल रहा था, उससे मेरी चेतना कर्म सहित होनेसे मलीन हो रही थी, अब ज्ञानका उदय होनेसे हम समझ गये कि आत्मा सदा पर परणतिसे भिन्न है ॥ ९८ ॥ हमारा स्वरूप चैतन्य है, अनादि है, कर्म रहित है, शुद्ध है, अविनाशी है, स्वार्थीन है, निर्विकल्प और सिद्ध समान सुखमय है ॥ ९९ ॥

पुन । चौपाई ।

*मैं त्रिकाल करनीसों न्यारा ।

चिदावेलास पद जग उजयारा ॥

राग विरोध मोह मम नांही ।

मेरो अवलवन मुझमाही ॥ १०० ॥

अर्थ—मैं भद्वै कर्मसे प्रयक हूँ, मेरा चैतन्य पदार्थ जगत्का प्रकाशक है, राग द्वेष मोह मेरे नहीं है, मेरा स्वरूप मुझही मैं है ॥ १०० ॥

सवैया तेईसा ।

सम्यकवंत कहै अपने गुन,

मैं नित राग विरोधसों रीतौ ।

मैं करतूति करू निरवच्छक,

— मोहि विषे रस लागत तीतौ ॥

१ यदि ज्ञान बढ जाय, तो समस्त ससार अधकारमय ही है ।

*विगच्छन्तु कर्मधिपतदुफलानि मम भुक्तिमन्तरेणैव ।

सचेतयेऽहमचरु चैतन्यात्मानमात्मन ॥ ३७ ॥

सुष्ठ सुचेतनकौ अनुभौ करि,
 मै जग मोह महा भट जीतौ ।
 मोख समीप भयौ अत्र मो कहूं,
 काल अनंत इही विधि वीतौ ॥ १०१ ॥

शब्दार्थ—रीता=रहित । मोय=मुझे । तीतौ (तिक्त)=चरपरा ।

अर्थ—सम्यग्दृष्टी जीव अपना स्वरूप विचारते हैं कि मैं सदा राग द्वेष मोहसे रहित हूँ, मैं लौकिक क्रियाएँ इच्छा रहित करता हूँ, मुझे विषयरस असुहाने लगते हैं, मैंने जगतमें शुद्ध आत्माका अनुभव करके मोहरूपी महा योद्धाको जीता है, मोक्ष मेरे निकट समीप हुआ, अत्र मेरा अनन्तकाल इसी प्रकार बीते ॥ १०१ ॥

दोहा ।

कहै विचच्छन मैं रह्यौ, सदा ग्यान रस राचि ।
 सुष्ठातम अनुभूतिसौ, खलित न होहुं कदाचि १०२
 पुव्वकरमविप तरु भए, उदै भोग फलफूल ।

मैं इनकौ नहि भोगता, सहज होहु निरमूल ॥१०३॥

अर्थ—ज्ञानी जीव विचारते हैं कि मैं सदैव ज्ञानरसमें रमण करता हूँ और शुद्ध आत्म-अनुभवसे कमी भी नहीं चूकता ॥१०२॥ पूर्वकृत कर्म विषयवृक्षके समान हैं, उनका उदय फल फूलके

नि शेषकर्मफलसन्यसनात्मनैव
 सर्वक्रियान्तरविहारनिवृत्तवृत्ते ।

चैतन्यलक्ष्म भजतो भृशमात्मतरण

फालावलीयमचलस्य चहत्वन ता ॥ ३८ ॥

समान है, मैं इनका भोगता नहीं हूँ, इमलिये अपने आप ही नष्ट हो जायेंगे ॥ १०३ ॥

वैराग्यकी महिमा । दोहा ।

जो पूरवकृत करम-फल, रुचिसौ भुजै नाहि ।
मगन रहै आठों पहर, सुद्धातम पद मांहि ॥१०४॥
सो बुध करमदसा रहित, पावै मोख तुरत ।
भुंजै परम समाधि सुख, आगम काल अनत ॥१०५॥

अर्थ—जो ज्ञानीजीव पूर्वमे कमाये हुए शुभाशुभकर्म फलको अनुराग पूर्वक नहीं भोगता, और सदैव शुद्ध आत्म पदार्थमे मस्त रहता है, वह शीघ्र ही कर्म परणति रहित मोक्षपद प्राप्त करता है, और आगामी कालमे परम ज्ञानका आनंद अनत काल तक भोगता है ॥ १०४ ॥ १०५ ॥

ज्ञानीकी उन्नतिका धम । छप्पय ।

जो पूरवकृतकरम, विरस विप-फल नहि भुजै ।
जोग जुगति कारिज करति, ममता न प्रयुजै ॥

यः पूर्वमाकृतकर्मविपद्गुमाणा

भुक्ते फलानि न खलु स्वत एव वृत्त ।

आपातनालरमणीयमुदर्कं रम्य

नि कर्मशर्ममयमेति दशांतर स ॥ ३९ ॥

अत्यन्त भावयित्वा निरतिमधिरत कर्मणस्तत्फलाच्च

प्रस्पष्ट नाटयित्वा प्रछयनप्रखिलाज्ञानसचेतनाया ।

पूर्णं कृत्वा स्वभाव स्वयसपरिगत ज्ञानसचेतना स्या

सानन्द नाटयन्त प्रशमरसमितः सर्वकाल विव तु ॥ ४० ॥

राग विरोध निरोधि, संग विकल्प सब छंडइ ।
सुद्धातम अनुभौ अभ्यासि, सिव नाटक मंडइ ॥
जो ग्यानवंत इहि मग चलत, पूरन है केवल लहै ।
सो परम अतीन्द्रिय सुख विपें, मगन रूप संतत रहै ॥

अर्थ—जो पूर्वमें कमाये हुए कर्मरूप विष-वृक्षके विष-फल नहीं भोगता, अर्थात् शुभ फलमें रति और अशुभ फलमें अरति नहीं करता, जो मन वचन कायके योगोका निग्रह करता हुआ वर्तता है, और ममता रहित राग द्वेषको रोककर परिग्रह जनित सब विकल्पोंका त्याग करता है, तथा शुद्ध आत्माके अनुभवका अभ्यास करके मुक्तिका नाटक खेलता है, वह ज्ञानी ऊपर कहे हुए मार्गको ग्रहण करके पूर्ण स्वभाव प्राप्तकर केवलज्ञान पाता है, और सदैव उत्कृष्ट अतीन्द्रिय सुखमें मस्त रहता है ॥ १०६ ॥

शुद्ध आत्म द्रव्यको नमस्कार । सजेया इकतीसा ।

*निरभै निराकुल निगम वेद निरभेद,
जाके परगासमै जगत माइयतु है ।
रूप रस गंध फास पुदगलको विलास,
तामो उदवास जाको जस गाइयतु है ॥
विग्रहसों विरत परिग्रहसो न्यारौ सदा,
जामै जोग निग्रह चिहन पाइयतु है ।

* इतः पदार्थप्रथनावगुण्डनादिना कृतेरेकमनाकुल उच्यते ।
समस्तवस्तुव्यतिरेकनिश्चयाद्विचिंत्येति ज्ञानमिहायतिष्ठते ॥ ४१ ॥

सो है ग्यान परवांन चेतन निधान ताहि,
अविनासी ईस जानि सीस नाइयतु हे ॥१०७

शब्दार्थ—निरातुल्य=क्षोभरहिता निगम=उत्कृष्ट । निरभै (निर्भय)=
भय रहित । परगास (प्रकाश)=उजेल । नाइयतु है=समाता है ।
उदवास=रहित । विग्रह=शरीर । निग्रह=रोक-र । चिह्न=लक्षण ।

अर्थ—जात्मा निर्भय, आनन्दमय, सर्वोत्कृष्ट, ज्ञानरूप और
भेद रहित है । उसके ज्ञानरूप प्रकाशमें त्रैलोक्यका समावेश होता
है । स्पर्श रम गंध वर्ण ये पुद्गलके गुण हैं, इनसे उमकी महिमा
निराली कही गई है । उमका लक्षण शरीरसे भिन्न, परिग्रहसे
रहित, मन वचन कायके योगसे निराला है, वह ज्ञानस्वरूप
चित्तन्य पिण्ड है, उसे अविनाशी ईश्वर मानकर मस्तक नयाता
है ॥ १०७ ॥

शुद्ध आत्म द्रव्य अथात् परमात्मान् स्वरूप । सर्वथा इकतीसा ।

जैसे निरभेदरूप निहचै अतीत हुतौ,
तैसे निरभेद अब भेद कौन कहैगौ ।
दीसै कर्म रहित सहित सुख समाधान,
पायौ निजथान फिर बाहरि न बहैगौ ॥

अन्येभ्यो व्यतिरिक्तमात्मनियत विभ्रत् पृथग्वस्तुता
मादानोज्जनशून्यमेतद्मल ज्ञान तथावस्थितम् ।
मध्याद्य तथिभागमुक्तसहजस्फारप्रभाभासुर
शुद्धज्ञानघनो यथास्य महिमा नित्योदितस्तिष्ठति ॥ ४२ ॥

कवहूं कदाचि अपनौ सुभाव त्यागि करि,
राग रस राचिके न पर वस्तु गहैगौ ।

अमलान ग्यान विद्यमान परगट भयौ,
याही भांति आगम अनत काल रहैगौ ॥

शब्दार्थ—निरभेद=भेद रहित । अतीत=पहले । राचिके=लीन होकर । अमलान=मल रहित । आगामी=भविष्यमें ।

अर्थ—पूर्वमें अर्थात् समारी दशामे निश्चय नयसे आत्मा जैसा अभेदरूप था, वैसा प्रगट हो गया, उस परमात्माको अत्र भेदरूप कौन कहेगा ? अर्थात् कोई नहीं । जो कर्म रहित और सुख शान्ति महित दिसता है, तथा जिमने निजस्थान अर्थात् मोक्षकी प्राप्ति की है, वह ग्राहिर अर्थात् जन्म मरणरूप ससारमें न आवेगा । वह रुमी भी अपना निज स्वभाव छोड़कर राग द्वेषमें लगकर पर पदार्थ अर्थात् शरीर आदिको ग्रहण नहीं करेगा, क्योंकि वर्तमानकालमें जो निर्मल पूर्ण ज्ञान प्रगट हुआ है, वह तो आगामी अनत काल तक ऐसा ही रहेगा ॥ १०८ ॥

पुन । सर्वथा इकतीसा ।

जवहीतै चेतन विभावसौ उलटि आपु,

समे पाइ अपनौ सुभाव गहि लीनौ है ।

तवहीतै जोजो लेने जोग सोसो सब लीनौ,

जोजो त्यागजोग सोसो सब छांढि दीनौ है ॥

उन्मुक्तमुन्मोच्यमशेषतस्तत्तथात्तमादियमशेषतस्तत् ।

यदात्मन सहितसर्वशक्ते पूर्णस्य सन्धारणमात्मनीह ॥ ४३ ॥

लैवेकों न रही ठौर त्यागिवेकों नांही और,
 वाकी कहा उवरथौ जु कारजु नवीनौ है ।
 संग त्यागि अग त्यागि वचन तरग त्यागि,
 मन त्यागि बुद्धि त्यागि आपा सुद्ध कीनौ है १०९

शब्दार्थ—उलटि=विमुख होकर। समै (समय)=मौका। उवरथौ=शेष रहा। कारजु (कार्य)=काम। संग=परिग्रह। अग=देह। तरग=उहर। बुद्धि=इन्द्रिय जनितज्ञान। आपा=निज आत्म।

अर्थ—अमर मिलनेपर जमसे आत्माने विभाव परणति छोड़कर निज स्वभाव ग्रहण किया है, तमसे जो जो बातें उपादेय अर्थात् ग्रहण करने योग्य थीं, वे वे सब ग्रहण कीं, और जो जो बातें हेय अर्थात् त्यागने योग्य थीं, वे वे सब छोड़ दीं। अम ग्रहण करने योग्य और त्यागने योग्य कुछ नहीं रह गया और न कुछ शेष रह गया जो नया काम करनेको माकी हो। परिग्रह छोड़ दिया, शरीर छोड़ दिया, वचनकी क्रियासे गहित हुआ, मनके विकल्प त्याग दिये, इन्द्रियजनित ज्ञान छोड़ा और आत्माको शुद्ध किया ॥ १०९ ॥

मुक्तिका मूल कारण द्रव्यलिंग नहीं है। दोहा।

सुद्ध ग्यानके देह नहि, मुद्रा भेष न कोइ ।
 तातै कारन मोखकौ, दरबलिंग नहि होइ ॥ ११० ॥

व्यतिरिक्त परद्रव्यादेव ज्ञानमवस्थितम् ।

अधमाहारक तत्स्याद्येन देहोऽस्य शङ्कयते ॥ ४४ ॥

१) दरबलिग* न्यारौ प्रगट, कला वचन विग्यान ।

अष्ट महारिधि अष्ट सिधि, एऊ होहि न ग्यान ॥१११

शब्दार्थ—मुद्रा=शकल । भेस (वेश)=बनापट । दरबलिग=बाह्य
वेप । प्रगट=स्पष्ट ।

अर्थ—आत्मा शुद्धज्ञानमय है, और शुद्धज्ञानके शरीर नहीं
है, और न आकृति-वेप जादि हैं, इसलिये द्रव्यलिग मोक्षका
कारण नहीं है ॥ ११० ॥ बाह्य वेप जुदा है, कलाकौशल जुदा
है, वचन चातुरी जुदा है अष्ट महारिधिं जुदी है, अष्ट सिधिं
जुदी हैं और ये कोई ज्ञान नहीं हैं ॥ १११ ॥

आत्माके सिवाय अन्यत्र ज्ञान नहीं है । सबैया इकतीमा ।

भेपमै न ग्यान नाहि ग्यान गुरु वर्तनमें,

मंत्र जत्र तंत्रमै न ग्यानकी कहानी है ।

ग्रंथमै न ग्यान नाहि ग्यान कवि चातुरीमें,

वातनिमें ग्यान नाहि ग्यान कहा बानी है ॥

तातैं भेप गुरुता कवित्त ग्रंथ मंत्र वात,

इनतैं अतीत ग्यान चेतना निसानी है ।

१ अष्ट ऋद्धिं—

दोहा—अणिमा महिमा गरमिता, लधिमा प्राप्ती काम ।

घशीकरण अरु ईशता, अष्ट रिद्धिके नाम ॥

२ अष्ट सिद्धिं—आचार, श्रुत, शरीर, वचन, वाचन, बुद्धि, उपयोग और
संप्रह संडीनता

* एष ज्ञानस्य शुद्धस्य देह एव न विद्यते ।

ततो देहमय ज्ञातुर्न लिङ्ग मोक्षकारणम् ॥ ४५ ॥

ग्यानहीमें ग्यान नहि ग्यान और ठौर कहूं,
जाकै घट ग्यान सोई ग्यानका निदानी है ॥११२

शब्दार्थ—मंत्र=जाड़ना कूँ करना । जत्र=गण्डा तारीज । तंत्र=टोटका ।
कहानी=यात । प्रथ=शास्त्र । निसानी=चिह्न । वानी=वचन । ठौर=स्थान ।
निदानी=कारण ।

अर्थ—वेपमें ज्ञान नहीं है, महंतजी घने फिरनेमें ज्ञान नहीं है, मंत्र जत्र तत्रमें ज्ञानकी यात नहीं है, शास्त्रमें ज्ञान नहीं है, कविता-कौशलमें ज्ञान नहीं है, व्यांग्यानमें ज्ञान नहीं है, क्योंकि वचन जड है, इससे वेप, गुरता, कविताई, शास्त्र, मंत्र तंत्र, व्याख्यान इनसे चैतन्य लक्षणका धारक ज्ञान निराला है । ज्ञान ज्ञानहीमें है, अन्यत्र नहीं है । जिसके घटमें ज्ञान उपजा है, वही ज्ञानका मूल कारण अर्थात् आत्मा है ॥ ११२ ॥

ज्ञानके बिना वेपधारी विषयके भिद्यारी हैं । स्वैया इकतीस्ता ।

भेप धरि लोकनिको वचै सो धरम ठग,
गुरू सो कहावै गरुवाई जाहि चाहिये ।
मत्र तत्र साधक कहावै गुनी जादूगर,
पडित कहावै पडिताई जामें लहिये ॥
कवित्तकी कलामें प्रवीन सो कहावै कवि,
वात कहि जानै सो पवारगीर कहिये ।

१२ वे ज्ञान नहीं ज्ञानके कारण हैं । ३ वचन शब्दका प्रकार है, सो शब्द जड है, चैतन्य नहीं है ।

एतौ सव विपैके भिखारी मायाधारी जीव,
इन्हको विलोकिकै दयालरूप रहिये ॥११३॥

शब्दार्थ—वचै=ठगे । प्रवीन=चतुर । पमारगीर=रातचीतमें होश्यार-
समाचतुर । विलौकि=देखकर ।

अर्थ—जो वेप बनाकर लोगोंको ठगता है, वह धर्म-ठग कहलाता है, जिममे लौकिक मडप्पन होता है, वह मड़ा कहलाता है, जिसमें मंत्र तंत्र साधनेका गुण है, वह जादूगर कहलाता है, जो कविताईमें होश्यार है, वह कवि कहलाता है, जो रात चीतमें चटपटा है, वह व्याख्याता कहलाता है । सो ये सत्र कपटी जीव विषयके भिक्षुक है, विषयोकी पूर्तिके लिये याचना करते फिरते है, इनमें स्वार्थ-त्यागका अश भी नहीं है । इन्हे देखकर दया आनी चाहिये ॥ ११३ ॥

अनुभवकी योग्यता । दोहा ।

जो दयालता भाव सो, प्रगट ग्यानको अंग ।
पै तथापि अनुभौ दसा, वरतै विगत तरंग ॥११४॥
दरसन ग्यान चरन दसा, करै एक जो कोइ ।
थिर है साधै मोख-मग, सुधी अनुभवी सोइ ॥११५॥

शब्दार्थ—प्रगट=साक्षात् । तथापि=तौ भी । विगत=रहित ।
तरंग=विकल्प । सुधी=भेदविज्ञानी ।

दर्शनज्ञानचारिभ्रयात्मा तत्त्वमात्मन ।

एक एव सदा सेव्यो मोक्षमार्गो मुमुक्षुणा ॥ ४६ ॥

अर्थ—यद्यपि करुणाभाय ज्ञानका साक्षात् अंग है, पर तौ भी अनुभवकी परणति निर्विकल्प रहती है ॥ ११४ ॥ जो सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रकी एकरता पूर्ण आत्मस्वरूपमे स्थिर होकर मोक्षमार्गको साधता है, वही भेदविज्ञानी अनुभवी है ॥ ११५ ॥

आत्म अनुभवका परिणाम । सर्वैया इकतीसा ।

जोई ट्रिग ग्यान चरनात्ममे वैठि ठौर,
 भयौ निरदौर पर वस्तुकों न परसै ।
 सुद्धता विचारै व्यावै सुद्धतामे केलि करै,
 सुद्धतामे थिर है अमृत-धारा वरसै ॥
 त्यागि तन कष्ट है सपष्ट अष्ट करमकौ,
 करि थान अष्ट नष्ट करै और करसै ।
 सोतौ विकल्प विजई अल्प काल मांहि,
 त्यागि भौ विधान निरवान पद परसै ॥११६॥

शब्दार्थ—निरदौर=परणामोंकी चंचलता रहित । परसै (स्पर्श) = छूवे । केलि=मौज । सपष्ट (स्पष्ट)=खुलासा । थान (स्यान)=क्षेत्र । करसै (कृश करे)=जीर्ण करे । विकल्प विजई=विकल्प जाल जीतनेवाला । अल्प (अल्प)=थोड़ा । भौ विधान=ज म मरणका फेर । निरवान (निर्वाण)=मोक्ष ।

अर्थ—जो कोई सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्ररूप आत्मामे अत्यन्त दृढ़ स्थिर होकर विकल्प-जालको दूर करता है, और उसके परिणाम पर पदार्थोंको छू तक नहीं पाते । जो आत्म

शुद्धिकी भावना व व्यान करता है, वा शुद्ध आत्मामे मॉज करता है, अथवा यों कहो कि शुद्ध आत्मामे स्थिर होकर जात्मीय आनन्दकी अमृत-धाग परमाता है, वह शारीरिक कष्टको नहीं गिनता, और स्पष्टतया आठो कर्मोंकी सत्ताको शिथिल और निचलित कर देता है, तथा उनकी निर्जरा और नाश करता है, वह निर्विकल्प ज्ञानी योडे ही समयमे जन्म मरणरूप ससारको छोडकर परमधाम अर्थात् मोक्ष पाता है ॥ ११६ ॥

आत्म अनुभव करनेका उपदेश । चौपाई ।

गुण परजैमे द्विष्टि न दीजै ।

निरविकल्प अनुभौ-रस पीजै ॥

आप समाइ आपमें लीजै ।

तनुपौ मेटि अपनुपौ कीजै ॥ ११७ ॥

शब्दार्थ—द्विष्टि=नजर । रस=अमृत । तनुपौ=शरीरमें अहंकार ।
अपनुपौ=आत्माको अपना मानना ।

अर्थ—आत्माके अनेक गुण पर्यायोंके विकल्पमे न पडकर निर्विकल्प आत्म अनुभवका अमृत पियो । आप अपने स्वरूपमें लीन हो जाओ, और शरीरमे अहबुद्धि छोडकर निज आत्माको अपनाओ ॥ ११७ ॥

एको मो पथो य एष नियतो दृग्गतिवृत्त्यात्मक-

स्तत्र स्थितिमेति यस्तमनिश ध्यायेच्च त चेत्तति ।

तास्मिन्नेव । नरन्तर विरहति द्रव्यान्तराण्यस्पृशन्

समयस्य सारमचिरादित्योदय विन्दति ॥ ४९

पुन दोहा।

तजि विभाउ हूँ मगन, सुद्धातम पद मांहि ।
एक मोख-मारग यहै, और दूसरौ नांहि ॥ ११८ ॥

अर्थ—राग द्वेष आदि विभाष परणतिको हटाकर शुद्ध आत्मपदमें लीन होओ, यही एक मोक्षका रास्ता है, दूसरा मार्ग कोई नहीं है ॥ ११८ ॥

आत्म अनुभवके बिना बाह्य चारित्र्य होनेपर भी जीव अग्रती है ।
सवेया इफतीसा ।

*केई मिथ्यादिष्टी जीव धरै जिनमुद्रा भेष,
क्रियामें मगन रहै कहें हम जती हैं ।
अतुल अखंड मल रहित सदा उदोत,
ऐसे ग्यान भावमों विमुख मूढमती है ॥
आगम मभाले दोस टालें विवहार भाले,
पालें व्रत जदपि तथापि अविरती हैं ।
आपुकों कहावै मोख मारगके अधिकारी,
मोखसौ सदीव रुष्ट दुष्ट दुरमंती है ॥११९॥

१ 'दुरगती' ऐसा भी पाठ है ।

*ये त्वेन परिहृत्य सवृत्तिपथप्रस्थापितेनात्मना
लिङ्गे द्रव्यमये चहति ममतां तत्प्राप्तवोधच्युता ।
नित्योद्योतमखण्डमेकमनुलालोऽस्वभावप्रभा

। - । प्राग्भाट समयस्य सारममल नाद्यापि पश्यन्ति ते ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ—क्रिया=ब्राह्मचारिण । जती (यति) साधु । अतुल= उपमा रहित । अखंड=नित्य । सदा उदोत=हमेशा प्रकाशित रहनेवाला । विमुख=परामुख । मूढमती=अज्ञानी । आगम=शास्त्र । भाँलें=देखें । अविरती (अव्रती)=वन रहित । रुष्ट=नाराज । दुरमती= खोटी बुद्धिवाले ।

अर्थ—कई मिथ्यादृष्टी जीव जिनलिंग धारण करके शुभाचारमें लगे रहते हैं, और कहते हैं कि हम साधु हैं, वे मूर्ख, अनुपम, अखंड, अमल, अविनाशी और सदा प्रकाशमान ऐसे ज्ञान भावसे सदा पराङ्मुख हैं । यद्यपि वे सिद्धांतका अध्ययन करते, निर्दोष आहार विहार करते और व्रतोंका पालन करते, तो भी अव्रती हैं । वे अपनेको मोक्षमार्गका अधिकारी कहते हैं, परन्तु वे दुष्ट मोक्षमार्गसे विमुख हैं, और दुर्मति हैं ॥ ११९ ॥

पुन । चौपाई ।

जैसें मुगध धान पहिचानै ।

तुप तंदुलकौ भेद न जानै ॥

तैसें मूढमती विवहारी ।

लखै न बंध मोख गति न्यारी ॥ १२० ॥

अर्थ—जिस प्रकार भोला मनुष्य धानको पहिचाने और तुप (दुलका) भेद न जाने, उसी प्रकार ब्राह्म क्रियामें लीन रहनेवाला ज्ञानी बंध और मोक्षकी पृथक्ता नहीं समझता ॥ १२० ॥

व्यवहारविमूढदृष्टयः परमार्थं कलयन्ति नो जना ।

तुपयोधविमुग्धबुद्धयः कलयन्तीह तुप न तन्दुलम् ॥ ४९ ॥

पुन । दोहा ।

जे विवहारी मूढ नर, परजै बुद्धी जीव ।
 तिन्हकों वाहिज क्रियाविपै, है अवलव सदीव ॥ १२१ ॥
 कुमती वाहिज दृष्टिसौ, वाहिज क्रिया करंत ।
 मानै मोख परपरा, मनमें हरप धरंत ॥ १२२ ॥
 सुद्धातम अनुभौ कथा, कहै समकिती कोइ ।
 सो सुनिकें तासों कहै, यह सिवपथ न होइ ॥ १२३ ॥

अर्थ—जो व्यवहारमें लीन और पर्यायहीमे अहबुद्धि करने-
 वाले भोले मनुष्य हैं, उन्हें हमेशा बाह्य क्रियाकाण्डहीका चल
 रहता है ॥ १२१ ॥ जो गहिरदृष्टी और अज्ञानी हैं वे बाह्य
 चारित्र ही अगीकार करते हैं, और मनमे प्रसन्न होकर उसे
 मोक्षमार्ग समझते हैं ॥ १२२ ॥ यदि कोई सम्यग्दृष्टी जीव उन
 मिथ्यात्वियोंसे शुद्ध आत्म अनुभूतकी वार्त्ता करे, तो उसको
 सुनकर वे कहते हैं कि यह मोक्षमार्ग नहीं है ॥ १२३ ॥

अज्ञानी और ज्ञानियोंकी परणतिमें भेद है । कथित्त ।

*जिन्हके देहबुद्धि घट अतर,
 मुनि-मुद्रा धरि क्रिया प्रवांनहि ।
 ते हिय अध बधके करता,
 परम तत्तकौ भेद न जानहि ॥

*द्रव्यलिङ्गममकारमीलितैर्दृश्यते समयसार एव न ।

द्रव्यलिङ्गमिह यत्किलान्यतो ज्ञानमेकमिदमेव हि स्थितः ॥ ५० ॥

जिन्हके हिए सुमतिकी कनिका,
वाहिज क्रिया भेष परमानहि ।
ते समकिती मोख मारग मुख,
करि प्रस्थान भवस्थिति भानहि ॥ १२४ ॥

शब्दार्थ—देहबुद्धि=शरीरको अपना मानना । प्रमानहि=सत्य मानना । हिय=हृदय । परमतत्त=आत्म पदार्थ । कनिका=किरण । भव-स्थिति=ससारकी स्थिति । भानहि=नष्ट करते हैं ।

अर्थ—जिनके हृदयमें शरीरसे अहबुद्धि है, वे मुनिका बेष धारण करके ब्राह्म चारित्रहीको सत्य मानते हैं । वे हृदयके अधे बंधके कर्त्ता हैं, आत्म पदार्थका मर्म नहीं जानते, और जिन सम्यग्दृष्टी जीवोंके हृदयमें सम्यग्ज्ञानकी किरण प्रकाशित हुई है, वे ब्राह्म क्रिया और बेषको अपना निज स्वरूप नहीं समझते, वे मोक्षमार्गके सन्मुख गमन करके भवस्थितिको नष्ट करते हैं ॥ १२४ ॥

समयसारका सार । सबैया इकतीसा ।

आचारज कहैं जिन वचनकौ विसतार,
अगम अपार है कहैगे हम कितनौ ।

अलमलमतिजत्पैर्दुर्विकर्त्परनत्पै

रयमिह परमार्थेश्चिन्त्यता नित्यमेक ।

स्वरसविसरपूर्णज्ञानविस्फूर्तिमात्रा-

— अलु समयसारादुत्तर किञ्चिदस्ति ॥ ५१ ॥

बहुत बोलिवेसों न मकसूद चुप्प भली,
 बोलिये सुवचन प्रयोजन है जितनो ॥
 नानारूप जलपसों नाना विकल्प उठें,
 तातें जेतौ कारज कथन भलौ तितनौ ।
 सुद्ध परमात्माको अनुभौ अभ्यास कीजै,
 यहै मोक्ष पथ परमारथ है इतनौ ॥ १२५ ॥

शब्दार्थ—विसतार (विस्तार)= फैलाव । अगम=अथाह । मक-
 सूद=इष्ट । जलप=बकपाद । कारज=काम । परमारथ (परमार्थ)=
 परम पदार्थ ।

अर्थ—श्रीगुरु कहते हैं कि जिनपाणीका विस्तार विशाल
 और अपरम्पार है, हम कहाँ तक कहगे । बहुत बोलना हमें इष्ट
 नहीं है, इससे अब मौन हो रहना भला है, क्योंकि वचन
 उतने ही बोलना चाहिये, जितनेसे प्रयोजन सधे । अनेक प्रकार-
 का बकपाद करनेसे अनेक विकल्प उठते हैं, इसलिये उतना ही
 कथन करना ठीक है जितनेका काम है । वम, शुद्ध परमात्माके
 अनुभवका अभ्यास करो यही मोक्ष-मार्ग है और इतना ही पर-
 मार्थ है ॥ १२५ ॥

पुन । दोहा ।

सुद्धातम अनुभौ क्रिया, सुद्ध ग्यान द्विग दौर ।
 मुक्ति पथ साधन यहै, वागजाल सब और ॥ १२६ ॥

शब्दार्थ—क्रिया=चारित्र । द्विग=दर्शन । वागजाल=वाक्याडम्बर ।

अर्थ—शुद्ध आत्माका अनुभव करना ही सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र है, यही मोक्षका मार्ग है, बाकी सब वाक्याडम्बर हैं ॥१२६॥

अनुभव योग्य शुद्ध आत्माका स्वरूप । दोहा ।

जगत चक्षु आनंदमय, ग्यान चेतनाभास ।
निरविकल्प सासुत सुथिर, कीजै अनुभौ तास १२७
अचल अखंडित ग्यानमय, पूरन वीत ममत्व ।
ग्यान गम्य वाधा रहित, सो है आत्म तत्व ॥१२८॥

अर्थ—आत्म पदार्थ जगतके सब पदार्थोंको देखनेके लिये नेत्र है, आनंदमय है, ज्ञान चेतनासे प्रकाशित है, सकल्प विकल्प रहित है, स्वय सिद्ध है, अविनाशी है, अचल है, अखंडित है, ज्ञानका पिण्ड है, सुख आदि अनंत गुणोंसे परिपूर्ण है, वीतराग है, इन्द्रियोंके अगोचर है, ज्ञान गोचर है, जन्म मरण वा क्षुधा वृषा आदिकी प्राधासे रहित निराप्राध है । ऐसे आत्मतत्त्वका अनुभव करो ॥ १२७ ॥ १२८ ॥

इदमेक जगच्चक्षुरक्षय याति पूर्णताम् ।

विज्ञानघनमानन्दमयमध्यक्षता नयत् ॥ ५२ ॥

इतीदमात्मनस्तस्य ज्ञानमात्रमवस्थित ।

अखण्डमेकमचल स्वसचेदमप्राधितम् ॥ ५३ ॥

इति सर्वविशुद्धिज्ञानाधिकार ॥ १० ॥

दोहा ।

सर्व विमुद्धी द्वार यह, कह्यौ प्रगट सिवपथ ।
कुंद कुद मुनिराज कृत, पूरन भयौ गरथ ॥ १२९ ॥

अर्थ—साक्षात् मोक्षका मार्ग यह सर्वविशुद्धि अधिकार कह
और स्वामी कुदकुंदमुनि रचित शास्त्र समाप्त हुआ ॥ १२९ ॥

ग्रन्थसत्ता नाम और ग्रन्थकी महिमा । चौपाई ।

कुदकुद मुनिराज प्रवीना ।

तिन्ह यह ग्रथ इहांलों कीना ॥

गाथा वद्ध सुप्राकृत वानी ।

गुरुपरपरा रीति वखानी ॥ १३० ॥

भयो गिरथ जगत विख्याता ।

सुनत महा सुख पावहि ग्याता ॥

जे नव रस जगमांहि वखाने ।

ते सब समयसार रस साने ॥ १३१ ॥

अर्थ—आध्यात्मिक विधामें कुशल स्वामीकुदकुंद मुनिने
यह ग्रन्थ यहाँ तक रचा है, और वह गुरु परम्पराके कथन अनु-
सार प्राकृत भाषामें गाथावद्ध कथन किया है ॥ १३० ॥ यह ग्रन्थ
जगत् प्रसिद्ध है, इसे सुनकर ज्ञानी लोग परमानन्द प्राप्त करते हैं ।
लोकोमें जो नव रस प्रसिद्ध हैं वे सब इस समयसारके रसमें समाये
हुए हैं ॥ १३१ ॥

पुन । दोहा ।

प्रगटरूप संसारमै, नव रस नाटक होइ ।

नवरस गर्भित ग्यानमय, विरला जानै कोइ ॥ १३२ ॥

अर्थ—संसारमे प्रसिद्ध है कि नाटक नव रस सहित होता है, पर ज्ञानमे नव ही रस गर्भित है, इस नातको कोई विरला ही ज्ञानी जानता है ।

भावार्थ—नव रसमे सरता नायक शान्त रस है, और शान्त रस ज्ञानमें है ॥ १३२ ॥

नव रसोंके नाम । कवित्त ।

प्रथम सिंगार वीर दूजौ रस,

तीजौ रस करुना सुखदायक ।

हास्य चतुर्थ रुद्र रस पंचम,

छट्टम रस वीभच्छ विभायक ॥

सप्तम भय अष्टम रस अद्भुत,

नवमो शांत रसनिकौ नायक ।

ए नव रस एई नव नाटक,

जो जहं मगन सोइ तिहि लायक ॥ १३३ ॥

अर्थ—पहला शृंगार, दूसरा वीर रस, तीसरा सुखदायक करुणा रस, चौथा हास्य, पाँचवाँ रुद्र रस, छठा विभावना वीमत्स रस, सातवाँ भयानक, आठवाँ अद्भुत और नवमा सब रसोंका सरताज शान्त रस है । ये नव रस है और यही नाटक-

रूप हैं। जो जिस रसमें मग्न होवे उसको वही रुचिकर होता है ॥ १३३ ॥

नव रसोंके लौकिक स्थान । सवैया इकतीसा ।

सोभामें सिगार वसै वीर पुरुपारथमें,
कोमल हिणमें करुना रस वखानिये ।
आनदमें हास्य रुंड मुडमें विराजै रुद्र,
वीभत्स तहां जहा गिलानि मन आनिये ॥
चिंतामें भयानक अथाहतामें अद्भुत,
मायाकी अरुचि तामें सात रस मानिये ।
एई नव रस भवरूप एई भावरूप,
इनिकौ विलेछिन सुद्रिष्टि जागै जानिये १३४

शब्दार्थ—रुंड मुड=रण सग्राम । विलेछिन=पृथक्करण ।

अर्थ—सोभामें शृंगार, पुरुपारथमें वीर, कोमल हृदयमें करुणा, आनदमें हास्य, गण-सग्राममें रुद्र, ग्लानिमें वीभत्स, शोक मरणादिकी चिंतामें भयानक, आश्चर्यमें अद्भुत और वैराग्यमें शान्त रसका निवास है । ये नव रस लौकिक हैं और परमार्थिक हैं, सो इनका पृथक्करण ज्ञानदृष्टिका उदय होनेपर होता है ॥१३४॥

नव रसोंके पारमार्थिक स्थान । छप्पय ।

गुन विचार सिगार, वीर उद्यम उदार रुख ।
करुना सम रस रीति, हास हिरदे उछाह सुख ॥

अष्ट करम दल मलन, रुद्र वरतै तिहि थानक ।
तन विलेछ वीभच्छ, दुंद मुख दसा भयानक ॥
अद्भुत अनत वल चितवन, सांत सहज वैराग धुव ।

नव रस विलास परगास तव,

जव सुबोध घट प्रगट हुव ॥ १३५ ॥

शब्दार्थ—उठाह=उत्साह । दल मलन=नष्ट करना । विलेछ=अशुचि ।

अर्थ—आत्माको ज्ञान गुणसे निभूपित करनेका विचार शृंगार रस है, कर्म निर्जराका उद्यम वीर रस है, अपने ही समान सब जीवोंको समझना करुणा रस है, मनमे आत्म अनुभवका उत्साह हास्य रस है, अष्ट कर्मोंका नष्ट करना रुद्र रस है, शरीरकी अशुचिता विचारना वीभत्स रस है, जन्म मरण आदिका दुर चिंतन करना भयानक रस है, आत्माकी अनतशक्ति चिंतन करना अद्भुत रस है, दृढ वैराग्य धारण करना शान्त रस है । सो जब हृदयमे सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है तब इस प्रकार नव रसका विलास प्रकाशित होता है ॥ १३५ ॥

चौपाई ।

जव सुबोध घटमें परगासै ।

तव रस विरस विपमता नासै ॥

नव रस लखै एक रस मांही ।

तातें विरस भाव मिटि जांही ॥ १३६ ॥

शब्दार्थ—सुबोध=सम्यग्ज्ञान । विषमता=भेद ।

अर्थ—जब हृदयमें सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है, तब रस विरस-का भेद मिट जाता है । एक ही रसमें नव रस दिखाई देते हैं, इससे विरस भाव नष्ट होकर एक शान्त रसहीमें आत्मा विश्राम लेता है ॥ १३६ ॥

दोहा ।

सवरसगर्भित मूल रस, नाटक नाम गरथ ।
जाके सुनत प्रवान जिय, समुझै पथ कुपथ ॥१३७

शब्दार्थ—मूल रस=प्रधान रस । कुपथ=खोटा मार्ग ।

अर्थ—यह नाटक समयसार ग्रन्थ सब रसोंसे गर्भित आत्मा नुभन रूप मूलरसमय है, इसके सुनते ही जीन सन्मार्ग और उन्मार्गको समझ जाता है ॥ १३७ ॥

चौपाई ।

वरतै ग्रथ जगत हित काजा ।
प्रगटे अमृतचद्र मुनिराजा ॥
तव तिन्हि ग्रथ जानि अति नीका ।
रची बनाई ससकृत टीका ॥ १३८ ॥

अर्थ—यह जगत्हितकारी ग्रन्थ प्राकृत भाषामे था सो अमृतचन्द्रस्वामीने इसे अत्यन्त श्रेष्ठ जानकर इसकी सस्कृतटीका बनाई ॥ १३८ ॥

दोहा ।

सर्व विसुद्धी द्वारलौ, आए करत वखान ।

तव आचारज भगतिसौ, करै ग्रंथ गुन गान १३९

अर्थ—स्वामीअमृतचद्रने सर्वविशुद्धिद्वार पर्यंत इस ग्रन्थका संस्कृत भाषामे व्याख्यान किया है और भक्तिपूर्वक गुणानुपाद गाया है ॥ १३९ ॥

दशवें अधिकारका सार ।

अनंतकालसे जन्म मरणरूप ससारमे निवास करते हुए इस मोही जीनेने पुद्गलके समागमसे कभी अपने स्वरूपका आस्वादन नहीं किया, और राग द्वेष आदि मिथ्या भावोंमे तत्पर रहा। अत्र साधन होकर निजात्म अभिरुचिरूप सुमति राधिकासे नाता लगाना और परपदार्थोंमे अहंबुद्धिरूप कुमति कुनजासे विरक्त होना उचित है। सुमति राधिका सतरजके खिलाडीके समान पुरुषार्थको प्रधान करती है और कुमति कुनजा चौसरके खिलाडीके समान 'पाँसा परै सो दाव' की नीतिसे तकदीरका अवलम्बन लेती है। इम दृष्टान्तसे स्पष्ट है कि नीतिसे अपने बुद्धिचल और गह्व साधनोंको सग्रह करके उद्योगमे तत्पर होनेकी शिक्षा दी गई है। नसीबकी बात है, कर्म जैसा रस देगा सो होवेगा, तकदीरमे नहीं है। इत्यादि किसमतके रोनेको अज्ञान भाव बतलाया है, क्योंकि तकदीर अधी है और तदवीर म्रझती हुई है।

आत्मा पूर्व कर्मरूप विष-वृक्षोंका कर्त्ता भोगता नहीं है, इस प्रकारका विचार दृढ रखनेसे और शुद्धात्म पदमे मस्त रहनेसे वे

शब्दार्थ—सुबोध=सम्यग्ज्ञान । विषमता=भेद ।

अर्थ—जब हृदयमें सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है, तब रस विरस-का भेद मिट जाता है । एक ही रसमें नय रम दिखाई देते हैं, इससे विरस भाव नष्ट होकर एक शान्त रमहीमें आत्मा विश्राम लेता है ॥ १३६ ॥

दोहा ।

सवरसगर्भित मूल रस, नाटक नाम गरंथ ।
जाके सुनत प्रवांन जिय, समुझै पथ कुपथ ॥१३७

शब्दार्थ—मूल रस=प्रधान रस । कुपंथ=छोटा मार्ग ।

अर्थ—यह नाटक समयसार ग्रन्थ सब रसोंसे गर्भित आत्मा नुभन रूप मूलरममय है, इसके सुनते ही जीन सन्मार्ग और उन्मार्गको समझ जाता है ॥ १३७ ॥

चीपाई ।

वरतै ग्रथ जगत हित काजा ।
प्रगटे अमृतचद्र मुनिराजा ॥
तव तिन्हि ग्रथ जानि अति नीका ।
रची बनाई ससकृत टीका ॥१३८ ॥

अर्थ—यह जगत्हितकारी ग्रन्थ प्राकृत भाषामें था सो अमृतचन्द्रस्वामीने इसे अत्यंत श्रेष्ठ जानकर इसकी सस्कृतटीका बनाई ॥ १३८ ॥

दोहा ।

सर्व विशुद्धी द्वारलों, आए करत वखान ।

तव आचारज भगतिसौ, करै ग्रंथ गुन गान १३९

अर्थ—स्वामी अमृतचंद्रने सर्वविशुद्धिद्वार पर्यंत इस ग्रन्थका संस्कृत भाषामें व्याख्यान किया है और भक्तिपूर्वक गुणानुवाद गाया है ॥ १३९ ॥

दशवे अधिकारका सार ।

जनंतकालसे जन्म मरणरूप ससारमें निवास करते हुए इस रोही जीवने पुद्गलके समागमसे कभी अपने स्वरूपका आस्वादन नहीं किया, और राग द्वेष आदि मिथ्या भावोंमें तत्पर रहा। अब सावधान होकर निजात्म अभिरचिरूप सुमति राधिकासे नाता लगाना और परपदार्थोंमें अहंबुद्धिरूप कुमति कुनजासे विरक्त होना उचित है। सुमति राधिका सतरजके खिलाडीके समान पुरुषार्थको प्रधान करती है और कुमति कुनजा चांसरके खिलाडीके समान 'पाँसा परै सो टाय' की नीतिसे तकदीरका अनलम्बन लेती है। इस दृष्टान्तसे स्पष्ट है कि नीतिसे अपने बुद्धिमत् और बाह्य साधनोंको संग्रह करके उद्योगमें तत्पर होनेकी शिक्षा दी गई है। नसीबकी बात है, कर्म जैसा रस देगा सो होवेगा, तकदीरमें नहीं है। इत्यादि किममतके रोनेको अज्ञान भाव बतलाया है, क्योंकि तकदीर अधी है और तदवीर म्रुलती हुई है।

आत्मा पूर्व कर्मरूप विष-वृक्षोंका कर्चा भोगता नहीं है, इस प्रकारका विचार दृढ़ रखनेसे और शुद्धात्म पदमें मस्त रहनेसे वे

स्याद्वाद द्वार ।

(११)

स्वामीअमृतचद्र मुनिकी प्रतिष्ठा । चौपाई ।

अदभुत ग्रथ अध्यात्म वानी ।

समुझै कोऊ विरला ग्यानी ॥

यामै स्यादवाद अधिकारा ।

ताकौ जो कीजै विसतारा ॥ १ ॥

तो गरथ अति सोभा पावे ।

वह मदिर यहु कलस कहावै ॥

तव चित अमृत वचन गढि खोले ।

अमृतचद्र आचारज बोले ॥ २ ॥

शब्दार्थ—अदभुत=अथाह । विरला=कोई कोई । गढि=रचकर ।

अर्थ—यह अध्यात्म-कथनका गहन ग्रन्थ है, इसे कोई विरला ही मनुष्य समझ सकता है । यदि इसमें स्याद्वाद अधिकार बढ़ाया जाये तो यह ग्रन्थ अत्यन्त सुन्दर हो जावे, अर्थात् यदि कुदकुदस्वामी रचित ग्रन्थकी रचना मदिरवत् है, तो उसपर स्याद्वादका कथन कलशाके समान सुशोभित होगा । ऐसा विचार कर अमृत-वचनोंकी रचना करके स्वामीअमृतचद्र कहते हैं॥१॥२॥

ॐन । दोहा ।

कुंदकुंद नाटक विपै, कह्यो दरव अधिकार ।
 स्यादवाद नै साधि मै, कहौ अवस्था द्वार ॥ ३ ॥
 कहौं मुक्ति-पदकी कथा, कहौं मुक्तिको पंथ ।
 जैसे घृत कारज जहां, तहां कारन दधि मंथ ॥ ४ ॥

अर्थ—स्वामीकुंदकुंदाचार्यने नाटकग्रन्थमे जीव अजीव द्रव्योंका स्वरूप वर्णन किया है, अत्र मैं स्याद्वाद, नय और साध्य साधक अधिकार कहता हूँ ॥ ३ ॥ साध्य स्वरूप मोक्षपद और साधक स्वरूप मोक्षमार्गका कथन करता हूँ, जिस प्रकार कि घृतरूप पदार्थकी प्राप्तिके हेतु दधि-मथन कारण है ॥ ४ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार दधिमथनरूप कारण मिलानेसे घृत पदार्थकी प्राप्तिरूप कार्य सिद्ध होता है, उसी प्रकार मोक्ष-मार्ग ग्रहण करनेसे मोक्षपदार्थकी प्राप्ति होती है । मोक्षमार्ग कारण है और मोक्षपदार्थ कार्य है । कारणके बिना कार्यकी सिद्धि नहीं होती, इससे कारण स्वरूप मोक्षमार्ग और कार्य स्वरूप मोक्ष दोनोंका वर्णन किया जाता है ।

चीपाई ।

अमृतचंद्र बोले मृदुवानी ।
 स्यादवादकी सुनौ कहानी ॥
 कोऊ कहै जीव जग मांही ।
 कोऊ कहै जीव है नांही ॥ ५ ॥

दोहा ।

एकरूप कोऊ कहै, कोऊ अगनित अग ।
छिनभगुर कोऊ कहै, कोऊ कहै अभग ॥ ६ ॥
नै अनत इहविधि कही, मिलै न काहू कोइ ।
जो सब नै साधन करै, स्यादवाद है सोई ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—कहानी=कथन । अगनित अग=अनेक रूप । छिन भगुर=अनित्य । अभग=नित्य ।

अर्थ—स्वामीअमृतचन्द्रने मृदु वचनोमें कहा, कि स्याद्वादका कथन सुनो, कोई कहता है कि ससारमें जीव है, कोई कहता है कि जीव नहीं है ॥ ५ ॥ कोई जीवको एकरूप और कोई अनेकरूप कहता है, कोई जीवको अनित्य और कोई नित्य कहता है ॥ ६ ॥ इस प्रकार अनेक नय हैं कोई किसीसे नहीं मिलते, परस्पर विरुद्ध हैं, और जो सब नयोंको साधता है वह स्याद्वाद है ॥ ७ ॥

विशेष—कोई जीव पदार्थको अस्ति स्वरूप और कोई जीव पदार्थको नास्ति स्वरूप कहते हैं । अद्वैतवादी जीवको एक ब्रह्मरूप कहते हैं, नैयायिक जीवको अनेकरूप कहते हैं, बौद्धमतवाले जीवको अनित्य कहते हैं, सारयमतवाले शास्त्र अर्थात् नित्य कहते हैं । और यह सब परस्पर विरुद्ध हैं, कोई किसीसे नहीं मिलते, पर स्याद्वादी सब नयोंको अविरुद्ध साधता है ।

स्याद्वाद संसार सागरसे तारनेवाला है । दोहा ।

स्याद्वाद अधिकार अब, कहो जैनकौ मूल ।
जाके जानत जगत जन, लहैं जगत-जल-कूल ॥८॥

शब्दार्थ—मूल=मुरय । जगत जन=संसारके मनुष्य । कूल=

किनारा ।

अर्थ—जैनमतका मूल सिद्धान्त 'स्याद्वाद अधिकार' कहता है, जिसका ज्ञान होनेसे जगतके मनुष्य संसार-सागरसे पार होते हैं ॥ ८ ॥

नय समूहपर शिष्यकी शका ओर गुरुका समाधान ।

सर्वथा इकतीसा ।

शिष्य कहै स्वामी जीव स्वाधीन कि पराधीन,
जीव एक है किधो अनेक मानि लीजिए ।
जीव है सदीव किधो नांही है जगत मांही,
जीव अविनश्वर कि नश्वर कहीजिए ॥
सतगुरु कहै जीव है सदीव निजाधीन,
एक अविनश्वर दरव-द्रिष्टि दीजिए ।

अत्र स्याद्वादशुद्धार्थं वस्तुतस्त्वयवस्थिति ।

उपायोपेयमात्रस्य मनाग्भूयोऽपि चिन्त्यते ॥ १ ॥

वाशार्थं परिपीतमुज्झितनिजप्रयक्तिरिक्तीभव-
द्विश्रान्त पररूप एव परितो ज्ञान पशो सीदति ।

यत्तत्तदिह स्वरूपत इति स्याद्वादिनस्तत्पुन-

द्वैरोन्मग्नघनस्वभावभरत पूर्ण समुन्मज्जति ॥ २ ॥

जीव पराधीन छिनभगुर अनेक रूप,
नाही जहां तहा परजै प्रवांन कीजिए ॥ ९ ॥

शब्दार्थ—अपिनश्चर=नित्य । नश्चर=अनित्य । निजाधीन=अपने
आधीन । पराधीन=दूसरेके आधीन । नाहीं=नष्ट होनेवाला ।

अर्थ—शिष्य पूछता है कि हे स्वामी ! जगतमें जीव स्वाधीन
है कि पराधीन ? जीव एक है अथवा अनेक ? जीव सदाकाल है ?
अथवा कभी जगतमें नहीं रहता है ? जीव अविनाशी है अथवा
नाशवान् है ? श्रीगुरु कहते हैं कि द्रव्यदृष्टिसे देखो तो जीव
सदाकाल है, स्वाधीन है, एक है, और अविनाशी है । पर्याय-
दृष्टिसे पराधीन, क्षणभगुर, अनेकरूप और नाशवान् है, सो जहाँ
जिस अपेक्षासे कहा गया है उसे प्रमाण करना चाहिये ।

विशेष—जब जीवकी कर्म रहित शुद्ध अवस्थापर दृष्टि
डाली जाती है तब वह स्वाधीन है, जब उसकी कर्माधीन दशा-
पर ध्यान दिया जाता है, तब वह पराधीन है । लक्षणकी दृष्टि-
से सब जीवद्रव्य एक है, संख्याकी दृष्टिसे अनेक है । जीव था,
जीव है, जीव रहेगा, इस दृष्टिसे जीव सदाकाल है, जीव गतिसे
गत्यान्तरमें जाता है, इसलिये एक गतिमें सदाकाल नहीं है ।
जीव पदार्थ कभी नष्ट नहीं हो जाता, इसलिये वह अविनाशी है,
क्षण क्षणमें परिगमन करता है इसलिये वह अनित्य है ॥ ९ ॥

पदार्थ स्वचतुष्टयकी अपेक्षा अस्तिरूप और परचतुष्टयकी अपेक्षा
नास्तिरूप है । सबैया इकतीसा ।

दर्व सेत काल भाव च्यारौ भेद वस्तुहीमें,
अपने चतुष्क वस्तु अस्तिरूप मानियै ।

१ यहाँ 'नाही' से 'नाशवान्'का अभिप्राय है ।

परके चतुष्क वस्तु नासति नियत अंग,
 ताकौ भेद दर्व-परजाइ मध्य जानियै ॥
 दरव तौ वस्तु खेत सत्ताभूमि काल चाल,
 स्वभाव सहज मूल सकति बखानियै ।
 याही भांति पर विकल्प बुद्धि कल्पना,
 विवहारट्टिष्टि अंस भेद परवानियै ॥ १० ॥

शब्दार्थ—चतुष्क=चार-द्रव्य क्षेत्र काल भाग । अस्ति=है ।
 नासति=नहीं है । नियत=निश्चय । परजाइ=अवस्था । सत्ताभूमि=क्षेत्रा-
 वगाह ।

अर्थ—द्रव्य क्षेत्र काल भाग ये चारो वस्तुहीमे हैं, इसलिये
 अपने चतुष्क अर्थात् स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभागीकी
 अपेक्षासे वस्तु अस्ति स्वरूप है, और परचतुष्क अर्थात् परद्रव्य,
 परक्षेत्र, परकाल और परभागीकी अपेक्षा वस्तु नास्तिरूप है ।
 इस प्रकार निश्चयसे द्रव्य अस्ति नास्तिरूप है । उनका भेद
 द्रव्य और पर्यायमे जाना जाता है । वस्तुको द्रव्य, सत्ताभूमिको
 क्षेत्र, वस्तुके परिणामनको काल और वस्तुके मूल स्वभागीको भाग
 कहते हैं । इस प्रकार बुद्धिसे स्वचतुष्टय और परचतुष्टयकी
 कल्पना करना सो व्यवहार नयका भेद है ।

विशेष—गुण पर्यायोंके समूहको वस्तु कहते हैं, इसीका
 नाम द्रव्य है । पदार्थ आकाशके जिन प्रदेशोंको रोककर रहता
 है, अथवा जिन प्रदेशोंमे पदार्थ रहता है, उस सत्ताभूमिको क्षेत्र

कहते हैं । पदार्थके परिणमन अर्थात् पर्यायसे पर्यायान्तररूप होनेको काल कहते हैं । और पदार्थके निजस्वभावाको भाव कहते हैं । यही द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव पदार्थका चतुष्क अथवा चतुष्टय कहलाता है, यह पदार्थका चतुष्टय सदा पदार्थहीमे रहता है, उससे पृथक नहीं होता । जैसे—घटमे स्पर्श रस वा रक्ष कठोर रक्त आदि गुण पर्यायोंका समुदाय द्रव्य है, जिन आकाशके प्रदेशोंमें घट स्थित है वा घटके प्रदेश उसका क्षेत्र है, घटके गुण पर्यायोंका परिवर्तन उसका काल है, घटकी जल धारणा शक्ति उमका भाव है । इसी प्रकार पट भी एक पदार्थ है, घटके समान पटमे भी द्रव्य क्षेत्र काल भाव है । घटका द्रव्य क्षेत्र काल भाव घटमे है, पटमे नहीं, इसलिये घट अपने द्रव्य क्षेत्र काल भावसे अस्तिरूप है और पटके द्रव्य क्षेत्र काल भावसे नास्तिरूप है । इसी प्रकार पटका द्रव्य क्षेत्र काल भाव पटमे है, इसलिये पट अपने द्रव्य क्षेत्र काल भावसे अस्तिरूप है, पटका द्रव्य क्षेत्र काल भाव घटमे नहीं है, इसलिये पट, घटके द्रव्य क्षेत्र काल भावसे नास्तिरूप है ॥ १० ॥

स्याद्वादके सप्त भग । दोहा ।

है नांही नांही सु है, है है नांही नांही ।

यह सरवगी नय धनी, सब मानै सबमांही ॥११॥

शब्दार्थ—है=अस्ति । नांही=नास्ति । है नाही=अस्ति नास्ति नांही सु है=अप्रकृत्य ।

अर्थ—अस्ति, नास्ति, अस्ति नास्ति, अप्रकृत्य, अस्ति अप्रकृत्य, नास्ति अप्रकृत्य और अस्ति नास्ति अप्रकृत्य । ऐसे सात

भग होते हैं, सो इन्हे सर्वांग नयका स्वामी स्याद्वाद सर्व वस्तुमे मानता है ।

विशेष—स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाज इस अपने चतुष्टयकी अपेक्षा तो द्रव्य अस्ति स्वरूप है अर्थात् आपसा है । परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाज, इस परचतुष्टयकी अपेक्षा द्रव्य नास्ति स्वरूप है, अर्थात् पर सदृश नहीं है । उपर्युक्त स्वचतुष्टय परचतुष्टयकी अपेक्षा द्रव्य क्रमसे तीन कालमे अपने भावोकर अस्ति नास्ति स्वरूप है अर्थात् आपसा ह—परसदृश नहीं है । और स्वचतुष्टयकी अपेक्षा द्रव्य एकही काल वचन गोचर नहीं है, इस कारण अयक्तव्य है अर्थात् कहनेमे नहीं आता । और वही स्वचतुष्टयकी अपेक्षा और एकही काल स्व पर चतुष्टयकी अपेक्षासे द्रव्य अस्ति स्वरूप है तथापि अयक्तव्य है । और वही द्रव्य परचतुष्टयकी अपेक्षा और एक ही काल स्व पर चतुष्टयकी अपेक्षा नास्ति स्वरूप है, तथापि कहा जाता नहीं । और वही द्रव्य स्वचतुष्टयकी अपेक्षा और परचतुष्टयकी अपेक्षा और एकही चार स्वपरचतुष्टयकी अपेक्षा अस्ति नास्ति स्वरूप है, तथापि अयक्तव्य है । जैसे कि—एक ही पुरुष पुत्रकी अपेक्षा पिता कहलाता है, और वही पुरुष अपने पिताकी अपेक्षा पुत्र कहलाता है, और वही पुरुष मामाकी अपेक्षा भानजा कहलाता है, और भानजेकी अपेक्षा मामा कहलाता है, स्त्रीकी अपेक्षा पति कहलाता है, नदिनकी अपेक्षा भाई भी कहलाता है, तथा वही पुरुष अपने नैरीकी अपेक्षा शत्रु कहलाता है, और इष्टकी अपेक्षा मित्र भी कहलाता है । इत्यादि अनेक नातोंसे एक ही पुरुष कथचित् अनेक प्रकार

कहा जाता है, उसी प्रकार एक द्रव्य सप्त भगके द्वारा साधा जाता है । इन सप्त भगोंका विशेष स्वरूप सप्तभगीतरगिणी आदि अन्यान्य जैनशास्त्रोंसे समझना चाहिये ॥ ११ ॥

एकातवादियोंके चौदह नय भेद । सवेया इक्तीसा ।

ग्यानको कारन ज्ञेय आतमा त्रिलोकमय,
 ज्ञेयसौ अनेक ग्यान मेल ज्ञेय छाही है ।
 जौलौ ज्ञेय तौलौ ग्यान सर्व दर्बमें विग्यान,
 ज्ञेय क्षेत्र मान ग्यान जीव वस्तु नाही है ॥
 देह नसै जीव नसै देह उपजत लसै,
 आतमा अचेतना है सत्ता अस मांही है ।
 जीव छिनभगुर अग्यायक सहजरूपी ग्यान,
 ऐसी ऐसी एकान्त अवस्था मूढ पाही है ॥१२

अर्थ—(१) ज्ञेय, (२) त्रैलोक्यमय, (३) अनेकज्ञान, (४) ज्ञेयका प्रतिबिम्ब, (५) ज्ञेय काल, (६) द्रव्यमय ज्ञान, (७) क्षेत्रयुक्त ज्ञान, (८) जीव नास्ति, (९) जीव विनाश, (१०) जीव उत्पाद, (११) आत्मा अचेतन, (१२) सत्ता अज्ञ (१३) क्षण भगुर और (१४) अज्ञायक । ऐसे चौदह नय है । सो जो कोई एक नयको ग्रहण करे और शेषको छोड़े, वह एकान्ती मिथ्यादृष्टी है ।

(१) ज्ञेय—एक पक्ष यह है कि ज्ञानके लिये ज्ञेय कारण है । -

१ 'सुरूपी ज्ञान' ऐसा भी पाठ है ।

(२) त्रैलोक्य प्रमाण—एक पक्ष यह है कि आत्मा तीन लोकके बराबर है ।

(३) अनेक ज्ञान—एक पक्ष यह है कि ज्ञेयमे अनेकता होनेसे ज्ञेय भी अनेक है ।

(४) ज्ञेयका प्रतिबिम्ब—एक पक्ष यह है कि ज्ञानमे ज्ञेय प्रतिबिम्बित होते हैं ।

(५) ज्ञेय काल—एक पक्ष यह है कि जम तक ज्ञेय है तम तक ज्ञान है, ज्ञेयका नाश होनेसे ज्ञानका भी नाश है ।

(६) द्रव्यमय ज्ञान—एक पक्ष यह है कि सम द्रव्य ब्रह्मसे अभिन्न है, इससे सम पदार्थ ज्ञानरूप हैं ।

(७) क्षेत्रयुत ज्ञान—एक पक्ष यह है कि ज्ञेयके क्षेत्रके बराबर ज्ञान है इससे बाहर नहीं है ।

(८) जीवनास्ति—एक पक्ष यह कि जीव पदार्थका अस्तित्व ही नहीं है ।

(९) जीव विनाश—एक पक्ष यह है कि देहका नाश होते ही जीवका नाश हो जाता है ।

(१०) जीव उत्पाद—एक पक्ष यह है कि शरीरकी उत्पत्ति होनेपर जीवकी उत्पत्ति होती है ।

(११) आत्मा अचेतन—एक पक्ष यह है कि आत्मा अचेतन है, क्योंकि ज्ञान अचेतन है ।

(१२) सत्ता अंश—एक पक्ष यह है कि आत्मा सत्ताका अंश है ।

(१३) क्षण भगुर—एक पक्ष यह है कि जीवका सद परिणामन होता है, इससे क्षणभगुर है ।

(१४) अज्ञायक—एक पक्ष यह है कि ज्ञानमे जाननेक शक्ति नहीं है, इससे अज्ञायक ह ॥ १२ ॥

प्रथम पक्षका स्फुरीकरण और खडन । सर्वथा इकतीसा ।

कोऊ मूढ कहै जैसे प्रथम सवारी भीति,
 पाछें ताकै ऊपर सुचित्र आछयौ लेखिए ।
 तैसे मूल कारन प्रगट घट पट जैसौ,
 तैमौ तहां ग्यानरूप कारज विसेखिए ॥
 ग्यानी कहै जैसी वस्तु तैसौही सुभाव ताकौ,
 ताते ग्यान ज्ञेय भिन्न भिन्न पद पेखिए ।
 कारन कारज दोऊ एकहीमें निहचै पै,
 तेरो मत साचौ विवहारदृष्टि देखिए ॥१३॥

ज्ञानका कारण ज्ञेय है । इमपर स्याद्वादी ज्ञानी सरोधन करते हैं कि जो जैसा पदार्थ होता है, वैसा ही उमका स्वभाव होता है, इससे ज्ञान और ज्ञेय भिन्न भिन्न पदार्थ है । निश्चय नयमे कारण और कार्य दोनो एरु ही पदार्थमें है, इससे तेरा जो मन्तव्य है वह व्यग्रहार नयसे सत्य है ॥ १३ ॥

द्वितीय पक्षका स्पष्टीकरण ओर पडन । सर्वैया द्रुक्तीसा ।

कोऊ मिथ्यामती लोकालोक व्यापी ग्यान मानि,
समुझै त्रिलोक पिड आतम दरब है ।
याहीते सुछंद भयौ डोलै मुखहू न वोलै,
कहै या जगतमें हमारौई परब है ॥
तासौ ग्याता कहै जीव जगतसों भिन्न पै,
जगतकौ विकासी तौही याहीते गरब है ।
जो वस्तु सो वस्तु पररूपसौ निराली सदा,
निहचे प्रमान स्यादवादमें सरब है ॥ १४ ॥

शब्दार्थ—लोक=जहाँ छह द्रव्य पाये जाँय । अलोक=लोकसे
बाहरका क्षेत्र । सुछंद=स्वतंत्र । गरब=अभिमान ।

विश्व ज्ञानमिति प्रतर्क्ये सकल दृष्ट्वा स्वतत्त्वाशया
भूत्वा विश्वमय पशु पशुरिव स्वच्छन्दमाचेष्टते ।
यत्तत्तत्पररूपतो न तद्रिति स्याद्वाददर्शा पुन-
र्विश्वान्निघ्नमविश्वविश्वघटित तस्य स्वतत्त्वं स्पृशेत् ॥ ३ ॥

(१३) क्षण भंगुर—एक पक्ष यह है कि जीवका सत्परिणामन होता है, इससे क्षणभंगुर है ।

(१४) अज्ञायक—एक पक्ष यह है कि ज्ञानमे जानने शक्ति नहीं ह, इससे अज्ञायक है ॥ १२ ॥

प्रथम पक्षमा स्पष्टीकरण और घडन । सबैया इकतीसा ।

कोऊ मूढ कहै जैसे प्रथम सवारी भीति,
पाछे ताकै ऊपर सुचित्र आछथौ लेखिए
तैसे मूल कारन प्रगट घट पट जैसो,
तैसौ तहा ग्यानरूप कारज विसेखिए ॥
ग्यानी कहै जैसी वस्तु तैसौही सुभाव ताकौ,
तातै ग्यान ज्ञेय भिन्न भिन्न पद पेखिए ।
कारन कारज दोऊ एकहीमे निहचै पे,
तेरो मत साचौ विवहारदृष्टि देखिए ॥१३॥

शब्दार्थ—भीति=दीवाल । आछथौ=उत्तम । मूलकारक=मुकारण । कारज=कार्य । निहचै=निश्चय नयसे ।

अर्थ—कोई अज्ञानी (मीमांसक आदि) कहते हैं : पहले दीवाल साफ करके पीछे उसपर चित्रकारी करनेसे चि अच्छा आता है, और यदि दीवाल खराब हो तो चित्र भी खरा उघडता है, उसी प्रकार ज्ञानके मूल कारण घट पट आदि जैसे होते हैं, वसा ही ज्ञानरूप कार्य होता है, इससे स्पष्ट है

शब्दार्थ—पसु=मूर्ख । विसतरधौ=कैला । लरघो=झगड़ता है ।
भजिनेकौ=नष्ट करनेके लिये ।

अर्थ—अनंत ज्ञेयके आकाररूप परिणामन करनेसे ज्ञानमें अनेक विचित्रताएँ दिखती हैं, उन्हें विचारकर कोई कोई पशुवत् अज्ञानी कहते हैं कि ज्ञान अनेक है, और इसका एकान्त पक्ष ग्रहण करके लोगोसे झगड़ते हैं । उनका अज्ञान हटानेके लिये स्याद्वादी ज्ञानी कहते हैं कि ज्ञान अगम्य, गंभीर, और निराग्राध रससे परिपूर्ण है । उसका ज्ञायक स्वभाब है, सो वह यद्यपि पर्याय-दृष्टिसे अनेक है, तौ भी द्रव्यदृष्टिसे एक ही है ॥ १५ ॥

चतुर्थ पक्षका स्पर्ष्टीकरण और लडन । सवेया इकतीसा ।

कोऊ कुधी कहै ग्यान मांहि ज्ञेयकौ अकार,

प्रतिभासि रह्यौ है कलक ताहि धोइये ।

जव ध्यान जलसौ पखारिकै धवल कीजै,

तव निराकार सुद्ध ग्यानमय होइये ॥

तासौ स्याद्वादी कहै ग्यानकौ सुभाउ यहै,

ज्ञेयकौ अकार वस्तु मांहि कहां खोइये ।

जैसे नानारूप प्रतिधिवकी झलक दीखै,

जद्यपि तथापि आरसी विमल जोड्यै ॥१६॥

ज्ञेयाकारफलङ्गेमेचकचिति प्रक्षालन कल्पय

ज्ञेयाकारचिकीर्षया स्फुटमपि ज्ञान पशुनेच्छति ।

धैचिद्र्येऽप्यविचित्रतामुपगत ज्ञान स्वतः क्षालित

पर्यायैस्तदनेकता परिमृशन् पश्यत्यनेकान्तवित् ॥ ५ ॥

अर्थ—कोई अज्ञानी (नैयायिक आदि) ज्ञानको लोकालोक व्यापी जानकर आत्म-पदार्थको त्रैलोक्य प्रमाण समझ बैठे हैं, इसलिये अपनेको सर्वव्यापी समझकर स्वतंत्र वर्तते हैं, और अभिमानमे मस्त होकर दूसरोको मूर्ख समझते हैं, किसीसे बात भी नहीं करते, और कहते हैं कि ससारमे हमारा ही सिद्धान्त सच्चा है । उनसे स्याद्वादी ज्ञानी कहते हैं कि जीव जगतसे जुदा है, परन्तु उसका ज्ञान त्रैलोक्यमे प्रसारित होता है इससे तुझे ईश्वर-पनेका अभिमान है, परन्तु पदार्थ अपने सिन्धाय अन्य पदार्थोंसे सदा निराला रहता है, सो निश्चय नयसे स्याद्वादमे मग्न गर्भित है ॥१४॥

तृतीय पक्षका स्पष्टीकरण और खडन । सवेया इक्तीसा ।

कोऊ पशु ग्यानकी अनत विचित्राई देखै,

ज्ञेयकै अकार नानारूप विस्तरयौ है ।

ताहीको विचारि कहै ग्यानकी अनेक सत्ता,

गहिकै एकत पच्छ लोकनिसौ लरयौ है ॥

ताकौ भ्रम भजिवेकौ ग्यानवत कहै ग्यान,

अगम अगाध निरावाध रस भरयौ है ।

ज्ञायक सुभाइ परजायसौ अनेक भयौ,

जद्यपि तथापि एकतासौ नहि टरयौ है ॥१५॥

याह्यार्थग्रहणस्वभावमरतो विष्णुविचित्रोहसद्
क्षेयाकारविशीर्णशक्तिरमितस्सुख्यन् पशुर्नश्यति ।

एकद्रव्यतया सदान्युदितया भेदमम ध्वसयन्

नेक ज्ञानमसाधितानुभवन पश्यत्यनेकान्तवित् ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—पसु=मूर्ख । विसतरघौ=कैला । लरघौ=झगड़ता है ।
गजिरेकौ=नष्ट करनेके लिये ।

अर्थ—अनत ज्ञेयके आकाररूप परिणामन करनेसे ज्ञानमे
प्रनेक विचित्रताएँ दिखती है, उन्हें विचारकर कोई कोई पशुवत्
प्रज्ञानी कहते हैं कि ज्ञान अनेक है, और इमका एकान्त पक्ष
रहण करके लोगोसे झगड़ते हैं । उनका अज्ञान हटानेके लिये
स्याद्वादी ज्ञानी कहते हैं कि ज्ञान अगम्य, गंभीर, और निराग्राध
रूपसे परिपूर्ण है । उसका ज्ञायक स्वभाव है, सो वह यद्यपि पर्याय-
दृष्टिसे अनेक है, ताँ भी द्रव्यदृष्टिसे एक ही है ॥ १५ ॥

चतुर्थ पक्षका स्पष्टीकरण और पडन । सर्वैया इकतीसा ।

कोऊ कुधी कहै ग्यान मांहि ज्ञेयकौ अकार,

प्रतिभासि रह्यो हे कलंक ताहि धोइयै ।

जव ध्यान जलसौ पखारिकै धवल कीजै,

तव निराकार सुद्ध ग्यानमय होइयै ॥

तासौ स्याद्वादी कहै ग्यानकौ सुभाउ यहै,

ज्ञेयकौ अकार वस्तु मांहि कहा खोइयै ।

जैसे नानारूप प्रतिविवकी झलक दीखै,

जद्यपि तथापि आरसी विमल जोइयै ॥१६॥

ज्ञेयाकारकलङ्कमेवकचिति प्रक्षालन कल्पय

श्लेषाकारचिकीर्षया स्फुटमपि ज्ञान पशुर्नच्छति ।

द्वैचिज्येऽप्यविचित्रतामुपगत ज्ञान स्वत क्षालित

पर्यायैस्तदनेकता परिमृशन् पश्यत्यनेकान्तावित् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—कुधा=मूर्ख । प्रतिभासि=झलकना । कलंक=दोष ।
पखारिकै=धाकरके । धमल=उज्ज्वल । आरसी=दर्पण । जोइयै=देखिये ।

अर्थ—कोर्ट अज्ञानी कहते हैं कि ज्ञानमें ज्ञेयका आकार झलकता है, यह ज्ञानका दोष है, जब ध्यानरूप जलसे ज्ञानका यह दोष धोकर साफ किया जावे तब शुद्ध ज्ञान निराकार होता है । उससे स्यादादी ज्ञानी कहते हैं कि ज्ञानका ऐसाही स्वभाव है, ज्ञेयका आकार जो ज्ञानमें झलकता है, वह कहाँ भगा दिया जावे ? जिस प्रकार दर्पणमें यद्यपि अनेक पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं, तो भी दर्पण ज्योंका त्यों स्वच्छ ही बना रहता है, उसमें कुछ भी विकार नहीं होता ॥ १६ ॥

पचम पक्षका स्पष्टीकरण और सङ्गन । सत्रैया इक्तीसा ।

कोऊ अज्ञ कहै ज्ञेयाकार ग्यान परिनाम,
जौलौ विद्यमान तौलौ ग्यान परगट है ।
ज्ञेयके विनास होत ग्यानकौ विनास होइ,
ऐसी वाकै हिरदै मिथ्यातकी अलट है ॥
तासौ समकितवत कहै अनुभौ कहानि,
पर्जय प्रवांन गगान नाकार नट है ।

निरविकल्प अविनस्वर दरवरूप,
 ग्यान ज्ञेय वस्तुसों अव्यापक अघट है ॥१७॥

शब्दार्थ—अज्ञ=अज्ञानी । विद्यमान=मौजूद । कहानि=कथा ।
 पर्येय प्रवान=पर्यायोके बराबर । नानाकार=अनेक आकृति । अव्यापक=
 एकमेक नहीं होने वाला । अघट=नहीं घटती अर्थात् नहीं बैठती ।

अर्थ—कोई कोई अज्ञानी कहते हैं कि ज्ञानका परिणामन
 ज्ञेयके आकार होता है, सो जब तक ज्ञेय विद्यमान रहता है, तब
 तक ज्ञान प्रगट रहता है, और ज्ञेयके विनाश होते ही ज्ञान नष्ट
 हो जाता है, इस प्रकार उसके हृदयमे मिथ्यात्वका दुराग्रह है ।
 उससे भेदविज्ञानी अनुभवकी बात कहते हैं कि जिस प्रकार
 एक ही नट अनेक स्वाग बनाता है, उसी प्रकार एक ही ज्ञान
 पर्यायोके अनुसार अनेकरूप धारण करता है । वास्तवमें ज्ञान
 निर्विकल्प और नित्य पदार्थ है, वह ज्ञेयमे प्रवेश नहीं करता,
 इसलिये ज्ञान और ज्ञेयकी एकता नहीं घटती ॥ १७ ॥

छठे पक्षका स्पष्टीकरण और खडन । सवैया इक्तीसा ।

कोऊ मंद कहै धर्म अधर्म आकास काल,
 पुदगल जीव सब मेरो रूप जगमें ।

सर्वद्रव्यमय प्रपद्य पुरुष दुर्वासनावासितः

स्वद्रव्यममत् पशु किल परद्रव्येषु विश्राम्यति ।

स्याद्वादी तु समस्तवस्तुषु परद्रव्यात्मना नास्तित्वा

जानन्निर्मलशुद्धबोधमहिमा स्रद्रव्यमेवाधयेत् ॥ ७ ॥

जानै न मरम निज मानै आपा पर वस्तु,
 बांधै द्विद करम धरम खोवै डगमै ॥
 समफिती जीव सुद्ध अनुभौ अभ्यासै तातैं,
 परकौ ममत्व त्याग करै पग पगमै ।
 अपने सुभावमै मगन रहै आठौं जाम,
 धारावाही पथक कहावै मोख मगमै ॥ १८ ॥

शब्दार्थ—द्विद=पके । धरम=पदार्थका निज स्वभाव । डग=कदम । जाम=पहर । आठौं जाम=हमेशा । पथक=मुसाफिर ।

अर्थ—कोई ब्रह्म अद्वैतवादी मूर्ख कहते हैं कि धर्म अधर्म आकाश काल पुद्गल ओर जीव यह सर्व जगत मेरा ही स्वरूप है, अर्थात् सब द्रव्यमय ब्रह्म है, वे अपना निजस्वरूप नहीं जानते और पर पदार्थोंको निज आत्मा मानते हैं, इससे वे ममय समयपर कर्मोंका दृढ बंध करके अपने स्वरूपको मलिन करते हैं। पर सम्यग्ज्ञानी जीव शुद्ध आत्म अनुभव करते हैं, इससे क्षण क्षणमे पर पदार्थोंसे ममत्व भाव हटाते हैं, वे सदा अपने स्वभावमे लीन रहते हैं, धारा प्रवाही पथिक कहाते

सप्तम पक्षका स्पष्टीकरण और खडन । सत्रेया इकतीसा ।

कोऊ सठ कहै जेतौ ज्ञेयरूप परवांन,
 तेतौ ग्यान तातें कहु अधिक न और है ।
 तिहूँ काल परक्षेत्रव्यापी परनयौ मानै,
 आपा न पिछानै ऐसी मिथ्यादृग दौर है ॥
 जैनमती कहै जीव सत्ता परवांन ग्यान,
 ज्ञेयसौ अव्यापक जगत सिरमौर है ।
 ग्यानकी प्रभामें प्रतिविवित विविध ज्ञेय,
 जदपि तथापि थिति न्यारी न्यारी ठौर है १९

शब्दार्थ—दौर=भटकना । सिरमौर=प्रधान ।

अर्थ—कोई मूर्ख कहते हैं कि जितना छोटा या बड़ा ज्ञेयका स्वरूप होता है, उतना ही ज्ञान होता है, उससे अधिक कम नहीं होता, इस प्रकार वे सदैव ज्ञानको परक्षेत्रव्यापी और ज्ञेयसे तन्मय मानते हैं, इससे कहना चाहिये कि वे आत्माका स्वरूप नहीं समझ सके, सो मिथ्यात्वकी ऐसी ही गति है । उनसे स्याद्वादी जैनी कहते हैं कि ज्ञान आत्म-सत्ताके बरानर है, वह घट पटादि

मिन्नक्षेत्रनिपण्णबोध्यनियतव्यापारनिष्ठ सदा
 सीदत्येव यद्दि पतन्तमभित पश्यन्पुमास पशुः ।
 स्यक्षेत्रास्तितया निरुद्धरभस स्याद्वादवेदी पुन-
 स्तिष्ठत्यात्मनिष्ठातबोध्यनियतव्यापारशक्तिर्भवन् ॥ ८ ॥

ज्ञेयसे तन्मय नहीं होता, ज्ञान जगतका चूडामणि है, उमकी प्रभामे यद्यपि अनेक ज्ञेय प्रतिनिमित्त होने हैं तौ भी दोनोंकी सत्ताभूमि जुदी जुदी है ॥ १९ ॥

शष्टम पक्षका स्पष्टीकरण और खडन । सदैया इक्तीसा ।

कोऊ सुनवादी कहै ज्ञेयके विनास होत,
 ग्यानकौ विनास होइ कहौ कैसे जीजिये ।
 तातै जीवतव्यताकी थिरता निमित्त सब,
 ज्ञेयाकार परिनामनिकौ नास कीजिये ।
 सत्यवादी कहै भैया हृजे नाहि खेद खिन्न,
 ज्ञेयसौ विरचि ग्यान भिन्न मानि लीजिये ।
 ग्यानकी सकति साधि अनुभौ दसा अराधि,
 करमकौ त्यागिकै परम रस पीजिये ॥२०॥

शब्दार्थ—जीजिये=जीना होगा । खेद खिन्न=दुखी । विरचि=विरक्त होकर । अराधि=आराधना करके । सत्यवादी=पदार्थका यथार्थ स्वरूप कथन करनेवाला ।

अर्थ—कोई कोई शून्यवादी अर्थात् नास्तिक कहते हैं, ज्ञेयका नाश होनेसे ज्ञानका नाश होना समझ है, और ज्ञान जीवका

स्वक्षेत्रस्थितये पृथग्निधिपरक्षेत्रस्थितार्थोऽज्ञाना

सुच्छाभूय पशु प्रणश्यति चिदाकारात् सहायैर्वसन् ॥

स्याद्वादी तु घसन् स्वधामनि परक्षेत्रे विदग्नास्तितता

त्यक्तार्थाऽपि न तुच्छतामनुभवत्याकारकर्षा परान् ॥ ९ ॥

स्वरूप है, इसलिये ज्ञानका नाश होनेसे जीवका नाश होना स्पष्ट है, तो फिर ऐसी दशामे क्योंकर जीवन रह सकता है, अतः जीवकी नित्यताके लिये ज्ञानमें ज्ञेयाकार परिणमनका अभाव मानना चाहिये । इसपर सत्यवादी ज्ञानी कहते है कि हे भाई ! तुम व्याकुल मत होओ, ज्ञेयसे उदासीन होकर ज्ञानको उससे पृथक् मानो, तथा ज्ञानकी ज्ञायक शक्ति सिद्ध करके अनुभवका अभ्यास करो और कर्मबन्धनसे मुक्त होकर परमानन्दमय अमृत-रसका पान करो ॥ २० ॥

नवमें पक्षका स्पष्टीकरण और खडन । सर्वैया इक्षतीसा ।

कोऊ क्रूर कहै काया जीव दोऊ एक पिंड,
जब देह नसैगी तवही जीव मरैगौ ।
छायाकौसौ छल कियों मायाकौसौ परपंच,
कायामें समाइ फिरि कायाकौ न धरैगौ ॥
सुधी कहै देहसों अव्यापक सदीव जीव,
समै पाइ परकौ ममत्व परिहरैगौ ।
अपने सुभाई आइ धारना धरामें धाइ,
आपमै मगन हैकै आप सुद्ध करैगौ ॥२१॥

पूर्यालम्बितचोभ्यनाशसमये ज्ञानस्य नाश विदन्
सीदत्येव न किञ्चनापि कलयन्नत्यन्ततुच्छः पशु ।
अस्तित्व निजकालतोऽस्य कलयन् स्याद्वादवेदी पुन
पूर्णस्तिष्ठति याद्यवस्तुषु मुहुर्भूत्वा विनश्यत्स्वपि ॥ २० ॥

शब्दार्थ—मूर=मूर्ख । परपंच=उगाई । मुर्गी=सम्यग्ज्ञानी ।
परिहरैगौ=छोड़ेगा । घरा=घरती ।

अर्थ—कोई कोई मूर्ख चार्मीक कहते हैं कि शरीर और जीव दोनोंका एक पिण्ड है, सो जब शरीर नष्ट होगा, तब जीव भी नष्ट हो जायगा, जिस प्रकार वृक्षके नष्ट होनेसे छाया नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार शरीरके नाश होनेसे जीव भी नाश हो जायगा यह इन्द्रजालियाकी मायाके समान कालुष्य बन रहा है, सो जीवात्मा दीपककी लज्जा (ज्योति)के प्रकाशके समान शरीरके समा जायगा, फिर शरीर धारण नहीं करेगा । इसपर सम्यग्ज्ञान कहते हैं कि जीव पदार्थ शरीरसे सदैव भिन्न है, सो काल लब्धि पाकर परपदार्थसे ममत्व छोड़ेगा, और अपने स्वरूपके प्राप्त होकर निजात्मभूमिमें विश्राम करके उसीमें लीन होकर अपनेको जापही शुद्ध करेगा ॥ २१ ॥

पुन । दोहा ।

ज्यो तन कचुक त्यागसौ, विनसे नांहि भुजग ।
त्यो सरीरके नासते, अलख अखडित अग ॥२२॥

शब्दार्थ—कचुक=कॉचली । भुजंग=सँप । अखडित=अविनाशी ।

अर्थ—जिस प्रकार कॉचलीके छोड़नेसे सर्प नष्ट नहीं हो जाता, उसी प्रकार शरीरका नाश होनेसे जीव पदार्थ नष्ट नहीं होता ॥ २२ ॥

दशवं पक्षका स्पष्टीकरण और खडन । सबैया इकतीसा ।

कोऊ दुरबुद्धी कहै पहले न हुतौ जीव,
 देह उपजत अब उपज्यौ है आइके ।
 जौलौ देह तौलौ देहधारी फिर देह नसै,
 रहैगौ अलख जोति जोतिमै समाइके ॥
 सदबुद्धी कहै जीव अनादिकौ देहधारी,
 जब ग्यानी होइगौ कबहूँ काल पाइके ।
 तवहीसो पर तजि अपनौ सरूप भजि,
 पावैगौ परमपद करम नसाइके ॥ २३ ॥

अर्थ—कोई कोई मूर्ख कहते हैं कि पहले जीव नहीं था, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पाँच तत्त्वमय शरीरके उत्पन्न होनेपर ज्ञान शक्तिरूप जीव उपजता है, जनतक शरीर रहता है, तबतक जीव रहता है, और शरीरके नाश होनेपर जीवात्माकी ज्योतिमे ज्योति समा जाती है। इसपर सम्यग्ज्ञानी कहते हैं कि जीव पदार्थ अनादि कालसे देह धारण किये हुए है, नवीन नहीं उपजता, और न देहके नष्ट होनेसे वह नष्ट होता है, कभी अवसर पाकर जब शुद्ध ज्ञान प्राप्त करेगा, तब परपदार्थोंसे

अर्थात् अम्यनफाल एव कलयन् ज्ञानस्य सत्त्वं वहि-
 शैयात् अमनलालसेन मनसा माम्यन्पशुर्नश्यति ।
 नास्तित्व परकालतोऽस्य कलयन् स्याद्वादवेदी पुन-
 स्तिष्ठत्यात्मनिखातनित्यसहजज्ञानैरुपुञ्जीभयन् ॥ ११ ॥

अहंबुद्धि छोड़कर आत्मस्वरूपको ग्रहण करेगा और अष्ट कर्मोंके विन्वश करके निर्वाणपद पावेगा ॥ २३ ॥

ग्यारहवें पक्षका स्पर्धीकरण और सङ्गन । सवैया इफतीसा ।

कोऊ पक्षपाती जीव कहै ज्ञेयके अकार,
परिनयौ ग्यान ताते चेतना असत है ।
ज्ञेयके नसत चेतनाकौ नास ता कारन,
आत्मा अचेतन त्रिकाल मेरे मत है ॥
पडित कहत ग्यान सहज अखडित है,
ज्ञेयकौ आकार धरै ज्ञेयसों विरत है ।
चेतनाकौ नास होत सत्ताकौ विनास होइ,
याते ग्यान चेतना प्रवान जीव तत है ॥२४॥

शब्दार्थ—पक्षपाती=हठग्राही । असत=सत्ता रहित । सहज=स्वाभाविक । विरत=विरक्त । तत=तत्त्व ।

अर्थ—कोई कोई हठग्राही रहते हैं कि ज्ञेयके आकार ज्ञानका परिणामन होता है, और आकार परिणामन असत् है, इससे चेतनाका अभाव हुआ, ज्ञेयके नाश होनेसे चेतनाका नाश है, इसलिये मेरे सिद्धान्तमें आत्मा सदा अचेतन है । इसपर स्याद्वादी

विधात्त परभावभावकलनादित्य यदिर्घस्तुषु
नश्यत्येव पशु स्वभावमहिमन्येका तनिश्चेतन ।
सर्वस्मान्त्रियतस्त्रभावमभवन् क्षानाद्भिभक्तो भवन्
स्याद्वादी तु न नाशमेति सहजस्पर्धीकृतप्रत्यय ॥ १२ ॥

ज्ञानी कहते हैं कि ज्ञानस्वभावासे ही अविनाशी है वह ज्ञेयाकार परिणामन करता है, पर ज्ञेयसे भिन्न है, यदि ज्ञान चेतनाका नाश मानोगे तो आत्मसत्ताका नाश हो जायगा, इससे जीव तत्त्वको ज्ञान चेतनायुक्त मानना सम्यग्ज्ञान है ॥ २४ ॥

चारहवें पक्षका स्पष्टीकरण और खडन । सवैया इकतीसा ।

कोऊ महामूरख कहत एक पिड मांहि,
जहांलों अचित चित अग लह लहै है ।
जोगरूप भोगरूप नानाकार ज्ञेयरूप,
जेते भेद करमके तेते जीव कहै है ॥
मतिमान कहै एक पिड मांहि एक जीव,
ताहीके अनत भाव अंस फैलि रहै है ।
पुगलसों भिन्न कर्म जोगसों अखिन्न सदा,
उपजै विनसै थिरता सुभाव गहै है ॥ २५ ॥

शब्दार्थ—अचित=अचेतन—जड़ । चित=चेतन । मतिमान=

बुद्धिमान—सम्यग्ज्ञानी ।

अर्थ—कोई कोई मूर्ख कहते हैं कि एक शरीरमें जबतक चेतन अचेतन पदार्थोंके तरंग उठते हैं, तबतक जो जोगरूप

अध्यास्यात्मनि सर्वभावाभवन शुद्धस्वभावच्युत
सर्वघ्राप्यनिवारितो गतमय स्वैर पशु प्रीडति ।
स्याद्वादी तु विशुद्ध एव लसति स्वस्य स्वभाव भरा
दारुढः परभावभावधिरहृदयालोकनिष्कम्पित ॥ १३ ॥

परिणमे वह जोगी जीव और जो भोगरूप परिणमे वह भोगी जीव है, ऐसे ज्ञेयरूप क्रियाके जितने भेद होते हैं जीवके उतने भेद एक देहमें उपजते हैं, इसलिये जात्मसत्ताके अनन्त अंश होते हैं। उनसे सम्यग्ज्ञानी कहते हैं कि एक शरीरमें एकही जीव है, उसके ज्ञान गुणके परिणमनसे अनन्त भायरूप अंश प्रगट होते हैं। यह जीव शरीरसे पृथक् है, कर्म सयोगसे रहित है और मदा उत्पाद व्यय ध्रौव्य गुण सम्पन्न है ॥ २५ ॥

तेरहवें पक्षका स्पष्टीकरण और खडन। सवैया इकतीसा।

कोऊ एक छिनवादी कहै एक पिड माहि,

एक जीव उपजत एक विनसत है।

जाही समै अतर नवीन उत्पति होइ,

ताही समै प्रथम पुरातन वसत है ॥

सरवांगवादी कहै जैसे जल वस्तु एक,

सोई जल विविध तरगनि लसत है।

तैसे एक आत्म दरव गुन परजैसे-

अनेक भयौ पै एक रूप दरसत है ॥ २६ ॥

शब्दार्थ—सरवांगवादी=अनेकान्तवादी। तरगनि=लहरों।

प्रादुर्भायविराममुद्रितवहद्गुणानाशानानात्मना

निर्शानात् क्षणभङ्गसङ्गपतित प्राय पशुर्नेश्यति।

स्याद्वादी तु चिदात्मना परिमृशश्चिद्वस्तु नित्योद्रित

टङ्कोत्कीर्णघनस्वभावमहिमज्ञान भवन् जीवति ॥ १४ ॥

अर्थ—कोई कोई क्षणिकवादी-बौद्ध कहते हैं कि एक शरीरमें एक जीव उपजता और एक नष्ट होता है, जिमें क्षणमें नवीन जीव उत्पन्न होता है उसके पूर्व समयमें प्राचीन जीव था । उनसे स्याद्वादी कहते हैं कि जिमें प्रकार पानी एक पदार्थ है वही अनेक लहरोरूप होता है, उसी प्रकार आत्म द्रव्य अपने गुण पर्यायोसे अनेकरूप होता है, पर निश्चयनयसे एकरूप दिखता है ॥ २६ ॥

चौदहवें पक्षका स्पष्टीकरण और सङ्गन । सदैया इकर्तासा ।

कोऊ बालबुद्धी कहे ग्यायक सकति जौलौ,
 तौलौ ग्यान असुद्ध जगत मव्य जानियै ।
 ज्ञायक सकति काल पाइ मिटि जाइ जब,
 तव अविरोध बोध विमल बखानियै ॥
 परम प्रवीन कहै ऐसी तौ न बनै वात,
 जैसे विन परगास सूरज न मानियै ।
 तैसे विन ग्यायक सकति न कहावै ग्यान,
 यह तौ न परोच्छ परतच्छ परवांनियै ॥२७॥

टङ्गेत्कीर्णविशुद्धयोधविसराकारात्मतत्त्वाशया

धान्त्युच्छलदच्छचित्परिणतेभिन्न पशुः किञ्चन ।

ज्ञान नित्यमनित्यतापरिगमेऽप्यासादयत्युज्वल

स्याद्वादी तदनित्यता परिमृशश्चिद्धस्तु धृत्तिक्रमात् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ—बालमुद्गी=अज्ञानी । परम प्रवीन=सम्यग्ज्ञानी । परागत
(प्रकाश)=उजेल । परतच्छ=साक्षात् ।

अर्थ—कोई कोई अज्ञानी कहते हैं कि जगतक ज्ञानमें ज्ञायक शक्ति है, तबतक वह ज्ञान ससारमें अशुद्ध कहलाता है, भाव यह है कि ज्ञायकशक्ति ज्ञानका दोष है, और जग समय पाकर ज्ञायक शक्ति नष्ट हो जाती है, तब ज्ञान निर्विकल्प और निर्मल हो जाता है । इसपर सम्यग्ज्ञानी कहते हैं कि यह बात अनुभवमें नहीं आती, क्योंकि जिस प्रकार बिना प्रकाशके सूर्य नहीं हो सकता, उसी प्रकार बिना ज्ञायकशक्तिके ज्ञान नहीं हो सकता इसलिये तुम्हारा पक्ष प्रत्यक्ष प्रमाणसे बाधित है ॥२७॥

स्याद्वादकी प्रशंसा । दोहा ।

इहि विधि आत्म ग्यान हित, स्यादवाद परवान ।
जाके वचन विचारसों, मूरख होइ सुजान ॥ २८ ॥
स्यादवाद आत्म दशा, ता कारन बलवान ।
सिबसाधक वाधा रहित, अखै अखंडित आन ॥२९॥

इत्यज्ञानविमूढाना ज्ञानमात्र प्रसादयन् ।

आत्मतत्त्वमनेकान्त स्वयमेवानुभूयते ॥ १६ ॥

एव तत्रव्यवस्थित्या स्य व्यवस्थापयन्स्वयम् ।

अलक्ष्य शासन जैनममनेकातो व्यवस्थित ॥ १७ ॥

इति स्याद्वादोपिकार ।

अर्थ—इस प्रकार आत्मज्ञानके लिये स्याद्वाद ही समर्थ है, इसके वचन सुनने व अध्ययन करनेसे अज्ञानी लोग पंडित हो जाते हैं ॥ २८ ॥ स्याद्वादसे आत्माका स्वरूप पहिचाना जाता है, इसलिये यह ज्ञान महत्त मलयान् है, मोक्षका साधक है, अनुमान प्रमाणकी गाथासे रहित है, अक्षय है, इसको आत्रावादी प्रतिवादी खंडन नहीं कर सकते ॥ २९ ॥

ग्यारहवे अधिकारका सार ।

जैनधर्मके महत्त्वपूर्ण अनेक सिद्धान्तोंमें स्याद्वाद प्रधान है, जैनधर्मको जो कुछ गौरव है, वह स्याद्वादका है । यह स्याद्वाद अन्य धर्मोंकी निर्मूल करनेके लिये सुदर्शन-चक्रके समान है, इस स्याद्वादका रहस्य समझना कठिन नहीं है, पर गूढ अवश्य है, और इतना गूढ है कि इसे स्वामी शंकराचार्य वा स्वामी दयानन्द सरस्वती जैसे अजैन विद्वान् नहीं समझ सके, और स्याद्वादका उलटा खण्डन करके जैनधर्मको बड़ा धक्का दे गये । इतना ही नहीं आधुनिक कई विद्वान् इस धर्मपर नास्तिकपनेका लाञ्छन लगाते हैं ।

पदार्थमें जो अनेक धर्म होते हैं, वे सब एक साथ नहीं कहे जा सकते, क्योंकि शब्दमें इतनी शक्ति नहीं जो कि अनेक धर्मोंको एक साथ कह सके, इसलिये किसी एक धर्मको मुख्य और शेषको गौण करके कथन किया जाता है । 'स्वामिकार्तिकेयानुपेक्षा' में कहा है:—

णाणाधम्मज्जुद पि य एयं धम्म पि वच्चदे अत्यं ।
तस्सेयविवक्खादो णत्थि विवक्खाहु सेसाणं॥२६४॥

अर्थ—इसलिये जिम धर्मका जिमकी अपेक्षा कथन किया गया है वह धर्म, जिम शब्दसे कथन किया गया है वह शब्द, और उसको जाननेवाला ज्ञान ये तीनों नय है ॥ कहा भी है कि —

सो चिय इक्को धम्मो वाचयसदो चि तस्स धमस्स ।
त जाणदि त णाणं ते तिण्णिण विणय विसेसा य ॥

अर्थ—हमारे नित्यके प्रोलचाल भी नय गर्भित हुआ करते हैं, जैसे जत्र कोई भरणोन्मुख होता है, तत्र उसे माहस दते है कि जीव नित्य है, जीव तो मरता नहीं है, शरीररूप वस्त्रका उससे सम्बन्ध है, सो वस्त्रके समान शरीर बदलना पडता है। न तो जीव जन्मता है, न मरता है, और न धन सतान कुटुम्ब आदिसे उमका नाता है, यह जो कुछ कहा गया है वह जीव पदार्थके नित्यधर्मकी ओर दृष्टि देकर कहा गया है। पश्चात् जत्र वह मर जाता है, और उमके सम्बन्धियोंको सम्बोधन करते है तत्र कहते है कि ससार अनित्य है, जो जन्मता है वह मरता ही है, पर्यायोका पलटना जीवका स्वभाव ही है, यह कथन पदार्थके अनित्य धर्मकी ओर दृष्टि रखकर कहा है। कृटकृदस्वामीने पचास्त्रिकायमे इस विषयको खूब स्पष्ट किया है, स्वामीजीने कहा है कि जीवके चेतना उपयोग आदि गुण हैं, नर नारक आदि पर्याये हैं। जत्र कोई जीव मनुष्य पर्यायसे देव पर्यायमे जाता है तत्र मनुष्य पर्यायका

अभाज (व्यय) और देव पर्यायका सद्भाव (उत्पाद) होता है, परन्तु जीव न उपजा है न मरा है, यह उसका ध्रुव धर्म है, वस ! इसीका नाम उत्पाद व्यय ध्रौव्य है ।

सो चेव जादि मरणं जादि ण णट्ठो ण चेव उप्पण्णो ।
उप्पण्णो य विणट्ठो देवो मणुसुत्ति पज्जाओ ॥१८॥

पचास्तिकाय पृ० ३८

अर्थ—वह ही जीव उपजता है, जो कि मरण भावको प्राप्त होता है, स्वभाजसे वह जीव न विनशा है और न निश्चयसे उपजा है, सदा एकरूप है तत्र कौन उपजा और विनशा है ? पर्याय ही उपजा और पर्याय ही विनशी है, जैसे कि देव पर्याय उत्पन्न हुई है, मनुष्य पर्याय नष्ट हुई है यह पर्यायका उत्पादव्यय है । जीवको ध्रौव्य जानना ।

एवं भावमभाव भावाभावं अभावभाव च ।
गुणपज्जयेहि सहिदो ससरमाणो कुणदि जीवो ॥२१॥

पचास्तिकाय पृ० ४५

अर्थ—पर्यायार्थिक नयकी विवक्षासे पचपरार्त्तनरूप ससारमे भ्रमण करता हुआ यह आत्मा देवादिक पर्यायोंको उत्पन्न करता है, मनुष्यादि पर्यायोंको नाश करता है, तथा विद्यमान देवादिक पर्यायोंके नाशका आरम्भ करता है, और जो विद्यमान नहीं है मनुष्यादि पर्याय उनके उत्पादका आरम्भ करता है ।

णाणाधम्मज्जुद पि य एय धम्मं पि वच्-
तस्सेयविवक्खादो णत्थि विवक्खाहुं,

अर्थ—इसलिये जिस धर्मका जिकरी ८
गया है वह धर्म, जिस शब्दसे कथन किया गए
उसको जाननेवाला ज्ञान ये तीनों नय हैं ॥

सो चिय इक्को धम्मो वाचयसद्धो
त जाणदि त णाणं ते तिण्णि णि

अर्थ—हमारे नित्यके ग्रीलचाल भी ८
जैसे जब कोई मरणोन्मुख होता है, तब -
नित्य है, जीव तो मरता नहीं है, शरीर
है, मो वस्त्रके समान शरीर बदलना प
है, न मरता है, और न बन सतान
है, यह जो कुछ कहा गया है वह
ओर दृष्टि देकर कहा गया है ।
और उसके सम्बन्धियोंको मम्मो
ससार अनित्य है, जो जन्मता है
पलटना जीवका स्वभाव ही है, ८
ओर दृष्टि रखकर कहा है ।
इस विषयको खूब स्पष्ट किया
चेतना उपयोग आदि गुण है
कोई जीव मनुष्य पर्यायसे देना

साध्य साधक द्वार ।

(१२)

प्रतिज्ञा । दोहा ।

स्यादवाद अधिकार यह, कह्यौ अल्प विसतार ।
अमृतचंद्र मुनिवर कहै, साधक साध्य दुवार ॥ १ ॥

शब्दार्थ—साध्य=जो सिद्ध करने योग्य है—इष्ट । साधक=जो साध्यको सिद्ध करे ।

अर्थ—यह स्याद्वाद अधिकारका संक्षिप्त वर्णन किया अब श्रीअमृतचन्द्र मुनिराज साध्य साधक द्वारका वर्णन करते हैं ॥१॥

सवैया इकतीसा ।

जोई जीव वस्तु अस्ति प्रमेय अगुरु लघु,
अभोगी अमूरतीक परदेसवंत है ।
उत्पतिरूप नासरूप अविचलरूप,
रतनत्रयादि गुन भेदसौं अनंत है ॥
सोई जीव दरव प्रमान सदा एकरूप,
ऐसौ सुद्ध निहचै सुभाउ निरतंत है ।

इत्याद्यनेकनिजशक्तिसुनिर्मरोऽपि

यो ह्यनमात्रमयता न जहाति भावः ।

एव क्रमाक्रमविधर्तियिधर्तचित्र

तद्ब्रह्मपर्ययमय चिदिहास्ति घस्तु ॥ १ ॥

खूब स्मरण रहे नयका कथन अपेक्षित होता है, और तमी बह सुनय कहलाता है, यदि अपेक्षा रहित कथन किया जावे तो बह नय नहीं कुनय है ।

ते साविक्खा सुणया णिरविक्खा ते वि दुण्णया होंति
सयलववहारसिद्धी सुणयादो होदि णियमेण ॥

अर्थ—ये नय परस्पर अपेक्षा सहित हों तब तो सुनय हैं, और वे ही जब अपेक्षा रहित ग्रहण किये जाँय, तब दुर्नय हैं, सुनयसे सर्व व्यवहारकी सिद्धि होती है ।

अन्य मतानलंरी भी जीव पदार्थके एक ही धर्मपर दृष्टि देकर मस्त हो गये हैं, इसलिये जैनमतमे उन्हें 'मत्तवारे' कहा है । इस अधिकारमें चौदह मतवालोंको सम्बोधन किया है, और उनके माने हुए प्रत्येक धर्मका समर्थन करते हुए स्याद्वादको पुष्ट किया है ।

साध्य साधक द्वार ।

(१२)

प्रतिष्ठा । दोहा ।

स्यादवाद अधिकार यह, कह्यो अल्प विसतार ।
अमृतचंद्र मुनिवर कहै, साधक साध्य दुवार ॥ १ ॥

शब्दार्थ—साध्य=जो सिद्ध करने योग्य है—इष्ट । साधक=जो साध्यको सिद्ध करे ।

अर्थ—यह स्याद्वाद अधिकारका सक्षिप्त वर्णन किया अत्र श्रीअमृतचन्द्र मुनिराज साध्य साधक द्वारका वर्णन करते हैं ॥१॥

सर्वथा शक्तीसा ।

जोई जीव वस्तु अस्ति प्रमेय अगुरु लघु,
अभोगी अमूरतीक परदेसवंत है ।
उत्पतिरूप नासरूप अविचलरूप,
रतनत्रयादि गुन भेदसों अनत है ॥
सोई जीव दरव प्रमान सदा एकरूप,
ऐसो सुद्ध निहचै सुभाउ निरतंत है ।

इत्याद्यनेकनिजशक्तिसुनिर्मतोऽपि

यो ज्ञानमात्रमयता न जहाति भावः ।

एव प्रमात्रमविषर्तिविषर्तचित्र

तद्द्रव्यपर्य्ययमय चिदिहास्ति घस्तु ॥ १ ॥

स्याद्वाद मां हि साध्य पद अधिकार कह्यो,
अत्र आगे कहियेको साधक सिद्धत है ॥२॥

शब्दार्थ—अस्ति=था, है और रहेगा । प्रमेय=प्रमोणमे आने योग्य । अगुरु लघु=न भारी न हलका । उत्तपति=नवीन पर्यायका प्रगट होना । नास=पूर्व पर्यायका अभाव । अविचट=ध्रौव्य ।

अर्थ—यह जीव पदार्थ अस्तित्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, अभोगतृत्व, अमूर्तिकत्व, प्रदेशत्व महित है । उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य वा दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि गुणोसे अनतरूप है । निश्चयनपमे उस जीव पदार्थका स्वाभाविक धर्म सदा सत्य और एकरूप है । उसे स्याद्वाद अधिकारम साध्य स्वरूप कहा, अत्र आगे उसे साधकरूप कहते हैं ॥ २ ॥

जीवकी साध्य साधक अवस्थाओंका वर्णन । दोहा ।

साध्य सुद्ध केवल दशा, अथवा सिद्ध महत ।
साधक अविरत आदि बुध, क्षीन मोह परजत ॥३॥

शब्दार्थ—सुद्ध केवल दशा=तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानवर्ती अरहत । सिद्ध महत=जीवकी अष्टकर्म रहित शुद्ध अवस्था । अविरत बुध=चौथे गुणस्थानवर्ती अन्नसम्पगृष्टी । क्षीनमोह (क्षीणमोह)=बारहवें गुणस्थानवर्ती सर्वथा निर्मोही ।

अर्थ—केवलज्ञानी अरहत वा सिद्ध परमात्मपद साध्य है और अत्रत सम्पगृष्टी अर्थात् चतुर्थ गुणस्थानसे लगाकर क्षीण-

मोह अर्थात् रागद्वेष गुणस्थान पर्यंत नर गुणस्थानोर्मसे किसी भी गुणस्थानका धारक ज्ञानी जीव साधक है ॥ ३ ॥

साधक अस्थायी स्वरूप । सबैया इकतीला ।

जाको अधो अपूरव अनिवृति करनकौ,
भयौ लाभ भई गुरुवचनकी वोहनी ।

जाके अनतानुवधी क्रोध मान माया लोभ,
अनादि मिथ्यात मिश्र समकित मोहनी ॥

सातो परकिति खपीं किवा उपसमी जाके,
जगी उर मांहि समकित कला सोहनी ।

सोई मोख साधक कहायो ताके सरवग,
प्रगटी सकति गुन धानक अरोहनी ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—अध करण=जिस करणमें (परिणाम समूहमें) उपरि-
त्तनसमयवर्ती तथा अधस्तनसमयवर्ती जीवोंके परिणाम सदृश तथा विस-
दृश हो । अपूर्णकरण=जिस करणमें उत्तरोत्तर अपूर्णही अपूर्ण परिणाम
होते जायें, इस करणमें भिन्न समयवर्ती जीवोंके परिणाम सदा विसदृश
ही रहते हैं, और एक समयवर्ती जीवोंके परिणाम सदृश भी और विस-
दृश भी रहते हैं । अनिवृत्तिकरण=जिस करणमें भिन्न समयवर्ती जीवोंके
परिणाम विसदृश ही हों और एक समयवर्ती जीवोंके परिणाम सदृश ही
हों । वोहनी (बाधनी)=उपदेश । खपीं=समूल नष्ट हुई । किवा
=अथवा । सोहनी=सुहावनी । अरोहनी=चढ़नेकी ।

१ २-३ इन्ह विनाप समझनेके लिये गोम्मटसार जीवकांडका अध्ययन करना चाहिये
और मुशीलाउप-यासके पृष्ठ २४७ से २६३ तकके पृष्ठाम इसका वि-से वर्णन है ।

हो ! तुम कहाँसे आये हो और कहाँ चले जाओगे और दौलत ज़हॉकी तहाँ पडी रहेगी । लक्ष्मी न तुम्हारी जातिकी है, न पाँतिकी है, न वश परपराकी है, और तो क्या तुम्हारे एक प्रदेशका भी प्रतिरूप नहीं है । यदि इसे तुमने नाँकरानी बनाकर न रक्षया तो यह तुम्हें लाते मारेगी, सो बडे होकर तुम्हें ऐसा अन्याय करना उचित नहीं है ॥ ७ ॥

पुन । दोषा ।

माया छाया एक है, घटै बढै छिन मांहि ।

इन्हकी सगति जे लगे, तिन्हहि कहू सुख नांहि ॥८॥

अर्थ — लक्ष्मी और छाया एक सारसी हैं, क्षणमे बढ़ती और क्षणमें घटती हैं, जो इनके सगमे लगते हैं अर्थात् नेह लगाते हैं, उन्हें कभी चैन नहीं मिलती ॥ ८ ॥

बुद्धिधर्यो आदिसे मोह हटानेका उपदेश । सर्वथा तेईसा ।

लोकनिसौ कछु नातौ न तेरौ न,

तोसौ कछु इह लोकको नातौ ।

ए तौ रहै रमि स्वारथके रस,

तू परमारथके रस मातौ ॥

ये तनसौ तनमै तनसे जड़ ,

चेतन तू तिनसौ नित हांतौ ।

होहु सुखी अपनौ बल फेरिकै,
तोरिकै राग विरोधको तांतौ ॥ ९ ॥

शब्दार्थ—लोकनिर्साँ=कुटुम्बी आदि जनोंसे । नातौ=सम्बन्ध ।
रहै रामे=छीन हुए । परमारथ=आत्म हित । मातौ=मस्त । तनमै
(तन्मय)=छीन । हातौ=भिन्न । फेरिकै=प्रगट करके । तोरिकै=तोड़कर ।
तांतौ (तत्तु)=यागा ।

अर्थ—हे जीव ! कुटुम्बी जाति जनोंका तुमसे कुछ सम्बन्ध
नहीं है और न तुम्हारा उनसे कुछ इस लोक संबन्धी प्रयोजन है,
ये तो अपने मतलबके वास्ते तुम्हारे शरीरसे मुहज्वत लगाते हैं
और तुम अपने आत्महितमें मस्त हो । ये लोग शरीरमें तन्मय
हो रहे हैं, इसलिये शरीरहीके समान जड बुद्धि है, और तुम
चैतन्य हो, इनसे अलग हो, इसलिये राग द्वेषका यागा तोड़कर
अपना आत्मबल प्रगट करो और सुखी होओ ॥ ९ ॥

इन्द्रादि उच्च पदकी चाह अज्ञानता है । सोरठा ।

जे दुरबुद्धी जीव, ते उतंग पदवी चहैं ।

जे समरसी सदीव, तिनको कछु न चाहिये ॥ १० ॥

अर्थ—जो अज्ञानी जीव इन्द्रादि उच्चपदकी अभिलाषा
करते हैं, परन्तु जो सदा समतागसके रसिया हैं, वे ससार
सम्बन्धी कोई भी वस्तु नहीं चाहते ॥ १० ॥

समताभाज मात्रहीमें सुख है । सऱैया इफतीसा ।

हांसीमें विपाद वसै विद्यामें विवाद वसै,

कायामें मरन गुरु वर्तनमें हीनता ।

सुचिमें गिलानि वसै प्रापतिमें हानि वसै,
जैमें हारि सुंदर दसामें छवि छीनता ॥

रोग वसै भोगमें सजोगमें वियोग वसै,
गुंनमें गरव वसै सेवा मांहि हीनता ।

और जग रीति जेती गर्भित असाता सेती,
साताकी सहेली है अकेली उदासीनता ॥११॥

शब्दार्थ—विपाद=रंज । विनाद=उत्तर प्रत्युत्तर । छवि=कान्ति ।
छीनता=कभी । गरव=धमड । साता=सुख । सहेली=साथ देनेवाली ।

अर्थ—यदि हँसीमें सुख माना जावे तो हँसीमें तकरार (लड़ाई) खड़ी होनेके सम्भावना है, यदि विद्यामें सुख माना जावे तो विद्यामें विवादका निराम है, यदि शरीरमें सुख माना जावे तो जो जन्मता है वह अपश्य मरता है, यदि बडप्पनमें सुख माना जावे तो उसमें नीचपनेका भास है, यदि पवित्रतामें सुख माना जावे तो पवित्रतामें ग्लानिका धाम है, यदि लाभमें सुख माना जावे तो जहाँ नफा है वहाँ नुकसान भी है, यदि जीतमें सुख माना जावे तो जहाँ जय है वहाँ हार भी है, यदि सुन्दरतामें सुख माना जावे तो वह सदा एकमी नहीं रहती—विगडती भी है, यदि भोगोंमें सुख माना जावे तो वे रोगोंके कारण ह, यदि इष्ट सयोगमें सुख माना जावे तो जिसका सयोग होता है, उसका

१ 'प्रीतिमें अप्रीति' ऐसा भी पाठ है ।

२ लौकिक पवित्रता नित्य नहीं है, उसका नष्ट होनेपर मलिनता आजाती है ।

वियोग भी है, यदि गुणोंमें सुख माना जावे तो गुणोंमें धमंडका निवास है, यदि नौकरी चाकरीमें सुख माना जावे तो वह गुलामगीरी ही है । इनके सिवाय और भी जो लौकिक कार्य हैं वे सब असातामय हैं, इमसे स्पष्ट है कि साताका संयोग मिलानेके लिये उदासीनता सखीके समान है, भाव यह है कि समतामात्रभावही जगतमें सुखदायक है ॥ ११ ॥

जिस उन्नतिकी फिर अचनति दे वह उन्नति नहीं है ।

जिहि उत्तंग चढ़ि फिर पतन, नहि उत्तंग वह कूप ।
जिहि सुख अतर भय वसै, सो सुख है दुख रूप ॥१२
जो विलसै सुख संपदा, गये तहां दुख होइ ।
जो धरती बहु तृनवती, जरै अग्निसों सोइ ॥१३॥

शब्दार्थ—उत्तंग=ऊँचा । पतन=गिरना । कूप=कुआ । विलसै=मोगे । तृनवती=घासगाली । जरै=जलती है ।

७ अर्थ—जिस उच्च स्थानपर पहुँचके फिर गिरना पडता है, वह उच्च पद नहीं गहरा कुआ ही है । उसी प्रकार जिस सुखके प्राप्त होनेपर उसके नष्ट होनेका भय है वह सुख नहीं दुखरूप है ॥ १२ ॥ क्योंकि लौकिक सुख सम्पत्तिका विलाम नष्ट होनेपर फिर दुख ही प्राप्त होता है, जिम प्रकार कि सबन घामगाली ही धरती अग्निसे जल जाती है ॥ १३ ॥

श्रीगुरुके उपदेशमें खानी जीव रुचि लगाने हैं और मूर्ख समझते ही नहीं। दोहा।

सबद मांहि सतगुरु कहै, प्रगट रूप निज धर्म।
सुनत विचञ्चन सदहै, मूढ न जाने मर्म ॥ १४ ॥

अर्थ—श्रीगुरु आत्म पदार्थका स्वरूप वर्णन करते हैं, उसे सुनकर बुद्धिमान लोग धारण करते हैं और मूर्ख उसका मर्म ही नहीं समझते ॥ १४ ॥

ऊपरके दोहेका उदात्त द्वारा समर्थन। सवैया श्रुतीसा।

जैसे काहू नगरके वासी छै पुरुष भूले,
तामै एक नर सुष्ट एक दुष्ट उरकौ।
दोउ फिरें पुरके समीप परे ऊटवमै,
काहू और पथिकसो पूछै पथ पुरकौ ॥
सो तौ कहै तुमारौ नगर है तुमारे ढिग,
मारग दिखावै समुझावै खोज पुरकौ।
एतेपर सुष्ट पहचानै पै न मानै दुष्ट,
हिरदै प्रवांन तैसे उपदेस गुरुकौ ॥ १५ ॥

शब्दार्थ—वासी=रहनेवाले। सुष्ट=समझदार। दुष्ट=दुबुद्धि।
ऊट=उल्टा रास्ता।

अर्थ—जिस प्रकार किसी शहरके रहनेवाले दो पुरुष वस्तीके समीप रास्ता भूल गये, उसमें एक सज्जन और दूसरा हृदयका दुर्जन

धा । रास्ता भूलकर ऊबट फिरें और किसी तीसरे रास्तागीरसे अपने नगरका रास्ता पूछें तथा वह रास्तागीर उन्हें रास्ता समझा कर दिखावे और कहे कि यह तुम्हारा नगर तुम्हारे ही निकट है । सो उन दोनो पुरुषोंमें जो सज्जन है वह उसकी बातको सची मानता है अर्थात् अपने नगरको पहिचान लेता है और मूर्ख उसे नहीं मानता, इसी प्रकार ज्ञानी लोग श्रीगुरुके उपदेशको सत्य श्रद्धान करते है, पर अज्ञानियोंकी समझमें नहीं आता । भाव यह है कि उपदेशका असर श्रोताओके परिणामोंके अनुसार ही होता है ॥ १५ ॥

जैसे काहू जंगलमें पावसको समै पाइ,

अपनै सुभाव महामेघ वरपतु हे ।

आमल कपाय कटु तीखन मधुर खार,

तैसौ रस वाढ़ै जहां जैसौ दरखतु है ॥

तैसे ग्यानवत नर ग्यानको बखान करै,

रसको उमाहू है न काहू परखतु है ।

वहै धुनि सुनि कोऊ गहै कोऊ रहै सोइ,

काहूको विखाद होइ कोऊ हरखतु है ॥१६॥

शब्दार्थ—पावस=बरसात । आमल=खट्टा । कपाय=पेंठापला ।

कटु=कड़वा । तीखन (तीक्ष्ण)=चरपरा । मधुर=मीठा । खार (क्षार)

१ चांपाई—सुगुरु सिप्रात्रहिं बारहिं चार। सुक्ष परै तऊ मति अनुसार ॥

खारा । दरखतु (दरखत)=पड़ । उमाहू=उत्साहित । न परखतु है=परीक्षा नहीं करता । धुनि (धुनि)=शब्द । मिखाद (मिपाद)=रज ।

अर्थ—जैसे किसी वनमें बरसातके दिनोंमें अपने आप पानी बरसता है तो सट्टा, कपायला, कडवा, चरपरा, मिष्ट, खारा जिस रसका वृक्ष होता है वह पानी भी उसी रसरूप हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञानी लोग ज्ञानके व्याख्यानमें अपना अनुभव प्रगट करते हैं, पात्र अपात्रकी परीक्षा नहीं करते, उस वाणीको सुनकर कोई तो ग्रहण करते हैं, कोई ऊँघते हैं, कोई विपाद करते हैं और कोई आनदित होते हैं ।

भावार्थ—जिस प्रकार पानी अपने आप बरसता है और वह नीचेके वृक्षपर पडनेसे कडवा, नीचेके वृक्षपर पडनेसे सट्टा, गन्नेके झाड़पर पडनेसे मिष्ट, मिर्चके झाड़पर पडनेसे चरपरा, चनेके झाड़पर पडनेसे खारा और वनूलपर पडनेसे कपायला हो जाता है । उसी प्रकार ज्ञानी लोग ख्याति लाभादिकी अपेक्षा रहित माध्यस्थभासे तत्त्वज्ञा स्वरूप कथन करते हैं, उसे सुनकर कोई श्रोता परमार्थ ग्रहण करते हैं, कोई सत्सारासे भयभीत होकर यम नियम लेते हैं, कोई लड़ बैठते हैं, कोई ऊँघते हैं, कोई कुतर्क करते हैं, कोई निंदा स्तुति करते हैं और कोई व्याख्यानके पूर्ण होनेकी ही वाट देखते रहते हैं ॥ १६ ॥

— दोहा ।

गुरु उपदेश कहा करै, दुराराध्य समार ।

वसे सदा जाके उदर, जीव पच परकार-॥१७॥

। अर्थ—जिसमें पाँच प्रकारके जीव निवास करते हैं वह संसार ही बहुत दुस्तर है, उसके लिये श्रीगुरुका उपदेश क्या करेगा ? ॥ १७ ॥

पाँच प्रकारके जीव । दोहा ।

झूधा प्रभु चूधा चतुर, सूधा रूचक सुद्ध ।

ऊंधा दुरबुद्धी विकल, घूधा घोर अबुद्ध ॥१८॥

शब्दार्थ—रूचक=रुचिवाला । अबुद्ध=अज्ञान ।

अर्थ—झूधा जीव प्रभु है, चूधा चतुर है, सूधा सुद्ध रुचिमत है, ऊंधा दुर्बुद्धि और दुखी है और घूधा महा अज्ञानी है ॥ १८ ॥

झूधा जीवका लक्षण । दोहा ।

जाकी परम दसा विपै, करम कलंक न होइ ।

झूधा अगम अगाधपद, वचन अगोचर सोइ ॥१९॥

अर्थ—जिसका कर्म-कालिमा रहित अगम्य, अगाध और वचन अगोचर उत्कृष्ट पद है वे सिद्ध भगवान इधारा जीव है ॥ १९ ॥

चूधा जीवका लक्षण । दोहा ।

जो उदास है जगतसो, गहै परम रस प्रेम ।

सो चूधा गुरुके वचन, चूधै वालक जेम ॥ २० ॥

शब्दार्थ—उदास=विरक्त । परम रस=आत्म अनुभव । चूधै=चूसे ।

१ यह कथन प० मनारसीदासजीने अपने मनसे किया है किसी प्रथके आधार से नहीं ।

अर्थ—जो समारसे विरक्त होकर आत्म अनुभवका रस सप्रेम ग्रहण करता है और श्रीगुरुके वचन बालकके समान दुग्ध वत् चूसता है वह सूधा जीव है ॥ २० ॥

सूधा जीवके लक्षण । दोहा ।

जो सुवचन रुचिसो सुनै, हियै दुष्टता नांहि ।
परमारथ समुझै नहि, सो सूधा जगमाहि ॥ २१ ॥

शब्दार्थ—रुचिसीं=प्रेमसे । परमारथ=आत्मतत्त्व ।

अर्थ—जो गुरुके वचन प्रेम पूर्वक सुनता है और हृदयमें दुष्टता नहीं है—भद्र है, पर आत्मस्वरूपको नहीं पहिचानता ऐसा मद कपायी जीव सूधा है ॥ २१ ॥

ऊधा जीवका लक्षण । दोहा ।

जाको विकथा हित लगै, आगम अग अनिष्ट ।
सो ऊधा विषयी विकल, दुष्ट रुष्ट पापिष्ट ॥ २२ ॥

शब्दार्थ—विकथा=खोटीवार्ता । अनिष्ट=अप्रिय । दुष्ट=द्वेषी
रुष्ट=क्रोधा । पापिष्ट=अधर्मी ।

अर्थ—जिसे सत् शास्त्रका उपदेश तो अप्रिय और विकथाएँ प्रिय लगती हैं वह विषयाभिलाषी, द्वेषी, क्रोधी और अधर्म जीव ऊधा है ॥ २२ ॥

धूधा जीवका लक्षण । दोहा ।

जाकै वचन श्रवन नहि, नहि मन सुरति विराम ।
जडतासौ जड़वत् भयौ, धूधा ताको नाम ॥ २३ ॥

शब्दार्थ—कृपा=दया । प्रशम (प्रशम)=कृपायोंकी मदता ।
 संवेग=संसारसे भयभीत । दम=इन्द्रियोंका दमन । अस्तिभाव (आस्तिक्य)
 =जिन वचनोंपर श्रद्धा । वैराग्य=संसारसे विरक्त ।

अर्थ—दया, प्रशम, संवेग, इन्द्रिय दमन, आस्तिक्य, वैराग्य
 और सप्त व्यसनका त्याग ये चूका अर्थात् साधक जीनेके चिह्न
 हैं ॥ २६ ॥

सप्त व्यसनके नाम । चौपाई ।

जूवा आमिष मदिरा दारी ।

आखेटक चोरी परनारी ॥

एई मात विसन दुखदाई ।

दुरित मूल दुरगतिके भाई ॥ २७ ॥

शब्दार्थ—आमिष=मांस । मदिरा=शराब । दारी=वेश्या । आखे-
 टक=शिकार । परनारी=पराई स्त्री । दुरित=पाप । मूल=जड़ ।

अर्थ—जूवा खेलना, मांस खाना, शराब पीना, वेद्व्या सेवन,
 शिकार करना, चोरी और परस्त्री सेवन । ये सातों व्यसन दुख
 दायक हैं, पापकी जड़ हैं और दुरगतिमें लेजानेवाले हैं ॥ २७ ॥

व्यसनोंके द्रव्य और भाव भेद । दोहा ।

दरवित ये सातौ विसन, दुराचार दुखधाम ।

भावित अंतर कल्पना, मृषा मोह परिनाम ॥२८॥

अर्थ—ये सातों जो शरीरसे सेवन किये जाते हैं वे दुरा-
 चाररूप द्रव्य व्यसन हैं, और झुठे मोह परिणामकी अतरग

कल्पना सो भाव व्यसन है । द्रव्य और भाव दोनों ही दुःखोंके घर हैं ॥ २८ ॥

सप्त भाव व्यसनोका स्वरूप । सबैया इकतीसा ।

अशुभमै हारि शुभजीति यहै दूत कर्म,
 देहकी मगनताई यहै मांस भखिवौ ।
 मोहकी गहलसौ अजान यहै सुरापान,
 कुमतिकी रीति गनिकाकौ रस चखिवौ ॥
 निरदै है प्रानघात करवौ यहै सिकार,
 परनारी संग परबुद्धिकौ परखिवौ ।
 प्यारसौ पराई सौज गहिवेकी चाह चोरी,
 एई सातौ विसन विडारै ब्रह्म लखिवौ ॥२९॥

शब्दार्थ—दूत (दूत)=जूटा । गहल=मूर्छा । अजान=अचेत ।
 सुरा=शराब । पान=पीना । गनिका=वेश्या । सौज=वस्तु । विडारै=
 विदारण करें ।

अर्थ—अशुभ कर्मके उदयमें हार और शुभ कर्मके उदयमें
 विजय मानना यह भाव जुवा है, शरीरमे लीन होना यह भाव
 मांस भक्षण है, मिथ्यात्वसे मूर्छित होकर स्वरूपको भूलना यह
 भाव मद्यपान है, कुबुद्धिके मार्गपर चलना यह भाव वेश्या सेवन
 है, कठोर परिणाम रखकर प्राणोंका घात करना भाव शिकार है,
 देहादि परवस्तुमे आत्मबुद्धि रखना 'सो भाव परखी' संग है,

अनुराग पूर्वक परपदायोंके ग्रहण करनेकी अमिलापा करना सो भाव चोरी है। ये ही मातो भाव व्यसन आत्मनानको विदारण करते है जर्थात् आत्मनान नहीं होने देते है ॥ २९ ॥

साधक जीवका पुरुषाथ । दादा ।

विमन भाव जाँमे नहीं, पौरुप अगम अपार ।

किये प्रगट घट सिधुमें, चौदह रतन उदार ॥ ३० ॥

शब्दार्थ—सिधु=समुद्र । उदार=महान ।

अर्थ—जिमके चित्तमे भाव व्यसनोंका लेश भी नहीं रहता है वह अतुल्य और अपरम्पार पुरुषार्थका धारक हृदयरूप समुद्रमे चौदह महारत्न प्रगट करता है ॥ ३० ॥

चौदह भाव रतन । सबैया एकतीसा ।

लक्ष्मी सुबुद्धि अनुभूति कउस्तुभ मनि,

वैराग कलपवृच्छ सरस सुवचन है ।

ऐरावत उद्दिम प्रतीति रभा उदे विष,

कामधेनु निर्जरा सुधा प्रमोद घन है ॥

ध्यान चाप प्रेमरीति मदिरा विवेक वैद्य,

सुद्धभाव चन्द्रमा तुरगरूप मन है ।

चौदह रतन ये प्रगट होंहि जहा तहां,

ग्यानके उदोत घट सिधुकौ मथन है ॥३१॥

शब्दार्थ—सुधा=अमृत । प्रमोद=आनंद । चाप=धनुष । तुरंग=श्रीरथ ।

अर्थ—जहाँ ज्ञानके प्रकाशमें चित्तरूप समुद्रका मन्थन किया जाता है वहाँ सुप्तद्विरूप लक्ष्मी, अनुभूतिरूप कौस्तुभ-मणि, वैराग्यरूप कल्पवृक्ष, सत्यमचनरूप शर, ऐराजत हाथीरूप उद्यम, श्रद्धारूप रमा, उदयरूप विप, निर्जरारूप कामधेनु, आनन्दरूप अमृत, ध्यानरूप धनुष, प्रेमरूप मदिरा, विवेकरूप वैद्य शुद्धभावरूप चन्द्रमा और मनरूप घोड़ा ऐसे चौदह रत्न प्रगट होते हैं ॥ ३१ ॥

चौदह रत्नोंमें कौन हेय और कौन उपादेय है । दोहा ।

किये अपस्थामें प्रगट, चौदह रत्न रसाल ।
 कुछ त्यागै कुछ संग्रहै, विधिनिषेधकी चाल ॥ ३२ ॥
 रमा सख विप धनु सुरा, वैद्य धेनु हय हेय ।
 मनि रंभा गज कलपतरु, सुधा सोम आदेय ॥ ३३ ॥
 इह विधि जो परभाव विप, वमै रमै निजरूप ।
 सो साधक सिवपथकौ, चिद वेदक चिद्रूप ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ—सप्रहै=प्रहण करे । विपि=प्रहण करना । निषेध=रोकना । रमा=लक्ष्मी । धनु=धनुष । सुरा=शराव । धेनु=गाय । हय=घोड़ा । रभा=अप्सरा । सोम=चन्द्रमा । आदेय=प्रहण करने योग्य । वमै=ओदे ।

अर्थ—साधकदशामे जो चौदह रत्न प्रगट किये उन्हें ज्ञानी जीव विधि निषेधकी रीतिपर कुछ त्याग करता है और कुछ

शब्दार्थ—निरखें=देखें । प्रनीत (प्रणीत)=रचित ।

अर्थ—जिनके अतरगमें ज्ञान-दृष्टि द्रव्यगुण और पर्यायोक्ता अलोकन करती है, जो स्वयमेव ही दिनपर दिन स्याद्वादके द्वारा अपना स्वरूप अधिक अधिक जानते हैं । जो केवली कथित धर्ममार्गमें श्रद्धा करके उसके अनुसार आचरण करते हैं, वे ज्ञानी मनुष्य मोहकर्मका मल नष्ट करते हैं और परमपदको प्राप्त करके स्थिर होते हैं ॥ ३५ ॥

शुद्ध अनुभवसे मोक्ष और मिथ्यात्वसे तसारा है । सबैया इकतीसा ।

*चाकसौ फिरत जाकौ संसार निकट आयौ,
पायौ जिन सम्यक मिथ्यात नास करिकै ।
निरदुंद मनसा सुभूमि साधि लीनी जिन,
कीनी मोखकारन अवस्था ध्यान धरिकै ॥
सो ही सुद्ध अनुभौ अभ्यासी अविनासी भयौ,
गयौ ताकौ करम भरम रोग गरिकै ।

नैकान्तसङ्गतदृशा स्वयमेव वस्तु-
तत्त्वव्यवस्थितिमिति प्रविलोकयन्त ।

स्याद्वादशुद्धिमधिकामधिगम्य सन्तो

ज्ञानीभवन्ति जिननीतिमलघयन्त ॥ २ ॥

यह श्लोक इडरकी प्रतिम नहीं है, किन्तु मुद्रित दोनों प्रतियमिं है ।

* ये ज्ञानमात्रनिजभावमयीमरुम्पा

भूमिं श्रयन्ति कथमप्यपनीतमोहाः ।

ते साधकत्वमधिगम्य भवन्ति सिद्धा

मूढास्त्वमनुपलभ्य परिभ्रमन्ति ॥ ३ ॥

मिथ्यामती अपनौ सरूप न पिछानै ताते,
डोलै जगजालमें अनत काल भरिकै ॥३६॥

शब्दार्थ—चाक=चका । निरदुद (निरद्वद)=द्विविधा रहित गरिकै (गलिके)=गलकर नष्ट हुआ । पिछानै=पहिचाने ।

अर्थ—चाकके समान घूमते घूमते जिमके सक्षारका अति निकट आगया और जिसने मिथ्यात्वका नाश करके सम्यग्दर्शन प्राप्त किया, जिसने राग द्वेष छोड़कर मनरूप भूमिको शुद्ध किया है और ध्यानके द्वारा अपनेको मोक्षके योग्य बनाया है, वही शुद्ध अनुभवका अभ्यास करनेवाला अविचल पद पाता है, और उसके कर्म नष्ट हो जाते हैं व ज्ञानरूपी रोग हट जाता है, परन्तु मिथ्यादृष्टी अपने स्वरूपको नहीं पहिचानते इससे वे अनंतकाल पर्यन्त जगतके जालमें भटकते हैं और जन्ममरणके चक्र लगाते हैं ॥ ३६ ॥

आत्म अनुभवका परिणाम । सबैया इक्तीसा ।

जे जीव दरवरूप तथा परजायरूप,
दोऊ नै प्रवांन वस्तु सुद्धता गहतु हैं ।
जे असुद्ध भावनिके त्यागी भये सरवथा,
विपैसौ विमुख है विरागता वहतु हे ॥
जे जे ग्राह्य भाव त्याग भाव दोऊ भावनिकों,
अनुभौ अभ्यास विपै एकता करतु हैं ।

स्याद्वादकौशलसुनिश्चलसयमाभ्या

यो भावयत्यहरहः स्वमितोपयुक्तः ।

ज्ञानक्रियानयपरस्परतीक्ष्णमैत्री

पात्रीदृतः धयति भूमिमिमा एत एकः ॥ ४ ॥

तेई ग्यान क्रियाके आराधक सहज मोख,
मारगके साधक अवाधक महतु हैं ॥ ३७ ॥

अर्थ—जिन जीवोंने द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों नयोंके द्वारा पदार्थका स्वरूप समझकर आत्माकी शुद्धता ग्रहण की है । जो अशुद्ध भावोंके सर्वथा त्यागी है, इन्द्रिय विषयोसे परांमुख होकर वीतरागी हुए है, जिन्होंने अनुभवके अभ्यासमें उपादेय और हेय दोनों प्रकारके भावोंको एकसा जाना है, वे ही जीव ज्ञान क्रियाके उपासक हैं, मोक्षमार्गके साधक हैं, कर्म बाधा रहित है और महान हैं ॥ ३७ ॥

ज्ञान क्रियाका स्वरूप । दोहा ।

विनसि अनादि असुद्धता, होइ सुद्धता पोख ।
ता परनतिको बुध कहें, ग्यान क्रियासों मोखा ३८ ॥

शब्दार्थ—विनसि=नष्ट हाकर । पोख=पुष्ट । परनति=चाल ।

अर्थ—ज्ञानी लोग कहते हैं कि अनादि कालकी अशुद्धताके नष्ट होने और शुद्धताके पुष्ट होनेकी परणति ज्ञान क्रिया है और उसीसे मोक्ष होता है ॥ ३८ ॥

सम्यक्त्वसे क्रमशः ज्ञानकी पूर्णता होती है । दोहा ।

जगी सुद्ध समकित कला, वगी मोख भग जोइ ।
वहै करम चूरन करै, क्रम क्रम पूरन होइ ॥ ३९ ॥
जाके घट ऐसी दसा, साधक ताको नाम ।
जैसे जो दीपक धरै, सो उजियारौ धाम ॥ ४० ॥

शब्दार्थ—वगी=चली ।

अर्थ—सम्यग्दर्शनकी जो किरण प्रकाशित होती है और मोक्षके मार्गमें चलती है वह धीरे धीरे कर्मोंका नाश करती हुई परमात्मा बनती है ॥ ३९ ॥ जिसके चित्तमें ऐसी सम्यग्दर्शनकी किरणका उदय हुआ है उसीका नाम साधक है, जैसे कि जिम घरमें दीपक जलाया जाता है उसी घरमें उजेला होता है ॥४०॥

सम्यक्त्वकी महिमा । सर्वैया इकतीसा ।

जाके घट अंतर मिथ्यात अधकार गयौ,
 भयौ परगास सुद्ध समकित भानकौ ।
 जाकी मोह निद्रा घटी ममता पलक फटी,
 जान्यौ जिन मरम अवाची भगवानकौ ॥
 जाकौ ग्यान तेज बग्यौ उद्दिम उदार जग्यौ,
 लग्यौ सुख पोख समरस सुधा पानकौ ।
 ताही सुविचच्छनकौ ससार निकट आयौ,
 पायौ तिन मारग सुगम निरवानकौ ॥४१॥

शब्दार्थ—अवाची=वचनातीत । बग्यौ=बड़ा ।

अर्थ—जिसके हृदयमें मिथ्यात्वका अधकार नष्ट होनेसे शुद्ध सम्यग्दर्शनका सूर्य प्रकाशित हुआ, जिमकी मोह निद्रा हट गई और ममताकी पलके उघड़ पडीं, जिमने वचनातीत अपने पर-

चित्पिण्डचण्डिमविलासिचिक्वास्त्रहास

शुद्ध प्रकाशमरनिर्भरसुप्रभातः ।

आनन्दसुस्थितसदास्खलितैकरूप-

स्तस्यैव चायमुदयरयच्छलाधिंरारमा ॥ ७ ॥

मेश्वरका स्वरूप पहिचान लिया, जिसके ज्ञानका तेज प्रकाशित हुआ, जो महान उद्यममें सावधान हुआ, जो साम्यभावका अमृतरस पान करके पुष्ट हुआ, उसी ज्ञानीके ससारका अंत समीप जाया है और उसने ही मोक्षका सुगम मार्ग पाया है ॥ ४१ ॥

सम्यग्ज्ञानकी महिमा । सचैया इकतीसा ।

जाके हिरदैमें स्याद्वाद साधना करत,
सुद्ध आतमाकौ अनुभौ प्रगट भयौ है ।
जाके सकल्प विकल्पके विकार मिटि,
सदाकाल एकीभाव रस परिनयौ है ॥
जिन वध विधि परिहार मोख अगीकार,
ऐसो सुविचार पच्छ सोऊ छांड़ि दयौ है ।
ताकौ ग्यान महिमा उदोत दिन दिन प्रति,
सोही भवसागर उलधि पार गयौ है ॥४२॥

शब्दार्थ—परिनयो=हुआ । परिहार=नष्ट । अगीकार=स्वीकार । पार=तट ।

अर्थ—स्याद्वादके अभ्याससे जिसके अंतःकरणमें शुद्ध आत्माका अनुभव प्रगट हुआ, जिसके सकल्प विकल्पके विकार

स्याद्वाददीपितलसन्महसि प्रकाशे

शुद्धस्वभावमहिमन्युदिते मयीति ।

किं बन्धमोक्षपथपातिभिरन्यभावे

नित्योदयः परम्य स्फुरत्तु स्वभावः ॥ ६ ॥

नष्ट हो गये और सदैव एक ज्ञानभावरूप हुआ, जिमने बंध विधिरा परिहार और मोक्ष अगीकारका सद्विचार भी छोड़ दिया, जिसके ज्ञानकी महिमा दिनपर दिन प्रकाशित हुई, वह ही ससार सागरसे पार होकर उमके किनारे पर पहुँचा है ॥४२

अनुभवमें नय पक्ष नहीं है । सर्वथा शकतीसा ।

अस्तिरूप नासति अनेक एक थिररूप,
अथिर इत्यादि नानारूप जीव कहिये ।
दीसै एक नैकी प्रतिपच्छी न अपर दूजी,
नैकौ न दिखाइ वाद विवादमें रहिये ॥

थिरता न होइ विकल्पकी तरगनिमें,
चचलता वदै अनुभौ दसा न लहिये ।
तातें जीव अचल अवाधित अखड एक,
ऐसौ पद साधिकै समाधि सुख गहिये ४३

शब्दार्थ—थिर=स्थिर । अथिर=चचल । प्रतिपच्छी=विपरीत ।
अपर=और । थिरता=शान्ति । समाधि=अनुभव ।

चित्रात्मशक्ति समुदायमयोऽयमात्मा
सद्यः प्रणश्यति नयेक्षणखण्ड्यमान
तस्मादखण्डमनिराकृतखण्डमेक
मेकान्तशान्तमचल चिद्रह महोऽस्मि ॥ ७ ॥

अर्थ—जीव पदार्थ नयकी अपेक्षासे अस्ति नास्ति, एक अनेक, थिर अथिर, आदि अनेकरूप कहा गया है । यदि एक नयसे विपरीत दूसरा नय न दिखाया जाय तो विपरीतता दिखने लगती है और वाढानुवाद उपस्थित होता है । ऐसी दशामे अर्थात् नयके विकल्पजालमे पड़नेसे चित्तको विश्राम नहीं होता और चचलता बढ़नेसे अनुभव टिक नहीं सकता, इस लिये जीव पदार्थको अचल, अनापित, असंखित और एक साधकर अनुभवका आनंद लेना चाहिये ।

भाचार्य—एक नय पदार्थको अस्तिरूप कहता है तो दूसरा नय उसी पदार्थको नास्तिरूप कहता है, एक नय उसे एकरूप कहता है तो दूसरा नय उसे अनेक कहता है, एक नय नित्य कहता है तो दूसरा नय उसे अनित्य कहता है, एक नय शुद्ध कहता है तो दूसरा नय उसे अशुद्ध कहता है, एक नय ज्ञानी कहता है तो दूसरा उसे अज्ञानी कहता है, एक नय सन्ध कहता है तो दूसरा नय उसे असन्ध कहता है । ऐसे परस्पर विरुद्ध अनेक धर्मोंकी अपेक्षासे पदार्थ अनेकरूप कहा जाता है । जब प्रथम नय कहा गया और उसका विरोधी न दिखाया जावे तो विवाद खडा होता है और नयोंके भेद बढ़नेसे अनेक विकल्प उपजते हैं जिससे चित्तमे चचलता बढ़नेके कारण अनुभव नष्ट हो जाता है इसलिये प्रथम अवस्थामे तो नयोंका जानना आवश्यक है, फिर उनके द्वारा पदार्थका वास्तविक स्वरूप निर्णय करनेके अनंतर एक शुद्ध शुद्ध आत्मा ही उपादेय है ॥ ४३ ॥

यद्यपि वह एक क्षणमें शुद्ध, अशुद्ध और शुद्धाशुद्ध ऐसे तीन-
रूप है तो भी इन तीनों रूपोंमें वह अखण्ड चैतन्य शक्तिसे सर्वांग
सम्पन्न है। यही स्याद्वाद है, इस स्याद्वादके मर्मको स्याद्वादी ही
जानते हैं, जो मूर्ख हृदयके अंधे हैं वे इस मतलबको नहीं सम-
झते ॥ ४८ ॥

निहचै दरवद्रिष्टि दीजै तव एक रूप,
गुण परजाइ भेद भावसौं बहुत है ।
असख्य परदेस सजुगत सत्ता परमान,
ग्यानकी प्रभासौं लोकाऽलोक मानयुत है ॥
परजै तरंगनिके अग छिनभगुर है,
चेतना सकतिसौं अखडित अचुत है ।
सो है जीव जगत विनायक जगतसार,
जाकी मौज महिमा अपार अदभुत है ॥४९

शब्दार्थ—भेदभाव=व्यवहार नय । सजुगत (सयुक्त)=सहित ।
जुन (युक्त)=सहित । अचुत=अचल । विनायक=शिरोमणि । मौज=मुख ।

अर्थ—आत्मा निश्चयनय वा द्रव्यदृष्टिसे एकरूप है, गुण
पर्यायोके भेद अर्थात् व्यवहारनयसे अभेदरूप है । अस्तित्वकी

इतो गतमनेकता दधदित सदाप्येस्ता
मित क्षणविभङ्गुर ध्रुवमित सदैवोदयात् ।

इतः परमविस्तृत धृतमित प्रदेशीनिर्ज्ञै

रहो सहजमारमनस्तदिदमद्भुत धैभवम् ॥ १० ॥

दृष्टिसे निज क्षेत्राग्रगण्ये स्थित है, प्रदेशोंकी दृष्टिसे लोकप्रमाण असंख्यात प्रदेशी है, ज्ञायक दृष्टिसे लोकालोक प्रमाण है । पर्यायोंकी दृष्टिसे क्षणमंगुर है, अविनाशी चेतना शक्तिकी दृष्टिसे नित्य है । वह जीव जगतमें श्रेष्ठ और सार पदार्थ है, उसके सुख गुणकी महिमा अपरम्पार और अद्भुत है ॥ ४९ ॥

विभाव सकति परनतिसौ विकल दीसै,
 सुद्ध चेतना विचारतैं सहज संत है ।
 करम संजोगसौ कहावै गति जोनि वासी,
 निहचै सुरूप सदा मुक्त महत है ॥
 ज्ञायक सुभाउ धरे लोकालोक परगासी,
 सत्ता परवांन सत्ता परगासवत है ।
 सो हे जीव जानत जहान कौतुक महान,
 जाकी किरति कहां न अनादि अनंत है ५०

शब्दार्थ—विकल=दुखी । सहज सत=स्वाभाविक शान्त । वासी=रहनेवाग । जहान=लोक । कीरति (कीर्ति)=जम । कहां न=कहाँ नहीं ।

१ लोक और अलोकमें उसके ज्ञानकी पहुँच है ।

२ ' कहान ' ऐसा भी पाठ है अर्थात् कहानी-कथा ।

कपायकलिरेकत स्खलति शान्तिरस्त्येकतो
 भयोपहतिरेकतः स्पृशति मुक्तिरप्येकतः ।
 जगत्त्रितयमेकत स्फुरति चिन्मकास्त्येकत

५मुताद्भुत ॥ ११ ॥

अर्थ—आत्मा विभाव परणतिसे दुखी दिखता है, पर उमकी शुद्ध चैतन्य शक्तिका विचार करो तो वह साहजिक शान्तिमय ही है। वह कर्मके समर्गसे गति योनिका प्रगती कहलाता है, पर उसका निश्चय स्वरूप देखो तो कर्म बन्धनसे मुक्त परमेश्वर ही है। उसकी ज्ञायक शक्तिपर दृष्टि डालो तो लोकालोकका ज्ञाता दृष्ट है, यदि उसका अस्तित्वपर ध्यान दो तो निज क्षेत्राग्राह प्रमाण ज्ञानका पिण्ड है। ऐसा जीव जगतका ज्ञाता है, उसकी लीला विशाल है, उमकी कीर्ति कहाँ नहीं है, अनादि कालसे चली आती है और अनन्त काल तक चलेगी ॥ ५० ॥

साध्य स्वरूप केवलज्ञानका वर्णन । सर्विया इफतीला ।

पच परकार ग्यानावरनकौ नास करि,
 प्रगटी प्रसिद्ध जग मांहि जगमगी है ।
 ज्ञायक प्रभामें नाना ज्ञेयकी अवस्था धरि,
 अनेक भई पै एकताके रस पगी है ॥
 याही भाति रहेगी अनन्त काल परजन्त,
 अनन्त सकति फौरि अनन्तसौ लगी है ।
 नरदेह देवलमें केवल सरूप सुद्ध,
 ऐसी ग्यान ज्योतिकी सिखा समाधिजगी है

जयति सहजतेज पुञ्जमञ्जलिभ्रलोकी

स्वल्पदिलिहविकल्पोऽप्येक एव स्वरूप ।

स्वरसधिसरपूर्णाच्छिन्नतरयोपलम्भ

प्रसन्ननियमिताधिधिश्चमत्कार एव ॥ १२ ॥

शब्दाथे—फोरि=स्फुरित करके । देवल=मंदिर । सिखा (शिखा)

=ल्य । समाधि=अनुभव ।

अर्थ—जगतमे जो ज्ञायक ज्योति पॉच प्रकारका ज्ञाना-
णीय कर्म नष्ट करके चमकती हुई प्रगट हुई है और अनेक
प्रकार ज्ञेयाकार परिणमन करनेपर भी जो एकरूप हो रही है वह
ज्ञायक शक्ति इसी ही प्रकार अनंत काल तक रहेगी और अनंत
वीर्यको स्फुरित करके अक्षय पद प्राप्त करेगी । वह शुद्ध केवल-
ज्ञानरूप प्रभा मनुष्य-देहरूप मंदिरमे परम शान्तिमय प्रगट
हुई है ॥ ५१ ॥

अमृतचद्र कलाके तीन अर्थ । सबेया इकतीसा ।

अच्छर अरथमै मगन रहै मदा काल,

महासुख देवा जैसी सेवा कामगविकी ।

अमल अवाधित अलख गुन गावना है,

पावना परम सुद्ध भावना है भविकी ॥

मिथ्यात तिमिर अपहारा वर्धमान धारा,

जैसी उमै जामलौ किरण दीपै रविकी ।

ऐसी है अमृतचद्र कला त्रिधारूप धरे,

अनुभौ दसा गरंथ टीका बुद्धि कविकी ५२

अविचलितचिदात्मन्यात्मनात्मनिमात्म

न्यनवरतनिमग्न धारयद्ध्यस्तमोहम् ।

उदितममृतचन्द्रज्योतिरेतत्समन्ता-

ज्ज्वलतु विमलपूर्णं निःसपत्तस्यभावम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ—कामगति=कामधनु । अलख=आत्मा । पावना=पवित्र । अपहारा=नष्ट करनेवाली । वर्धमान=उन्नतिरूप । उमै जाम=दो पहर । त्रिधा रूप=तीन प्रकारकी ।

अर्थ—अमृतचद्र स्वामीकी चद्र कला, अनुभवकी, टीकाकी और कविताकी तीनरूप है सो सदाकाल अक्षर अर्थ अर्थात् मोक्ष पदार्थसे भरपूर है, सेवा करनेसे कामधेनुके समान महा सुखदायक है । इसमें निर्मल और शुद्ध परमात्माके गुण समूहका वर्णन है, परम पवित्र है, निर्मल है और भव्य जीवोंके चिंतवन करने योग्य है, मिथ्यात्वका अधिकार नष्ट करनेवाली है, दो पहरके सूर्यके समान उन्नतिशील है ॥ ५२ ॥

दोहा ।

नाम साध्य साधक कह्यौ, द्वार द्वादसम ठीक ।

समयसार नाटक सकल, पूरन भयौ सटीक ॥ ५३ ॥

अर्थ—साध्य साधक नामक बारहवा अधिकार वर्णन किया और श्रीअमृतचद्राचार्यकृत समयसारकी सस्कृतटीकाके अनुसार भाषा नाटक समयमारजी समाप्त हुए ॥ ५३ ॥

प्रथमे अतमें प्रथकारकी आलोचना । दोहा ।

अब कवि निज पूरव दसा, कहै आपसौ आप ।

सहज हरख मनमै धरै, करै न पश्चाताप ॥ ५४ ॥

अर्थ—स्वरूपका ज्ञान होनेसे प्रसन्नता प्रगट हुई और सतापका अभाव हुआ है इसलिये अब काव्यकर्त्ता स्वयं ही अपनी पूर्व दशाकी आलोचना करते हैं ॥ ५४ ॥

सर्पिया इकतीसा ।

जो मैं आपा छांड़ि दीनौ पररूप गहि लीनौ,
कीनौ न बसेरौ तहां जहां मेरौ थल है ।
भोगनिकौ भोगी है करमकौ करता भयौ,
हिरदै हमारे राग द्वेष मोह मल है ॥

ऐसी विपरीत चाल भई जो अतीत काल,
सो तो मेरे क्रियाकी ममताहीको फल है ।
ग्यान दृष्टि भासी भयौ क्रियासौ उदासी वह,
मिथ्या मोह निद्रामे सुपनकोसौ छल है ५५

शब्दार्थ—जसेरौ=निवाम । थल=स्थान । अतीत काल=पूर्व
काल । सुपन=स्वप्न ।

अर्थ—मैंने पूर्वकालमें अपना स्वरूप ग्रहण नहीं किया, पर-
मदार्थोंको अपना माना और परम समाधिमें लीन नहीं हुआ,
भोगोंका भोगता बनकर कर्मोंका कर्ता हुआ, और हृदय राग द्वेष
मोहके मलसे मलिन रहा । ऐसी विभात्र परणतिमें हमने ममत्व
भात्र रक्खा अर्थात् विभात्र परणतिको आत्म परणति समझा,

। यस्माद्द्वैतमभूत्पुरा स्वपरयोर्भूत यतोऽत्रान्तर
रागद्वेषपद्मिग्रहे मति यतो जात क्रियाकारकै ।
भुञ्जाना च यतोऽनुभूतिरपिल विद्या क्रियाया फल
तद्विज्ञानघनीघमसमधुना किञ्चिन्न किञ्चित्किल ॥ १४ ॥

उमके फलसे हमारी यह दशा हुई । अन ज्ञानका उदय होनेसे क्रियासे निरक्त हुआ हूँ, पहलेका कहा हुआ जो कुछ हुआ वह मिथ्यात्वकी मोह निद्रामे स्वप्न कैसा छल हुआ है, अन नींद खुल गई ॥ ५५ ॥

दोहा ।

अमृतचद्र मुनिराजकृत, पूरन भयौ गिरथ ।
समयसार नाटक प्रगट, पचम गतिकौ पथ ॥ ५६ ॥

अर्थ—साक्षात् मोक्षका मार्ग बतलानेवाला श्रीअमृतचद्रजी मुनिराजकृत नाटक समयसार ग्रंथ संपूर्ण हुआ ॥ ५६ ॥

चारहवे अधिकारका सार ।

जो साधे सो साधक, जिमको साधा जावे सो साध्य है । मोक्षमार्गमे, “मै साध्य साधक मै असाधक” की नीतिसे आत्मा ही साध्य है और आत्मा ही साधक है, भेद इतना है कि ऊँचेकी अवस्था साध्य और नीचेकी अवस्था साधक है इसलिये केवलज्ञानी अर्हत सिद्ध पर्याय साध्य और सम्यग्दृष्टी श्रावक साधु अवस्थाएँ साधक हैं ।

अनतानुबन्धीकी चौकडी और दर्शनमोहनीय त्रयका अनोदय होनेसे सम्यग्दर्शन होता है, और सम्यग्दर्शन प्रगट होनेपर ही जीव उपदेशका वास्तविक पात्र होता है, सो मुख्य उपदेश तत्र

स्वशक्तिससृचितधस्तुतत्त्वैर्व्याख्या कृतेय समयस्य शब्दे ।

स्वरूपगुप्तस्य न किञ्चिदस्ति फलव्यमेवामृतचद्रसूरे ॥ १५ ॥

इति समयसारकलशा समाप्ता ॥

धन जन आदिसे राग हटाने और व्यसन तथा विषय-वासनाओंसे विरक्त होनेका है । जब लौकिक सम्पत्ति और विषय वासनाओंसे चित्त विरक्त हो जाता है तब इन्द्र अहमिन्द्रकी सम्पदा भी विरस और निस्सार भासने लगती है, इसलिये ज्ञानी लोग स्वर्गादिकी अभिलाषा नहीं करते, क्योंकि जहाँ तक चढ़कर 'देव इह इन्द्री भया' की उक्तिके अनुसार फिर नीचे पडता है उसे उन्नति ही नहीं कहते है, और जिस सुखमे दुःखका समावेश है वह सुख नहीं दुःख ही है, इससे विवेकमान पुरुष स्वर्ग और नर्क दोनोंको एकही सा गिनते है ।

इस सर्वथा अनित्य ससारमे कोई भी वस्तु तो ऐसी नहीं है जिससे अनुराग किया जावे, क्योंकि भोगोंमे रोग, संयोगमें वियोग, मिथामे मित्राद, शुचिमे ग्लानि, जयमे हार पाइ जाती है । भाव यह है कि ससारकी जितनी सुख सामग्रियाँ है वे दुःखमय ही है, इससे साताकी सहेली अकेली उदासीनता जानकर उसकी ही उपासना करना चाहिए ।

शब्दार्थ—सुदिष्टि=सम्यग्दर्शन । ममारखी=मूर्छा-अचेतना ।
 सैली (शैली)=पद्धति । गरब (गर्व) अभिमान । पारखी=परीक्षक ।
 श्रवण=कान । समानी=प्रवेश कर गई । आरखी (आर्धित)=कृपि
 प्रणीत । बल्प (बल्प)=थोड़ी ।

अर्थ—पण्डित बनारसीदासजी कहते हैं कि जिसके अत-
 रगमें सम्यग्दर्शनकी तरंग उठकर मिथ्या मोहनीय जनित निद्रा
 की असावधानी नष्ट हो गई हैं, जिनके हृदयमें जैनमतकी पद्धति
 प्रगट हुई है, जिन्होंने मिथ्याभिमानका त्याग किया है, जिन्हें
 छह द्रव्योंके स्वरूपकी पहिचान हुई है, जिन्हें अरहत कथित
 आगमका उपदेश श्रवण गोचर हुआ है, जिनके हृदयरूप भडारमे
 जैन ऋषियोंके वचन प्रवेश कर गये हैं, जिनका ससार निकट
 आया है वे ही जिन प्रतिमाको जिनराज सदृश मानते हैं ॥ ३ ॥

प्रतिष्ठा चौपाई ।

जिन-प्रतिमा जन दोष निकटै ।

सीस नमाइ बनारसि वदै ॥

फिरि मनमांहि विचारै ऐसा ।

नाटक गरथ परम पद जैसा ॥ ४ ॥

परम तत्त परचै इस मांही ।

गुनथानककी रचना नांही ॥

यामै गुनथानक रस आवै ।

तो गरथ अति सोभा पावै ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—निकटै=नष्ट करे । गुणस्थानक (गुणस्थान)=मोह और योगके निमित्तसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप आत्माके गुणोंकी तारतम्यरूप अवस्था विशेषको गुणस्थान कहते हैं ।

अर्थ—जिनराजकी प्रतिमा भक्तोंके मिथ्यात्वको दूर करती है । उस जिन प्रतिमाको प० बनारसीदामजीने नमस्कार करके मनमे ऐसा विचार किया कि यह नाटक समयमार ग्रथ परम पदरूप है और इसमे आत्मतत्त्वका व्याख्यान तो है, परन्तु गुणस्थानोंका वर्णन नहीं है । यदि इसमे गुणस्थानोंकी चर्चा सम्मिलित हो तो ग्रथ बहुत ही उपयोगी हो सकता है ॥ ४ ॥ ५ ॥

दोहा ।

इह विचारि सछेपसौं, गुणस्थानक रस चोज ।
वरनन करै बनारसी, कारन सिव-पथ खोज ॥ ६ ॥
नियत एक विवहारसौ, जीव चतुर्दस भेद ।
रंग जोग बहु विधि भयौ, ज्यो पट सहज सुफेद ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—सछेपसौं=थोड़ेमें । जोग (योग)=सयोग । पट=वस्त्र ।

अर्थ—यह सोचकर पंडित बनारसीदासजी शिव मार्ग खोजनेमे कारणभूत गुणस्थानोंका सक्षिप्त वर्णन करते हैं ॥ ६ ॥ जीवपदार्थ निश्चयनयसे एकरूप है और व्यवहारनयसे गुणस्थानोंके भेदसे चौदह प्रकारका है । जिस प्रकार सुफेद वस्त्र रंगोंके सयोगसे अनेक रंगका हो जाता है, उसी प्रकार मोह और योगके सयोगसे ससारी जीवमे चौदह अवस्थाएँ पाई जाती हैं ॥ ७ ॥

(७) पाँच कारणोंसे सम्यक्त्वका विनाश होता है। दोहा ।
 ग्यान गरव मति मदता, निठुर वचन उदगार ।
 रुद्रभाव आलस दसा, नास पंच परकार ॥ ३७ ॥

अर्थ—ज्ञानका अभिमान, बुद्धिकी हीनता, निर्दय वचनोंका भाषण, क्रोधी परिणाम और प्रमाद ये पाँच सम्यक्त्वके घातक हैं ॥ ३७ ॥

(८) सम्यग्दर्शनके पाँच अतीचार । दोहा ।

लोक हास भय भोग रुचि, अग्र सोच थिति मेव ।
 मिथ्या आगमकी भगति, मृषा दर्सनी सेव ॥ ३८ ॥

अर्थ—लोक-हास्यका भय अर्थात् सम्यक्त्वरूप प्रवृत्ति करनेमें लोगोंकी हँसीका भय, इन्द्रियोंके विषय भोगनेमें अनुराग, आगामी कालकी चिन्ता, कुशास्त्रोंकी भक्ति और कुदेवोंकी सेवा ये सम्यग्दर्शनके पाँच अतीचार हैं ॥ ३८ ॥

चौपाई ।

अतीचार ए पच परकारा ।

समल करहि समकितकी धारा ॥

दूपन भूपन गति अनुसरनी ।

दसा आठ समकितकी वरनी ॥ ३९ ॥

अर्थ—ये पाँच प्रकारके अतीचार सम्यग्दर्शनकी उज्ज्वल परणतिको मलिन करते हैं। यहाँतक सम्यग्दर्शनको सदोष व निर्दोष दशा प्राप्त करानेवाले आठ विपरण वर्णन किये ॥ ३९ ॥

मोहनीयकर्मकी सात प्रकृतियोंके अनोदयसे सम्यग्दर्शन प्रगट होता है । दोहा ।

प्रकृति सात अव मोहकी, कहूं जिनागम जोई ।
जिनको उदै निवारिकै, सम्यग्दरसन होइ ॥ ४० ॥

अर्थ—मोहनीयकर्मकी जिन सात प्रकृतियोंके अनोदयसे सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, उन्हे जिनशासनके अनुमार कहता हूँ ॥ ४० ॥

मोहनीयकर्मकी सात प्रकृतियोंके नाम । सबैया इकर्तासा ।

चारित मोहकी च्यारि मिथ्यातकी तीन तामै,
प्रथम प्रकृति अनंतानुवधी कोहनी ।

वीजी महा-मानरसभीजी मायामयी तीजी,
चौथी महालोभ दसा परिग्रह पोहनी ॥

पाँचई मिथ्यातमति छडी मिश्रपरनति,
सातई समै प्रकृति समकित मोहनी ।

एई पट विगवनितासी एक कुतियासी,
सातों मोहप्रकृति कहावैं सत्ता रोहनी ॥४१

शब्दार्थ—चारित मोह=जो आत्माके चारित्र गुणका घात करे ।
अनंतानुवधी=जो आत्माके स्वरूपाचरण चारित्रको घाते—अनत ससारके
कारणमूत मिथ्यात्वके साथ जिनका बध होता है । कोहनी=क्रोध ।

धीजी=दूसरी । रोहनी=पुष्ट करनेवाली । निगबनिता=व्याघ्रनी । कुतिया=कूकरी—अथवा कर्कशा स्त्री । रोहनी=ढँकनेवाली ।

अर्थ—सम्यक्त्वकी घातक चारित्रमोहनीयकी चार और दर्शनमोहनीयकी तीन ऐसी सात प्रकृतियाँ हैं । उनमेंसे पहली अनतानुबधी क्रोध, दूसरी अभिमानके रँगसे रँगी हुई अनतानुबधी मान, तीसरी अनतानुबधी माया, चौथी परिग्रहको पुष्ट करनेवाली । अनतानुबधी लोभ, पाँचवी मिथ्यात्व, छठी मित्र मिथ्यात्व और सातवी सम्यक्त्व मोहनी है । इनमेंसे उह प्रकृतियाँ व्याघ्रनीके समान सम्यक्त्वके पीछे पडकर भक्षण करनेवाली हैं, और सातवी कुतिया जर्थात् कूकी वा कर्कशा स्त्रीके समान सम्यक्त्वको सकप वा मलिन करनेवाली हैं । इस प्रकार ये सातों प्रकृतियाँ सम्यक्त्वके सद्भावको रोकती हैं ॥ ४१ ॥

सम्यक्त्वोंके नाम । छप्पय छन्द ।

सात प्रकृति उपसमहि, जासु सो उपसम मडित ।
 सात प्रकृति छय करन-हार छाथिकी अखंडित ॥
 सातमांहि कछु खपै, कछुक उपसम करि रसखै ।
 सो छय उपसमवत्, मिश्र समकित रस चखखै ॥
 पट प्रकृति उपसमै वा खपै, अथवा छय उपसम करै ।
 सातई प्रकृति जाके उदय, सो वेदक समकित धरै ॥ ४२

शब्दार्थ—अखंडित=अविनासी । चक्खै=स्वाद छेवे । खपै=क्षय करे ।

अर्थ—जो ऊपर कही हुई सातों प्रकृतियोंको उपशमाता है वह औपशमिकसम्यग्दृष्टी है । सातों प्रकृतियोंका क्षय करने-वाला क्षायिकसम्यग्दृष्टी है, यह सम्यक्त्व कभी नष्ट नहीं होता । सात प्रकृतियोंमेंसे कुछ क्षय हों और कुछ उपशम हों तो, वह क्षयोपशमसम्यक्त्वही है, उसे सम्यक्त्वका मिश्ररूप स्वाद मिलता है । छह प्रकृतियाँ उपशम हो वा क्षय हों अथवा कोई क्षय और कोई उपशम हो केवल सातों प्रकृति सम्यक्त्व मोहनीका उदय हो तो वह वेदक सम्यक्त्वधारी होता है ॥ ४२ ॥

सम्यक्त्वके नव भेदोंका वर्णन । दोहा ।

छयउपसम वरतै त्रिविधि, वेदक च्यारि प्रकार ।

छायक उपसम जुगल जुत, नौधा समकित धार ॥४३

शब्दार्थ—त्रिविधि=तीन प्रकारका । जुगल=दो । जुत=सहित ।

अर्थ—क्षयोपशमसम्यक्त्व तीन प्रकारका है, वेदकसम्यक्त्व चार प्रकारका है, और उपशम तथा क्षायिक ये दो भेद और मिलानेसे सम्यक्त्वके नव भेद होते हैं ॥ ४३ ॥

क्षयोपशमसम्यक्त्वके तीन भेदोंका वर्णन । दोहा ।

च्यारि खिपै त्रय उपसमै, पन छै उपसम दोइ ।

छै पद् उपसम एक यौं, छयउपसम त्रिक होइ ॥४४॥

बीजी=दूसरी । पोहनी=पुष्ट करनेवाली । विगवनिता=व्याघ्रनी । कुतिया=
कूकरी—अथवा कर्कशा छा । रोहनी=ढँकनेवाली ।

अर्थ—सम्यक्त्वकी घातक चारित्रमोहनीयकी चार और दर्शनमोहनीयकी तीन ऐसी सात प्रकृतियाँ हैं । उनमेंसे पहली अनतानुबन्धी क्रोध, दूसरी अभिमानके रँगसे रँगी हुई अनतानुबन्धी मान, तीसरी अनतानुबन्धी माया, चौथी परिग्रहको पुष्ट करनेवाली अनतानुबन्धी लोभ, पाँचवीं मिथ्यात्व, छठी मिश्र मिथ्यात्व और सातवीं सम्यक्त्व मोहनी है । इनमेंसे छह प्रकृतियाँ व्याघ्रनीके समान सम्यक्त्वके पीछे पडकर भक्षण करनेवाली हैं, और सातवीं कुतिया अर्थात् कुत्ती वा कर्कशा स्त्रीके समान सम्यक्त्वको सकप वा मलिन करनेवाली है । इस प्रकार ये सातों प्रकृतियाँ सम्यक्त्वके सद्भावको रोकती हैं ॥ ४१ ॥

सम्यक्त्वोंके नाम । छप्पय छन्द ।

सात प्रकृति उपसमहि, जासु सो उपसम मडित ।
सात प्रकृति छय करन-हार छायेकी अखडित ॥
सातमाहि कछु खपै, कछुक उपसम करि रक्खै ।
सो छय उपसमवंत, मिश्र समकित रस चक्खै ॥
पट प्रकृति उपसमै वा खपै, अथवा छय उपसम करै ।
सातई प्रकृति जाके उदय, सो वेदक समकित धरै ॥४२

शब्दार्थ—अखंडित=अभिनासी । चक्खै=स्वाद लेवे । खिपै=क्षय करे ।

अर्थ—जो ऊपर कही हुई सातों प्रकृतियोंको उपशमाता है वह औपशमिकसम्यग्दृष्टी है । सातों प्रकृतियोंका क्षय करने-वाला क्षायिकसम्यग्दृष्टी है, यह सम्यक्त्व कभी नष्ट नहीं होता । सात प्रकृतियोंसे कुछ क्षय हों और कुछ उपशम हों तो, वह क्षयोपशमसम्यक्त्व है, उसे सम्यक्त्वका मिश्ररूप स्वाद मिलता है । छह प्रकृतियाँ उपशम हों वा क्षय हों अथवा कोई क्षय और कोई उपशम हो केवल सातों प्रकृति सम्यक्त्व मोहनीका उदय हो तो वह वेदक सम्यक्त्वधारी होता है ॥ ४२ ॥

सम्यक्त्वके नव भेदोंका वर्णन । दोहा ।

छयउपसम वरतै त्रिविधि, वेदक च्यारि प्रकार ।

छायक उपसम जुगल जुत, नौधा समकित धार ॥४३

शब्दार्थ—त्रिविधि=तीन प्रकारका । जुगल=दो । जुत=सहित ।

अर्थ—क्षयोपशमसम्यक्त्व तीन प्रकारका है, वेदकसम्यक्त्व चार प्रकारका है, और उपशम तथा क्षायिक ये दो भेद और मिलानेसे सम्यक्त्वके नव भेद होते हैं ॥ ४३ ॥

क्षयोपशमसम्यक्त्वके तीन भेदोंका वर्णन । दोहा ।

च्यारि खिपै त्रय उपसमै, पन छै उपसम दोइ ।

छै पद् उपसम एक यौं, त्रिक होइ ॥४४॥

अर्थ—(१) चारका क्षय और तीनोंका उपशम, (२) पाँचका क्षय दोका उपशम, (३) छहका क्षय एकका उपशम, इस प्रकार क्षयोपशममम्यवत्वके तीन भेद हैं ॥ ४४ ॥

वेदकसम्यक्त्वके चार भेद । दोहा ।

जहां च्यारि परकिति सिपहि, छै उपसम इक वेद ।
छय-उपसम वेदक दसा, तासु प्रथम यह भेद ॥४५॥
पंच सिपे इक उपसमै, इक वेदै जिहि ठौर ।
सो छय-उपसम वेदकी, दसा दुतिय यह और ॥४६॥
छै पट वेदै एक जौ, छायक वेदक सोइ ।
पट उपसम इक प्रकृति विद, उपसम वेदक होइ ॥४७॥

अर्थ—(१) जहाँ चार प्रकृतियोंका क्षय दोका उपशम और एकका उदय है वह प्रथमक्षयोपशमवेदकसम्यक्त्व है, (२) जहाँ पाँच प्रकृतियोंका क्षय एकका उपशम और एकका उदय है वह द्वितीय क्षयोपशमवेदकसम्यक्त्व है, (३) जहाँ छह प्रकृतियोंका क्षय और एकका उदय है वह क्षायिकवेदकसम्यक्त्व

१ अनंतानुबन्धीकी चौकड़ी । २ दशानमोहनीयका त्रिक । ३ अनंतानुबन्धीकी चौकड़ी और महामिथ्यात्व । ४ मिथ्रमिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति । ५ अनंतानुबन्धीकी चौकड़ी, महामिथ्यात्व और मिथ्र । ६ अनंतानुबन्धीकी चौकड़ी । ७ महामिथ्यात्व और मिथ्र । ८ सम्यक्प्रकृति । ९ अनंतानुबन्धीकी चौकड़ी और महामिथ्यात्व । १० मिथ्र । ११ अनंतानुबन्धीकी चौकड़ी, महामिथ्यात्व और मिथ्र ।

है, (४) जहाँ छह प्रकृतियोंका उपशम और एकका उदय है वह उपशमवेदकसम्यक्त्व है ॥ ४५ ॥ ४६ ॥ ४७ ॥

यहाँ क्षायिक व उपशमसम्यक्त्वका स्वरूप न कहनेका कारण । दोहा ।

उपसम छायिककी दसा, पूरव पट पदमांहि ।

कही प्रगट अव पुनरुक्ति, कारन वरनी नांहि ॥४८

शब्दार्थ—पुनरुक्ति=बार बार कहना ।

अर्थ—क्षायिक और उपशमसम्यक्त्वका स्वरूप पहले ४२ वे छप्पय उन्दमे कह आये हैं, इमलिये पुनरुक्ति दोषके कारण यहाँ नहीं लिखा ॥ ४८ ॥

नव प्रकारके सम्यक्त्वोंका विवरण । दोहा ।

छय-उपसम वेदक खिपक, उपसम समकित च्यारि ।

तीन च्यारि इक इक मिलत, सब नव भेद विचारि ४९

अर्थ—क्षयोपशमसम्यक्त्व तीन प्रकारका, वेदकसम्यक्त्व चार प्रकारका और उपशमसम्यक्त्व एक तथा क्षायिकसम्यक्त्व एक, इस प्रकार सम्यक्त्वके मूल भेद चार और उत्तर भेद नव है ॥ ४९ ॥

प्रतिश । सोरठा ।

अव निहचै विवहार, अरु सामान्य विशेष विधि ।

कहाँ च्यारि परकार, रचना समकित भूमिकी ॥५०॥

अर्थ—सम्यक्त्व सत्ताकी निश्चय, व्यवहार, सामान्य और विशेष ऐसी चार विधि कहते हैं ॥ ५० ॥

सम्यक्त्वके चार प्रकार । सधैया इकतीसा ।

मिथ्यामति-गठि-भेदि जगी निरमल जोति,
जोगसो अतीत सो तो निहचै प्रमानियै ।
वहै दुद दसासो कहावै जोग मुद्रा धरै,
मति श्रुतग्यान भेद विवहार मानियै ॥
चेतना चिहन पहिचानि आपा परवेदै,
पौरुप अलख तातै सामान्य बखानियै ।
करै भेदाभेदको विचार विसतार रूप,
हेय गेय उपादेयसौ विशेष जानियै ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ—गठि (प्रथि)=गँठ । भेदि=नष्ट करके । अतीत=रहित ।
दुद दसा=सन्निकल्पता ।

अर्थ—मिथ्यात्वके नष्ट होनेसे मन वचन कायके अगोचर जो आत्माकी निश्चय श्रद्धानकी ज्योति प्रकाशित होती है, उसे निश्चय सम्यक्त्व जानना चाहिये । जिसमें योग, मुद्रा, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदिके विकल्प है, वह व्यवहार सम्यक्त्व जानना । ज्ञानकी अल्प शक्तिके कारण मात्र चेतना चिन्हके धारक आत्माको पहिचानकर निन और परके स्वरूपका जानना सो सामान्य सम्यक्त्व है, और हेय ज्ञेय उपादेयके भेदाभेदको सविस्ताररूपसे समझना सो विशेष सम्यक्त्व है ॥ ५१ ॥

चतुर्थ गुणस्थानके वर्णनका उपसहार । सोरठा ।

थिति सागर तेतीस, अंतर्मुहूरत एक वा ।

अविरतसमकित रीति, यह चतुर्थ गुणस्थान इति ५२

अर्थ—अत्रतसम्यग्दृष्टी गुणस्थानकी उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागर और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्तकी है । यह चौथे गुणस्थानका कथन समाप्त हुआ ॥ ५२ ॥

अणुव्यतगुणस्थानका वर्णन । प्रतिज्ञा, दोहा ।

अव वरनों इकईस गुण, अरु बावीस अभक्ष ।

जिनके संग्रह त्यागसों, सोभै श्रावक पक्ष ॥ ५३ ॥

अर्थ—जिन गुणोंके ग्रहण करने और अभक्ष्योंके त्यागनेसे श्रावकका पाँचनों गुणस्थान सुशोभित होता है, ऐसे इक्कीस गुणों और बाईस अभक्ष्योंका वर्णन करता हूँ ॥ ५३ ॥

श्रावकके इक्कीस गुण । सबैया इकतीस ।

लज्जावंत दयावंत प्रसंत प्रतीतवत,

परदोषकौ ढकैया पर-उपगारी है ।

सौमदृष्टी गुणग्राही गरिष्ठ सबकों इष्ट,

शिष्टपक्षी मिष्टवादी दीरघ विचारी है ॥

विशेषग्य रसग्य कृतग्य तग्य धरमग्य,

न दीन न अभिमानी मध्य विवहारी है ।

सहज विनीत पापक्रियासों अतीत ऐसी,
श्रावक पुनीत इक्कीस गुनधारी है ॥५४॥

शब्दार्थ—प्रसत=मद कपायी । प्रतीतवत=श्रद्धालु । गरिष्ट=सहन-शील । इष्ट=प्रिय । शिष्ट पक्षी=सत्य पक्षमें सहमत । दीरव विचारी=अप्र-सोची । विशेषज्ञ=अनुभवी । रसज्ञ=मर्मका जाननेवाला । कृतज्ञ=दूसरोंके उपकारको नहीं भूलनेवाला । तज्ञ=अभिप्रायका समझनेवाला । मध्य व्यवहारी=दीनता और अभिमान रहित । विनीत=नम्र । अतीत=रहित ।

अर्थ—लज्जा, दया, मदकपाय, श्रद्धा, दूसरोंके दोष ढाँकना, परोपकार, सौम्यदृष्टि, गुणग्राहकता, सहनशीलता, सर्वप्रियता, सत्य पक्ष, मिष्टचन, अग्रसोची, विशेषज्ञान, शास्त्रज्ञानकी मर्मवता, कृतवता, तत्त्वज्ञानी, धर्मात्मा, न दीन न अभिमानी मध्य व्यवहारी, स्वाभाविक विनयवान, पापाचरणसे रहित । ऐसे इक्कीस पवित्र गुण श्रावकोंको ग्रहण करना चाहिये ॥ ५४ ॥

बाईस अभक्ष्य । कवित्त ।

ओरा घोरवरा निसिभोजन,
बहुबीजा वेंगन सधान ।
पीपर वर ऊमर कट्टवर,
पाकर जो फल होइ अजान ॥
कदमूल माटी विप आमिष,
मधु माखन अरु भदिरा पान ।

फल अति तुच्छ तुसार चलित रस, जिनमत ए वाईस अखान ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ—घोरवरा=द्विदले । निसिमोजन=रात्रिमें आहार करना ।

संधान=अथाना, मुरब्बा । आमिप=मांस । मधु=शहद । मदिरा=शराब ।

अति तुच्छ=बहुत छोटे । तुषार=वर्ष । चलित रस=जिनका स्वाद गिगड़

जाय । अखान=अभक्ष्य ।

अर्थ—(१) ओला (२) द्विदल (३) रात्रिमोजन (४) बहुबीजा (५) वैंगन (६) अथाना, मुरब्बा (७) पीपर फल (८) बड़फल (९) ऊमर फल (१०) कटूमर (११) पाकर फल (१२) अजान फल (१३) कंदमूल (१४) माटी (१५) विप (१६) मास (१७) शहद (१८) मक्खन (१९) शरान (२०) अति सूक्ष्म फल (२१) वर्ष (२२) चलित रस ये वाईस अभक्ष्य जैनमतमें कहे हैं ॥ ५५ ॥

प्रतिज्ञा । दोहा ।

अब पंचम गुणस्थानकी, रचना वरनों अल्प ।

जामें एकादस दसा, प्रतिमा नाम विकल्प ॥ ५६ ॥

अर्थ—अब पाँचवें गुणस्थानका थोड़ासा वर्णन करते हैं जिसमें ग्यारह प्रतिमाओंका विकल्प है ॥ ५६ ॥

१ जिन धनोंकी दो दाँले होती हैं, उन धनोंके साथ बिना गरम किया हुआ अर्धात् कचा दूध, दही, मय आदि मिलाकर खाना अभक्ष्य है । २ जिन बहुबीजनके घर नाहिं, ते सब बहुबीजा कहलाहिं । 'क्रियाकोश' ३ जिन्हें पहिचानते ही नहीं हैं ।

ग्यारह प्रतिमाओंके नाम । सबैया इक्तीसा ।

दर्शनविसुद्धकारी वारह विरतधारी,
 सामाइकचारी पर्वप्रोपध विधि वहे ।
 सचितकौ परहारी दिवा अपरस नारी,
 आठों जाम ब्रह्मचारी निरारंभी है रहै ॥
 पाप परिग्रह छडै पापकी न शिक्षा मडे,
 कोऊ याके निमित्त करै सो वस्तु न गहे ।
 ऐते देमव्रतके धरैया समकित्ती जीव,
 ग्यारह प्रतिमा तिन्है भगवतजी कहै ॥५७

अर्थ—(१) सम्यग्दर्शनम विगुद्धि उत्पन्न करनेवाली दर्शन प्रतिमा है, (२) वारह व्रतोंका आचरण व्रत प्रतिमा है, (३) सामायिककी प्रवृत्ति सामायिक प्रतिमा है, (४) पर्वमें उपवास विधि करना प्रोपध प्रतिमा है, (५) सचितका त्याग सचित विरत प्रतिमा है, (६) दिनमें स्त्री स्पर्शका त्याग दिवा-मैथुन व्रत प्रतिमा है, आठों पहर स्त्रीमात्रका त्याग ब्रह्मचर्य-प्रतिमा है, (८) सर्व आरम्भका त्याग निरारम्भ प्रतिमा है, (९) पापके कारणभूत परिग्रहका त्याग सो परिग्रह त्याग प्रतिमा है (१०) पापकी शिक्षाका त्याग अनुमति त्याग प्रतिमा है, (११) अपने वास्ते बनाये हुए भोजनादिका त्याग उद्देश विरति प्रतिमा है । ये ग्यारह प्रतिमा देशव्रतधारी सम्यग्दृष्टी जीवोंकी जिनराजने कही हैं ॥ ५७ ॥

प्रतिमाका स्वरूप । दोहा ।

संजम अंस जग्यौ जहां, भोग अरुचि परिनाम ।
उदै प्रतिग्याकौ भयौ, प्रतिमा ताकौ नाम ॥ ५८ ॥

अर्थ—चारित्र्य गुणका प्रगट होना, परिणामोंका भोगोंसे विरक्त होना और प्रतिजाका उदय होना इसीको प्रतिमा कहते हैं ॥ ५८ ॥

दर्शन प्रतिमाका स्वरूप । दोहा ।

आठ मूलगुण संग्रहै, कुविसन क्रिया न कोइ ।
दरसन गुन निरमल करै, दरसन प्रतिमा सोइ ॥ ५९ ॥

अर्थ—दर्शन गुणकी निर्मलता, अष्ट मूलगुणोंका ग्रहण और सात कुव्यसनोंका त्याग इसे दर्शन प्रतिमा कहते हैं ॥ ५९ ॥

व्रत प्रतिमाका स्वरूप । दोहा ।

पंच अनुव्रत आदरै, तीनों गुनव्रत पाल ।
सिच्छाव्रत चारो धरै, यह व्रत प्रतिमा चाल ॥ ६० ॥

अर्थ—पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतके धारण करनेको व्रत प्रतिमा कहते हैं ।

१ पंचपरमेष्ठीमं भक्ति, जीवदया, पानी छानकर काममें लाना, मद्य त्याग, मांस त्याग, मधु त्याग, रात्रिभोजन त्याग और उदर फलोंका त्याग, ये आठ मूलगुण हैं । कहीं कहीं मद्य मांस मधु और पाँच पापके त्यागको अष्ट मूलगुण कहा है, और कहीं कहीं पाँच उदर फल और मद्य मांस मधुके त्यागको मूलगुण मतलाये हैं ।

विशेष—यहाँ पंच अणुत्रतका निरतिचार पालन होता है, पर गुणत्रत और शिक्षात्रतोंके अतीचार सर्वथा नहीं टलते ॥६०॥

सामायिक प्रतिमाका स्वरूप । दोहा ।

दर्व भाव विधि सजुगत, हिये प्रतिग्या टेक ।
तजि ममता समता ग्रहे, अतरमुहूरत एक ॥ ६१ ॥

घौपारै ।

जो अरि मित्र समान विचारै ।
आरत रौद्र कुध्यान निवारै ॥
सयम सहित भावना भावै ।
सो सामायिकवत कहावै ॥ ६२ ॥

शब्दार्थ—दर्व विधि=शास्त्र क्रिया—आसन, मुद्रा, पाठ, शरीर और वचनकी स्थिरता आदिकी सावधानी । भाव विधि=मनकी स्थिरता और परिणामोंमें समता भावना रखना । प्रतिज्ञा=आखड़ी । अरि=शत्रु । कुध्यान=खोटा विचार । निवारै=दूर करे ।

अर्थ—मनमें समयकी प्रतिज्ञापूर्वक द्रव्य और भाव विधि सहित, एक मुहूर्त्त अर्थात् दो घंटी तक ममत्व भाव रहित साम्य-भाव ग्रहण करना, शत्रु और मित्रपर एकसा भाव रखना, आर्त और रौद्र दोनों कुध्यानोंका निवारण करना और सयममें सावधान रहना सामायिक प्रतिमा कहाती है ॥ ६१ ॥ ६२ ॥

१ 'सव' ऐसा भी पाठ है । २ चौबीस मिनटकी एक घड़ी होती है ।

चौथी प्रतिमाका स्वरूप । दोहा ।

सामायिककीसी दसा, च्यारि पहरलौं होइ ।

अथवा आठ पहर रहै, प्रोसह प्रतिमा सोइ ॥ ६३ ॥

अर्थ—चारह घंटे अथवा चौबीस घंटे तक सामायिक जैसी स्थिति अर्थात् समता भाव रखनेको प्रोसह प्रतिमा कहते हैं ॥ ६३ ॥

पाँचवीं प्रतिमाका स्वरूप । दोहा ।

जो सचित्त भोजन तजै, पीवै प्राशुक नीर ।

सो सचित्त त्यागी पुरुष, पंच प्रतिग्यागीर ॥ ६४ ॥

अर्थ—सचित्त भोजनका त्याग करना और प्राशुक जल पान करना उसे सचित्तविरति प्रतिमा कहते हैं ।

विशेष—यहाँ सचित्त वनस्पतिको मुखसे विदारण नहीं करते ॥ ६४ ॥

छठी प्रतिमाका स्वरूप । चौपाई ।

जो दिन ब्रह्मचर्य व्रत पालै ।

तिथि आये निसि दिवस संभालै ॥

गहि नौ वाड़ि करै व्रत, रख्या ।

सो पद प्रतिमा श्रावक अख्या ॥ ६५ ॥

१ गर्म किया हुआ वा लवण इलायची राख आदि डालकर स्वाद बदल देनेसे प्राशुक पानी होता है ।

अर्थ—नव वाड़ सहित दिनम ब्रह्मचर्य व्रत पालन करना और
पर्व तिथियोंमें दिन रात ब्रह्मचर्य सम्हालना दिना मधुन व्रत
प्रतिमा है ॥ ६५ ॥

सातवीं प्रतिमाका स्वरूप । चौपाई ।

जो नौ वाडि सहित विधि साथै ।

निसि दिन ब्रह्मचर्य आराधै ॥

सो सप्तम प्रतिमा धर ग्याता ।

शील-शिरोमनि जगत विख्याता ॥६६॥

अर्थ—जो नव वाड़ सहित सदाकाल ब्रह्मचर्य व्रत पालन
करता है, वह ब्रह्मचर्य नामक मातृनीं प्रतिमाका धारी ज्ञानी जगत्
विख्यात शील शिरोमणि है ॥ ६६ ॥

नव वाड़के नाम । कवित्त ।

तियथल वास प्रेम रुचि निरखन,

दे परीछ भाखै मधु वैन ।

पूरव भोग केलि रस चितन,

गुरु आहार लेत चित चैन ॥

करि सुचि तन सिंगार वनावत,

तिय परजक मव्य सुख सैन ।

मनमथ-कथा उदर भरि भोजन,

ये नौवाडि कहै जिन वैन ॥ ६७ ॥

शब्दार्थ—तिपथल बास=स्त्रियोंके समुदायमें रहना । निरखन=देखना । पीठ (परोक्ष)=भ्रप्रत्यक्ष । गुरु आहार=गरिष्ठ भोजन । सुचि=पवित्र । परजंक=पलंग । मनमथ=काम । उदर=पेट ।

अर्थ—स्त्रियोंके समागममें रहना, स्त्रियोंको राग भरी दृष्टिसे देखना, स्त्रियोंसे परोक्षमें सराग सम्भाषण करना, पूर्वकालमें भोगे हुए भोग विलामोका स्मरण करना, आनन्ददायक गरिष्ठ भोजन करना, स्नान मजन आदिके द्वारा शरीरको आवश्यकतासे अधिक सजाना, स्त्रियोंके पलंग आसन आदिपर मोना घठना, कामकथा वा कामोत्पादक कथा गीतोंका सुनना, भूखसे अधिक अथवा खून पेट भर कर भोजन करना । इनके त्यागको जैनमतमें ब्रह्मचर्यकी नव वाङ्ग कहा है ॥ ६७ ॥

आठवीं प्रतिमाका स्वरूप । दोहा ।

जो विवेक विधि आदरै, करै न पापारंभ ।
सो अष्टम प्रतिमा धनी, कुगति विजै रनथंभ ॥६८॥

अर्थ—जो विवेक पूर्वक धर्ममें सावधान रहता है और सेवा रूपि वाणिज्य आदिका पापारंभ नहीं करता, वह कुगतिके रणथंभको जीतनेवाली आठवीं प्रतिमाका स्वामी है ॥ ६८ ॥

नवमी प्रतिमाका स्वरूप । चौपाई ।

जो दसधा परिग्रहकौ त्यागी ।
सुख संतोष सहित वैरागी ॥

१ दृष्टि-दोष घचानेके लिये परदा आदिनी ओटर्म संभाषण करना, अथवा पत्रव्यवहार करना ।

अर्थ—नव वाङ् सहित दिनमें ब्रह्मचर्य व्रत पालन करना और पर्व तिथियोंमें दिन रात ब्रह्मचर्य सम्हालना दिना मधुन व्रत प्रतिमा है ॥ ६५ ॥

सातवीं प्रतिमाका स्वरूप । चीपाई ।

जो नौ वाङ् सहित विधि साथै ।

निसि दिन ब्रह्मचर्य आराधै ॥

सो सप्तम प्रतिमा धर ग्याता ।

शील सिरोमनि जगत विख्याता ॥६६॥

अर्थ—जो नव वाङ् सहित सदाकाल ब्रह्मचर्य व्रत पालन करता है, वह ब्रह्मचर्य नामक सातवीं प्रतिमाका धारी ज्ञानी जगत विख्यात शील शिरोमणि है ॥ ६६ ॥

नव वाङ्के नाम । कवित्त ।

तियथल चास प्रेम रुचि निरसन,

दे परीछ भाखै मधु वैन ।

पूरव भोग केलि रस चितन,

गुरु आहार लेत चित चैन ॥

करि सुचि तन सिगार वनावत,

तिय परजक मध्य सुख सैन ।

मनमथ-कथा उदर भरि भोजन,

ये नौवाङ् कहै जिन वैन ॥ ६७ ॥

१ ' कहै मत जैन ' ऐसा भी पाठ है ।

शब्दार्थ—तिष्यल वास=स्त्रियोंके समुदायमें रहना । निरखन=देखना । परीठ (परोक्ष)=अप्रत्यक्ष । गुरु आहार=गरिष्ठ भोजन । मुचि=पवित्र । परजंक=पलग । मनमथ=काम । उदर=पेट ।

अर्थ—स्त्रियोंके समागममें रहना, स्त्रियोंको राग भरी दृष्टिसे देखना, स्त्रियोंसे परोक्षमें मराग मम्मापण करना, पूर्वकालमें भोगे हुए भोग पिलासोंका स्मरण करना, आनदढायक गरिष्ठ भोजन करना, स्नान मंजन आदिके द्वारा शरीरको आवश्यकतासे अधिक सजाना, स्त्रियोंके पलग आमन आदिपर सोना बैठना, कामकथा वा कामोत्पादक कथा गीतोंका सुनना, भूससे अधिक अथवा खून पेट भर कर भोजन करना । इनके त्यागको जैनमतमें ब्रह्मचर्यकी नव वाङ्ग कहा है ॥ ६७ ॥

जाठरीं प्रतिमाका स्वरूप । दोहा ।

जो विवेक विधि आदरै, करै न पापारंभ ।

सो अष्टम प्रतिमा धनी, कुगति विजै रनयंभ ॥६८॥

अर्थ—जो विवेक पूर्वक धर्ममें साधन रहता है और मंत्रा कृपि वाणिज्य आदिका पापारंभ नहीं करता, वह कुगतिके रण-थमको जीवनेवाली जाठरीं प्रतिमाका स्वामी है ॥ ६८ ॥

नवमी प्रतिमाका स्वरूप । चौपाई ।

जो दसधा परिग्रहको त्यागी ।

सुख संतोष सहित वैरागी ॥

* १ दृष्टि-दोष पचानेके लिये परदा आदिनी ओटमें समाप्त करके, अथवा पत्रव्यवहार करना ।

समरस सचित किंचित् ग्राही ।

सो श्रावक नौ प्रतिमा वाही ॥ ६९ ॥

अर्थ—जो वैराग्य और सतोपका आनन्द प्राप्त करता है, तथा दश प्रकारके परिग्रहोंसे थोड़ेसे वस्त्र व पात्र मात्र रखता है, वह माम्य भागका धारक नरमी प्रतिमाका स्वामी है ॥ ६९ ॥

दशवीं प्रतिमाका स्वरूप । दोहा ।

परकौ पापारभकौ, जो न देइ उपदेस ।

सो दसमी प्रतिमा सहित, श्रावक विगत कलेस ॥ ७० ॥

अर्थ—जो कुटुम्बी व अन्य जनोको चिन्ता, वाणिज्य आदि पापारभ करनेका उपदेश नहीं देता, वह पाप रहित दशवीं प्रतिमाका धारक है ॥ ७० ॥

ग्यारहवीं प्रतिमाका स्वरूप । चौपाई ।

जो सुछद वरतै तजि डेरा ।

मठ मडपमे करै वसेरा ॥

उचित आहार उदड विहारी ।

सौं एकादश प्रतिमा धारी ॥ ७१ ॥

अर्थ—जो पर छोडकर मठ मडपमे निवास करता है, और स्त्री पुत्र कुटुम्ब आदिसे विरक्त होकर स्वतन्त्र वर्तता है, तथा कृत कारित अनुमोदना रहित योग्य आहारग्रहण करता है, वह ग्यारहवीं प्रतिमाका धारक है ॥ ७१ ॥

प्रतिमाओंके सम्बन्धमें मुख्य उल्लेख । दोहा ।

एकादश प्रतिमा दसा, कहीं देसत्रत मांहि ।
वही अनुक्रम मूलसों, गहौ सु छूटै नाहिं ॥ ७२ ॥

अर्थ—देशत्रत गुणस्थानमें ग्यारह प्रतिमाएँ ग्रहण करनेका उपदेश है । मो शुरूसे उत्तरोत्तर अगीकार करना चाहिये और नीचेकी प्रतिमाओंकी क्रिया छोड़ना नहीं चाहिये ॥ ७२ ॥

प्रतिमाओंकी अपेक्षा श्रावकोंके भेद । दोहा ।

पट प्रतिमा तांई जघन, मध्यम नौ परजंत ।
उत्तम दसमी ग्यारमी, इति प्रतिमा विरतंत ॥ ७३ ॥

अर्थ—छठवीं प्रतिमा तक जघन्य श्रावक, नवमी प्रतिमा तक मध्यम श्रावक और दशवीं ग्यारहवीं प्रतिमा धारण करनेवालोंको उत्कृष्ट श्रावक कहते हैं । यह प्रतिमाओंका वर्णन पूरा हुआ ॥ ७३ ॥

पाँचवें गुणस्थानका काल । चौपाई ।

एक कोडि पूरव गिनि लीजै ।
तामें आठ वरस घटि कीजै ॥
यह उत्कृष्ट काल थिति जाकी ।
अंतरमुहूरत जघन दशाकी ॥ ७४ ॥

अर्थ—पाँचवें गुणस्थानका उत्कृष्ट काल आठ वर्ष कम एक कोटि पूर्व और जघन्य काल अंतरमुहूर्त है ॥ ७४ ॥

एक पूवका प्रमाण । दोहा ।

सत्तर लाख किरोर मित, छप्पन सहस किरोड ।
ऐते वरस मिलाइके, पूरव सख्या जोड़ ॥ ७५ ॥

अर्थ—सत्तर लाख छप्पन हजार एक करोडका गुणाकरनेसे जो सख्या प्राप्त होती है, उतने वर्षका एक वर्षमे पूरा होता है ॥ ७५ ॥

अतर्मुहूर्तका मान । दोहा ।

अतर्मुहूरत छै घरी, कछुक घाटि उतकिष्ट ।
एक समय एकावली, अतरमुहूर्त कनिष्ट ॥ ७६ ॥

अर्थ—दो घडीमेंसे एक समय कम अतर्मुहूर्तका उत्कृष्ट काल है और एक समय अधिक एक आंगली अतर्मुहूर्तका जघन्य काल है तथा बीचके असख्यात भेद हैं ॥ ७६ ॥

छठे गुणस्थानका स्वरूप । दोहा ।

पंच प्रमाद दशा धरै, अट्टाईस गुणवान ।

थविरकल्पि जिनकल्पि जुत, है प्रमत्तगुणथान ॥७५॥

अर्थ—जो मुनि अट्टाईस मूलगुणोंका पालन करते हैं, परन्तु पाँच प्रकारके प्रमादोमे किंचित वर्तते हैं, वे मुनि प्रमत्तगुणस्थानी हैं । इस गुणस्थानमे स्थविरकल्पी और जिनकल्पी दोनों प्रकारके साधु रहते हैं ॥ ७८ ॥

पाँच प्रमादोंके नाम । दोहा ।

धर्मराग विकथा वचन, निद्रा विषय कपाय ।

पंच प्रमाद दशा सहित, परमादी मुनिराय ॥७९॥

अर्थ—धर्ममे अनुराग, विकथावचन, निद्रा, विषय, कपाय ऐसे पाँच प्रमाद सहित साधु छठे गुणस्थानवर्ती प्रमत्तमुनि होते हैं ॥ ७९ ॥

साधुके अट्टाईस मूलगुण । सवैया इक्तीसा ।

पंच महाव्रत पालै पंच समिति संभालै,

पंच इंद्री जीति भयौ भोगी चित चैनकौ ।

पट आवश्यक क्रिया दर्वित भावित साधै,

१ २ यहाँ अनतानुबन्धी अप्रत्याख्यान प्रत्यारख्यान इन तीन चौकड़ीकी बारह कपायोंका अनौदय और संज्वलन कपायका तीव्र उदय रहता है, इससे वे साधु किंचित् प्रमादके वशमें होते हैं और शुभाचारमें विशेषतया वर्तते हैं । यहाँ विषय सेवन वा स्थूलरूपसे कपायमें बतनेका प्रयोजन नहीं है । हाँ, शिष्योंको ताडना आदिका विकल्प तो भी है ।

प्रासुक धरामै एक आसन है सैनकौ ॥
 मंजन न करै केश लुचै तन वस्त्र मुचै,
 त्यागै दतवन पै सुगंध स्वास वैनकौ ।
 ठाडौ करसे अहार लघुभुजी एक वार,
 अट्टाईस मूलगुनधारी जती जैनकौ ॥८०॥

शब्दार्थ—पंचमहाव्रत=पंच पापोंका सर्वथा त्याग । प्रासुक=जीव रहित । सैन (शयन)=सोना । मंजन=स्नान । केश=बाल । लुचै=उखाड़े । मुचै=छोड़े । करसे=हाथसे । लघु=थोड़ा । जती=साधु ।

अर्थ—पंच महाव्रत पालते हैं, पाँचों ममिति पूर्वक वर्तते हैं, पाँचों इन्द्रियोंके निषेधोंसे निरक्त होकर प्रसन्न होते हैं, द्रव्य और भान छह आवश्यक साधते हैं, तम जीव रहित भूमिपर करवट रहित शयन करते हैं, यावज्जीवन स्नान नहीं करते, हाथोंसे केश-लौच करते हैं, नग्न रहते हैं, दतवन नहीं करते, तो भी वचन और श्वासमें सुगंध ही निकलती है, खड़े भोजन लेते हैं, थोड़ा भोजन लेते हैं, भोजन दिनमें एक ही बार लेते हैं । ऐसे अट्टाईस मूल-गुणोंके धारक जैनसाधु होते हैं ॥ ८० ॥

पच अणुव्रत और पच महाव्रतका स्वरूप । दोहा ।

हिंसा मृपा अदत्त धन, मैथुन परिगह साज ।
 किंचित त्यागी अनुव्रती, सब त्यागी मुनिराज ॥८१॥

शब्दार्थ—मृपा=झूठ । अदत्त=बिना दिया हुआ ।

अर्थ—हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह इन पाँचों पापोंके किंचित् त्यागी अणुव्रती श्रावक और सर्वथा त्यागी महाव्रती साधु होते हैं ॥ ८१ ॥

पंच समितिका स्वरूप । दोहा ।

चलै निरखि भाखै उचित, भखै अदोष अहार ।

लेइ निरखि डारै निरखि, समिति पंच परकार ॥ ८२ ॥

अर्थ—जीव जन्तुकी रक्षाके लिये देखकर चलना ईर्ष्यासमिति है, हित मित प्रिय वचन बोलना भाषासमिति है, अन्तराय रहित निर्दोष आहार लेना एषणासमिति है, शरीर, पुस्तक, पीठी, कमण्डलु आदिको देख शोध कर उठाना रचना आदाननिक्षेपणसमिति है, त्रस जीव रहित प्राशुक भूमिपर मल मूत्रादिका छोड़ना प्रतिष्ठापनासमिति है, ऐसी ये पाँच समिति हैं ॥ ८२ ॥

छह आवश्यक । दोहा ।

समता वंदन थुति करन, पडकौना सज्जाव ।

काउसगग मुद्रा धरन, पडावसिक ये भाव ॥ ८३ ॥

शब्दार्थ—समता=सामायिक करना । वंदन=चौरीस तीर्थकरों वा गुरु आदिकी वदना करना । पडकौना (प्रतिक्रमण)=लगे हुए दोषोंपर पश्चात्ताप करना । सज्जाव=स्वाध्याय । काउसगग (कार्योत्सर्ग)=खड्गासन होकर ध्यान करना । पडावसिक=छह आवश्यक ।

अर्थ—सामायिक, वदना, स्तवन, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय और कार्योत्सर्ग ये साधुके छह आवश्यक कर्म हैं ॥ ८३ ॥

स्थविरकल्पी और जिनकल्पी साधुओंका स्वरूप । सबैया इकतीसा ।

थविरकल्पि जिनकल्पि दुविधि मुनि,
 दोऊ वनवासी दोऊ नगन रहतु है ।
 दोऊ अठाईस मूलगुनके धरैया दोऊ,
 सरव त्यागी व्हे विरागता गहतु है ॥
 थविरकल्पि ते जिनके शिष्य साखा होइ,
 बैठिकै सभामें धर्मदेसना कहतु है ।
 एकाकी सहज जिनकल्पि तपस्वी घोर,
 उदैकी मरोरसौ परिसह सहतु है ॥ ८४ ॥

अर्थ—स्थविरकल्पी और जिनकल्पी ऐसे दो प्रकारके जैन साधु होने हैं । दोनों वनवासी हैं, दोनों नग्न रहते हैं, दोनों अठाईस मूलगुणके धारक होते हैं, दोनों सर्व परिग्रहके त्यागी वैरागी होते हैं । परन्तु स्थविरकल्पी साधु शिष्य समुदायके साथमें रहते हैं, तथा सभामें बैठकर धर्मोपदेश देते और सुनते हैं, पर जिनकल्पी साधु शिष्य समूह छोड़कर निर्भय अकेले निचरते हैं और महा तपश्चरण करते हैं, तथा कर्मके उदयसे आई हुई बार्दम परीपह महते हैं ॥ ८४ ॥

घेदनीय कर्मजनित ग्यारह परीपह । सबैया इकतीसा ।

श्रीपममें घूपथित सीतमें अकपचित,
 भूसै धरें धीर प्यासै नीर न चहतु हैं ।

डंस मसकादिसौ न डरै भूमि सैन करै,
 वध वंध वियामै अडौल है रहतु हैं ॥
 चर्या दुख भरै तिन फाससौ न थरहरै,
 मल दुरगंधकी गिलानि न गहतु है ।
 रोगनिकौ न करै इलाज ऐसौ मुनिराज,
 वेदनीके उदै ये परीसह सहतु है ॥ ८५ ॥

अर्थ—गर्मीके दिनोमे धूपमे खडे रहते है यह उष्ण परी-
 पहजय है, शीत ऋतुमे जाड़ेसे नहीं डरते यह शीतपरीपहजय
 है, भूख लगे तन धीरज रखते है, यह भूखपरीपहजय है, प्यासमे
 पानी नहीं चाहते यह तृषापरीपहजय है, डारस मच्छरका भय
 नहीं करते, यह दशमशरूपरीपहका जीतना है, धरतीपर सोते है
 यह शय्यापरीपहजय है, मारने राधनेके कष्टमे अचल रहते है
 यह वधपरीपहजय है, चलनेका कष्ट सहते है यह चर्यापरीपह-
 जय है, तिनका काँटा लग जावे तो घनराते नहीं यह तृणस्पर्श-
 परीपहका जीतना है, मल और दुर्गंधित पदार्थोंसे ग्लानि नहीं
 करते यह मलपरीपहजय है, रोगजनित कष्ट सहते है, पर उसके
 निवारणका उपाय नहीं करते, यह रोगपरीपहजय है । इस प्रकार
 वेदनीयकर्मके उदयजनित ग्यारह परीपह मुनिराज सहते हैं ॥८५॥

चारित्रमोहजनित सात परीपह । कुण्डलिया ।

ऐतै संकट मुनि सँहै, चारितमोह उदोत ।
 लज्जा संकुच दुख धरै, नगन दिगंबर होत ॥

स्थविरकल्पी और जिनकल्पी साधुओंका स्वरूप ।

थविरकल्पि जिनकल्पि दुविधि मुनि
 दोऊ वनवासी दोऊ नगन रहतु
 दोऊ अठाईस मूलगुनके धरैया दोऊ
 सरव त्यागी व्है विरागता गहतु
 थविरकल्पि ते जिनके शिष्य साखा
 वैठिकै सभामे धर्मदेसना कहतु
 एकाकी महज जिनकल्पि तपस्वी
 उदैकी मरोरमौ परिसह सहतु

अथ—स्थविरकल्पी और जिनकल्पी ऐसे
 साधु होत है। दोनो वनवासी है, दोनों नग रहतु
 ईस मूलगुणके वारक होते है, दोनों सर्व
 वरागी होते हैं। परन्तु स्थविरकल्पी साधु
 मायमे रहते है, तथा सभामे बैठकर धर्मोपदे
 है, पर जिनकल्पी साधु शिष्य समूह छोड़
 निचरते हैं और महा तपश्चरण करते हैं, तथा
 हुई चाईम परीपह महते है ॥ ८४ ॥

वेदनीय कर्मजनित ग्यारह पटीपह । सवै
 श्रीपममे धूपयित सीतमे अकपा
 भूसे धरे धीर प्यामै नीग न

डंस मसकारिसों न डरे भूमि सैन करे,
 बध बध वियामे अडौल है रहतु है ॥
 चर्या दुख भरे तिन फाससों न थरहरे,
 मल दुरगंधकी गिलानि न गहतु है ।
 रोगनिकों न करे इलाज ऐसो मुनिराज,
 वेदनीके उदे ये परोसह सहतु है ॥८५॥

अर्थ—गर्मीके दिनोंमें धूपमें सड़े रहतें हैं यह उष्ण परी-
 पहजय है, शीत क्रतुम जाड़में नहीं डरते यह शीतपरीपहजय
 है, भूख लगे तत्र घोरज रसते है, यह भूखपरीपहजय है, प्यासमें
 पानी नहीं चाहते यह तृष्णपरीपहजय है, टाम मन्डरका भय
 नहीं करते, यह दंशमशरूपरीपहका जीवना है, परतीपर मोते है
 यह शय्यापरीपहजय है, मारने बांधनेके शय्यम अचल रहते है
 यह बधपरीपहजय है, चलनेका कष्ट महते है यह चर्यापरीपह-
 जय है, तिनका कौटा लग जावे तो धराने नहीं यह तृष्णपरी-
 परीपहका जीवना है, मल और दुर्गंधित पदार्थोंसे न्यानि नहीं
 करत यह मलपरीपहजय है, रोगनित कष्ट सहते है, पर उसके
 निवारणका उपाय नहीं करते, यह रोगपरीपहजय है । इस प्रकार
 वेदनीयकर्मके उदयनित ग्यागह परीपह मुनिराज महते है ॥८५॥

चारित्र्यमाहजनित सात्र परीपह । कुम्बछिया ।

पते संकट मुनि सहै, चारित्तमोह उद्धात ।
 लज्जा संकुच दुख धरे, नगन दिगंबर होत ॥

नग्न दिग्म्बर होत, श्रोत रति स्वाद न सेवें ।
 तिय सनमुख दृग रोकि, मान अपमान न वेवें ॥
 थिर है निरभै रहै, सहै कुवचन जग जेतै ।
 भिच्छुकपद सग्रहै, लहै मुनि सकट ऐतै ॥ ८६ ॥

शब्दार्थ—सकट=दुःख । उदोत=उदयसे । श्रोत=ज्ञान । दृग=
 नेत्र । ववै (वेवै)=भोगे । कुवचन=गाली । भिच्छुक=याचना ।

अर्थ—चारित्रमोहके उदयसे मुनिराज निम्न लिखित मात
 परीपह सहते हैं अर्थात् जीतते हैं ।

(१) नग्न दिग्म्बर रहनेसे लज्जा और सकोचजनित दुःख
 सहते हैं, यह नग्नपरीपहजय है, (२) कर्ण आदि इन्द्रियोंके
 निषेधोत्त अनुराग नहीं करना सो अरतिपरीपहजय है । (३)
 स्त्रियोंके हाव भावमे मोहित नहीं होना, स्त्रीपरीपहजय है । (४)
 मान अपमानकी परवाह नहीं करते यह सत्कारपुरस्कारपरीपह-
 जय है । (५) भयका निमित्त मिलनेपर भी आसन ध्यानसे
 नहीं हटना, सो निषद्यापरीपहजय है । (६) मूर्खोंके कटु व-
 चन सह लेना, जाक्रोशपरीपहका जीतना है । (७) प्राण जावे
 तो भी आहारादिकके लिये दीनतारूप प्रवृत्ति नहीं करना, यह
 याचनापरीपहजय है । ये सात परीपह चारित्रमोहके उदयसे
 होती हैं ॥ ८६ ॥

ज्ञानवरणीयजनित दो परीपह । बोधा ।

अल्प ग्यान लघुता लखै, मति उत्तरप विलोइ ।
 ज्ञानावरन उदोत मुनि, सहै परीसह दोइ ॥ ८७ ॥

अर्थ—ज्ञानावरणीयजनित दो परीपहं हैं । अल्पज्ञान, होनेसे लोग छोटा गिनते हैं, इससे जो दुस होता है उसे साधु सहते हैं, यह अज्ञानपरीपहजय है । ज्ञानकी विशालता होनेपर गर्व नहीं करते, यहप्र ज्ञापरीपहजय है । ऐसी ये दो परीपह ज्ञानावरणीय कर्मके उदयसे जैन साधु सहते हैं ॥ ८७ ॥

दर्शनमोहनीयजनित एक और अतरायजनित एक परीपह । दोहा ।

सहै अदरसन दुरदसा, दरसन मोह उदोत ।
रोकै उमग अलाभकी, अंतरायके होत ॥ ८८ ॥

अर्थ—दर्शनमोहनीयके उदयसे सम्यग्दर्शनमें कदाचित् दोष उपजे तो वे साधुधान रहते हैं—चलायमान नहीं होते, यह दर्शनपरीपहजय है । अतरायकर्मके उदयसे वाञ्छित पदार्थकी प्राप्ति न हो, तो जैन मुनि खेद खिन्न नहीं होते, यह अलाभपरीपहजय है ॥ ८८ ॥

षाईस परीपहोंका घर्णन । सर्वैया इक्तीसा ।

एकादस वेदनीकी, चारितमोहकी सात,
ग्यानावरनीकी दोइ, एक अंतरायकी ।
दरसनमोहकी एक, द्वाविसति वाधा सबै,
केई मनसाकी, केई वाकी, केई कायकी ॥
काहूकौ अल्प काहूकौ बहुत उनीस ताई,
एक ही समैमै उदै आवै असहायकी ।

चर्या थित सज्जामांहि एक सीत उख मांहि,
एक दोइ होहि तीन नाहि समुदायकी ॥८९

शब्दार्थ—मनसाकी=मनकी । वाकी (वाक्यकी)=वचनकी ।
काय=शरीर । सज्जा=शय्या । समुदाय=एक साथ ।

अर्थ—वेदनीयकी ग्यारह, चारित्रमोहनीयकी मात, ज्ञाना-
वरणीयकी दो, अतरायकी एक और दर्शनमोहनीयकी एक ऐसी
सत्र षाईस परीपह हैं । उनमेसे कोई मनजनित, कोई वचनजनित
और कोई कायजनित है । इन षाईस परीपहोंमेसे एक समयमे
एक माधुको अधिकसे अधिक उन्नीस तक परीपह उदय आती
है । क्योंकि चर्या, जासन और शय्या इन तीनमेसे कोई एक
और शीत उष्णमेसे कोई एक, इस तरह पाँचमे दोका उदय होता
है शेष तीनका उदय नहीं होता ॥ ८९ ॥

स्थविरकल्पी और जिनकल्पी साधुकी तुलना । दोहा ।

नाना विधि सकट-दसा, सहि साथै सिवपथ ।
थविरकल्पि जिनकल्पि घर, दोऊ सम निगरंथ ॥९०
जो मुनि सगतिमै रहै, थविरकल्पि सौ जान ।
एकाकी जाकी दसा, सो जिनकल्पि बखान ॥९१॥

अर्थ—स्थविरकल्पी और जिनकल्पी दोना प्रकारके माधु
एकसे निर्ग्रन्थ होते हैं और अनेक प्रकारकी परीपह जीतकर मोक्ष-
मार्ग साधते हैं ॥ ९० ॥ जो साधु सधमे रहते हैं वे स्थविरकल्प-
धारी हैं और जो एकल विहारी हैं वे जिनकल्पधारी हैं ॥ ९१ ॥

चौपाई ।

थविरकल्पि धर कछुक सरागी ।

जिनकलपी महान वैरागी ॥

इति प्रमत्तगुणस्थानक धरनी ।

पूरन भई जथारथ वरनी ॥ ९२ ॥

अर्थ— स्थविरकल्पी साधु किंचित् सरागी होते हैं, और जिन-
कल्पी साधु अत्यन्त वैरागी होते हैं । यह छठे गुणस्थानका यथार्थ
स्वरूप वर्णन किया ॥ ९२ ॥

सप्तम गुणस्थानका वर्णन । चौपाई ।

अव वरनौ सप्तम विसरामा ।

अपरमत्त गुणस्थानक नामा ॥

जहां प्रमाद क्रिया विधि नासै ।

धरम ध्यान थिरता परगासै ॥ ९३ ॥

अर्थ—अत्र स्थिरताके स्थान अप्रमत्तगुणस्थानका वर्णन
करते हैं, जहाँ धर्मध्यानमें चचलता लानेवाली पच प्रकारकी
प्रमाद क्रिया नहीं है और मन धर्म ध्यानमें स्थिर होता है ॥९३॥

दोहा ।

प्रथम करन चारित्रकौ, जासु अत पद होइ ।

जहां अहार विहार नहि, अपरमत्त है सोइ ॥ ९४ ॥

दशवें गुणस्थानका घर्षण । चौपाई ।

कहों दसम गुनथान दुसाखा ।

जहँ सूछम सिक्की अभिलाखा ॥

सूछमलोभ दमा जहँ लहिये ।

सूछमसांपराय सो कहिये ॥ ९९ ॥

अर्थ—अब दशवें गुणस्थानका वर्णन करता हूँ, जिसमें आठवें और नवमं गुणस्थानके समान उपशम और क्षायिकश्रेणीके भेद हैं । जहाँ मोक्षकी अत्यन्त सूक्ष्म अभिलाषा मात्र है, वहाँ सूक्ष्म लोभका उदय है इससे इसे सूक्ष्मसाम्पराय कहते हैं ॥ ९९ ॥

ग्यारहवें गुणस्थानका घर्षण । चौपाई ।

अब उपशांतमोह गुनथाना ।

कहो तासु प्रभुता परवांना ॥

जहां मोह उपशमै न भामै ।

यथाख्यातचारित परगासै ॥ १०० ॥

अर्थ—अब ग्यारहवें गुणस्थान उपशांतमोहकी सामर्थ्य कहता हूँ, यहाँ मोहका सर्वथा उपशम है—बिल्कुल उदय नहीं दिखता और जीवका यथाख्यातचारित्र प्रगट होता है ॥ १०० ॥

पुन । दोहा ।

जाहि फरसकै जीव गिर, परै करै गुन रह ।

सो एकादशम दमा . . .

॥ १०१ ॥

अर्थ—जिस गुणस्थानको प्राप्त होकर जीव जघन्य ही गिरता है, और प्राप्त हुए गुणोंको नियमसे नष्ट करता है, वह उपशम चारित्रकी चरम सीमा प्राप्त करनेवाला ग्यारहवा गुणस्थान है ॥ १०१ ॥

बारहवें गुणस्थानका वर्णन । चौपाई ।

केवलग्यान निकट जहँ आवै ।

तहाँ जीव सब मोह खिपावै ॥

प्रगटै यथाख्यात परधाना ।

सो द्वादसम खीनगुनठाना ॥ १०२ ॥

अर्थ—जहाँ जीव मोहको सर्वथा क्षय करता है, वा केवल-ज्ञान विलकुल समीप रह जाता है और यथाख्यातचारित्र प्रगट होता है, वह क्षीणमोह नामक बारहवाँ गुणस्थान है ॥ १०२ ॥

उपशमश्रेणीकी अपेक्षा गुणस्थानोंका काल । दोहा ।

पट सातैं आठें नवैं, दस एकादस थान ।

अंतरमुहूरत एक वा, एक समै थिति जान ॥ १०३ ॥

अर्थ—उपशम श्रेणीकी अपेक्षा छठे, सातवें, आठवें, नवमे, दशवें और ग्यारहवें गुणस्थानका उत्कृष्ट काल अतर्मुहूर्त वा जघन्य काल एक समय है ॥ १०३ ॥

क्षपकश्रेणीमें गुणस्थानोंका काल । दोहा ।

छपकश्रेणि आठें नवैं, दस अर वलि वार ।

थिति उत्कृष्ट जघन्य भी, अतरमुहूरत काल ॥ १०४ ॥

१-२ यह प्राप्त र और ल की कहीं कहीं सवर्णताकी नीतिसे निर्दाप है—“रल-
मो सावर्ण्यं वा वक्तव्य ” सारस्वत व्याकरण ।

अर्थ—क्षपकत्रेणीमे आठवें, नयमे, दशमे और बारहवें गुणस्थानकी उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त तथा जघन्य मी अन्तर्मुहूर्त है ॥ १०४ ॥

तेरहवें गुणस्थानका वर्णन । दोहा ।

छीनगोह पूरन भयौ, करि चूरन चित-चाल ।
अव सजोगगुणधानकी, वरनौ दसा रसाल ॥१०५॥

अर्थ—चित्तकी वृत्तिको चूर्ण करनेवाले क्षीणमोहगुण स्थानका कथन समाप्त हुआ, अब परमानन्दमय सयोगगुणस्थानकी अवस्था वर्णन करता हूँ ॥ १०५ ॥

तेरहवें गुणस्थानका स्वरूप । सवैया इकतीसा ।

जाकी दुसदाता घाती चौकरी विनसि गई,
चौकरी अघाती जरी जेवरी समान है ।
प्रगट भयौ अनतदसन अनतग्यान,
वीरजअनत सुख सत्ता समाधान है ॥
जामे आउ नाम गोत वेदनी प्रकृति अस्सी,
इक्यासी चौरासी वा पचासी परवान है ।
सो है जिन केवली जगतवासी भगवान,
ताकी जो अवस्था सो सजोगीगुणधान है ॥

शब्दार्थ—चौकरी=चार । विनसि गई=नष्ट हो गई । अनतदशन=अनंतदशन । समाधान=सम्पन्न । जगतवासा=ससारी, शरीर सहित ।

१ अर्थ—जिस मुनिके दुःखदायक घातिया चतुष्क अर्थात् ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अतराय नष्ट हो गये हैं और अघातिया चतुष्क जरी जेवरीके समान शक्ति हीन हुए हैं, जिसको अनंतदर्शन, अनंतज्ञान, अनंतवीर्य, अनंतसुख सत्ता और परमात्रगाढ़सम्यक्त्व प्रगट हुए हैं। जिसकी आयु नाम गोत्र और वेदनीय कर्मोंकी मात्र अस्सी, इक्यासी, चौरासी वा पचासी प्रकृतियोंकी सत्ता रह गई है, वह केवलज्ञानी प्रभु ससारमे सुशोभित होता है, और उसीकी अवस्थाको सयोगकेबली गुणस्थान कहते हैं ।

विशेष—तेरहवें गुणस्थानमे जो पचासी प्रकृतियोंकी सत्ता कही गई है, सो यह सामान्य कथन है । किसी किसीको तो तीर्थकर प्रकृति, आहारक शरीर, आहारक आगोपाग, आहारक बंधन, आहारक सघात सहित पचासी प्रकृतियोंकी सत्ता रहती है, पर किसीको तीर्थकर प्रकृतिका सत्व नहीं होता, तो चौरासी प्रकृतियोंकी सत्ता रहती है, और किसीको आहारक चतुष्कका सत्व नहीं रहता और तीर्थकर प्रकृतिका सत्व रहता है, तो इक्यासी प्रकृतियोंकी सत्ता रहती है, तथा किसीको तीर्थकर प्रकृति और आहारक चतुष्क पाँचोंका सत्व नहीं रहता, मात्र अस्सी प्रकृतियोंकी सत्ता रहती है ॥ १०६ ॥

केवलज्ञानीकी मुद्रा और स्थिति । सवैया इकतीसा ।

जो अडोल परजंक मुद्राधारी सरवथा,

अथवा सु काउसगग मुद्रा थिरपाल है ।

१ यहाँ मन वचन कायके सात योग होते हैं, इससे इस गुणस्थानका नाम सयोगकेबली है । २ पचासी प्रकृतियोंके नाम पहले अधिकारमें कह धाये हैं ।

खेत सपरस कर्म प्रकृतिके उदै आयै,
 विना डग भरै अतरीच्छ जाकी चाल है ॥
 जाकी थिति पूरव करोड आठ वर्ष घाटि,
 अतरमुहूरत जघन्य जग-जाल है ।
 सो है देव अठारह दूपन रहित ताकौ,
 वानारसि कहै मेरी वदना त्रिकाल है ॥१०७॥

शब्दार्थ—अडोल=अचल । परजरु मुद्रा=पद्मासन । काठसग
 (कायोत्सर्ग)=खड़े आसन । अतराच्छ=अधर । त्रिकाल=सदैव ।

अर्थ—जो केवलज्ञानी भगवान् पद्मासन जयवा कायोत्सर्ग
 मुद्रा धारण किये हुए है, जो क्षेत्र स्पर्श नामकर्मकी प्रकृतिके
 उदयसे विना कदम रखे अधर गमन करते हैं, जिनकी ससार
 स्थिति उत्कृष्ट आठ वर्ष कम एक करोड पूर्वकी और जघन्य
 स्थिति जन्तुमुहूर्तकी है, वे सर्वज्ञदेव अठारह दोष रहित हैं ।
 पं० धनारसीदासजी कहते हैं कि उन्हे मेरी त्रिकाल वन्दना
 है ॥ १०७ ॥

केवली भगवानको अठारह दोष नहीं होते । गुण्डलिया ।

दूपन अठारह रहित, सो केवलि सजोग ।
 जनम मरन जाके नहीं, नहि निद्रा भय रोग ॥

१ मोक्षगामी जीवोंकी उत्कृष्ट आयु चौथे कालकी अपक्षा एक कोटि पूर्वकी
 है और आठ वर्षकी उमरतक केवलज्ञान नहीं जगता ।

नहिं निद्रा भय रोग, सोग विस्मय न मोह माति ।
जरा खेद परस्वेद, नांहि मद वैर विषै रति ॥
चिंता नांहि सनेह, नांहि जहँ प्यास न भूखन ।
थिर समाधि सुख सहित, रहित अठारह दूपन । १०८

शब्दार्थ—सोग=शोक । विस्मय=आश्चर्य । जरा=बुढ़ापा । परस्वेद
(प्रस्वेद)=पसीना । सनेह=राग ।

अर्थ—जन्म, मृत्यु, निद्रा, भय, रोग, शोक, आश्चर्य, मोह,
बुढ़ापा, खेद, पसीना, गर्व, द्वेष, रति, चिंता, राग, प्यास, भूख
ये अठारह दोष सयोगकेनली जिनराजको नहीं होते, और निर्वि-
कल्प आनदमे सदा लीन रहते हैं ॥ १०८ ॥

केवलज्ञानीप्रभुके परमौदारिक शरीरका अतिशय । कुण्डलिया ।

वानी जहां निरच्छरी, सप्त धातु मल नांहि ।
केस रोम नख नहि वढे, परम उदारिक मांहि ॥
परम उदारिक मांहि, जांहि इंद्रिय विकार नसि ।
यथाख्यातचारित, प्रधान थिर सुकल ध्यान ससि ॥
लोकालोक प्रकास-करन केवल रजधानी ।
सो तेरम गुनथान, जहां अतिशयमय वानी ॥ १०९ ॥

शब्दार्थ—निरच्छरी=अक्षर रहित । केस (केश)=नाल । नख=
नाखून । उदारिक (औदारिक)=स्थूल । ससि (शशि) चन्द्रमा ।

अर्थ—तेरहवें गुणस्थानमें भगवानकी अतिशयमय निरक्षरी दिव्यध्वनि खिरती है। उनका परमाँदारिक शरीर सप्त धातु और मल मूत्र रहित होता है। केश रोम और नाखून नहीं बढ़ते, इन्द्रियोंके विषय नष्ट हो जाते हैं, पवित्र यथाग्यात-चारित्र्य प्रगट होता है, स्थिर शुक्लध्यानरूप चन्द्रमाका उदय होता है, लोकालोकके प्रकाशक केवलज्ञानपर उनका साम्राज्य रहता है ॥ १०९ ॥

चौदहवें गुणस्थानका वर्णन। प्रतिज्ञा। दोहा।

यह सयोगगुणस्थानकी, रचना कही अनूप।

अब अयोगकेवल दसा, कहूँ जथारथ रूप ॥११०॥

अर्थ—यह सयोगी गुणस्थानका वर्णन किया, अब अयोग-केवली गुणस्थानका वास्तविक वर्णन करता हूँ ॥ ११० ॥

चौदहवें गुणस्थानका स्वरूप। सवैया इकतीसा।

जहां काहूँ जीवको असाता उदै साता नाहिं,

काहूँको असाता नाहिं, साता उदै पाइयै।

मन वच कायासौ अतीत भयौ जहां जीव,

जाको जसगीत जगजीतरूप गाइयै ॥

जामें कर्म प्रकृतिकी सत्ता जोगी जिनकीनी,

अतकाल द्वै समैसै सकल सिपाइयै।

जाकी थिति पंच लघु अच्छर प्रमान सोई,

चौदहों अजोगीगुनठाना ठहराइयै ॥१११॥

शब्दार्थ—अतीत=रहित । विपाइयै=क्षय करते हैं । लघु=ह्रस्व ।

अर्थ—जहाँपर किसी जीवको असाताका उदय रहता है साताका नहीं रहता, और किसी जीवको साताका उदय रहता है असाताका नहीं रहता, जहाँ जीवके मन वचन कायके योगोंकी प्रवृत्ति सर्वथा शून्य हो जाती है, जिनके जगज्जयी होनेके गीत गाये जाते हैं, जिनको सयोगी जिनके समान अघातिया कर्म प्रकृतियोंकी सत्ता रहती है, सो उन्हें अन्तके दो समयोंमें सर्वथा क्षय करते हैं, जिन गुणस्थानका काल ह्रस्व पच अक्षर प्रमाण है, वह अयोगी जिन चौदहवाँ गुणस्थान है ॥ १११ ॥

इति चतुर्दश गुणस्थानाधिकार वर्णन समाप्त ।

घघका मूल आस्रव और मोक्षका मूल सवर है । दोहा ।

चौदह गुणस्थानक दसा, जगवासी जिय भूल ।

आस्रव संवर भाव छै, बंध मोखके मूल ॥ ११२ ॥

अर्थ—गुणस्थानोंकी ये चौदह अग्रस्थाएँ ससारी अशुद्ध जीवोंकी हैं । आस्रव और सवर भाव, बंध और मोक्षकी जड़ हैं अर्थात् आस्रव बंधकी जड़ है और सवर मोक्षकी जड़ है ॥११२॥

सवरको नमस्कार । चौपाई ।

आस्रव संवर परनति जौलौं ।

जगतनिवासी चेतन तौलौं ॥

१ केवलगानी भगवानको असाताका उदय बाँचकर विस्मित नहीं होना चाहिये । वहाँ असाता कर्म, उदयमें सातारूप परिणमता है ।

२ पुनि चौदहें चौथे सुकलवल घहत्तर तेरह हतीं,

‘जिनेन्द्रपंचकल्याणक’

आस्रव संवर विधि विवहारा ।

दोऊ भव-पथ सिव पथ धारा ॥ ११३ ॥

आस्रवरूप वध उत्पाता ।

सवर ग्यान मोस्र-पद-दाता ॥

जा सवरसों आस्रव छीजै ।

ताकों नमस्कार अव कीजै ॥ ११४ ॥

अर्थ—जब तक आस्रव और सवरके परिणाम है, तब तक जीवका समारमे निवास है । उन दोनोंमें आस्रव विधिकी व्यवहार समार मार्गकी परणति है, और सवर विधिकी व्यवहार मोक्ष मार्गकी परणति है ॥ ११३ ॥ आस्रव वधका उत्पादक है और सवर ज्ञानका रूप है, मोक्षपदका देनेवाला है । जिस संवरसे आस्रवका अभाव होता है, उसे नमस्कार करता हूँ ॥ ११४ ॥

प्रथके अतमें सवरस्वरूप ज्ञानको नमस्कार ।

जगतके प्रानी जीति है रह्यौ गुमानी ऐसौ,

आस्रव असुर दुखदानी महाभीम है ।

ताकौ परताप सडिवैकों प्रगट भयौ,

धर्मकौ धरैया कर्म रोगकौ हकीम है ॥

जाकै परभाव आगै भागै परभाव सब,

- नागर नवल सुरसागरकी सीमि है । -

संवरकौ रूप धरै साधै सिवराह ऐसौ,
ग्यान पातसाह ताकौं मेरी तसलीम है ॥११५

शब्दार्थ—गुमानी=अभिमानी । असुर=राक्षस । महाभीम=महा भयानक । परताप (प्रताप)=तेज । खंडियैकौं=नष्ट करनेके लिये । हकीम=वैद्य । परभाव (प्रभाव)=पराक्रम । परभाव=पुद्गलजनित विकार । नागर=चतुर । नवल=नवीन । सीम=मर्यादा । पातशाह=वादशाह । तसलीम=चन्दना ।

अर्थ—आसुररूप राक्षस जगतके जीवोंको अपने वशमे करके अभिमानी हो रहा है, जो अत्यन्त दुःखदायक और महा भयानक है, उसका वैभव नष्ट करनेके लिये जो उत्पन्न हुआ है, जो धर्मका धारक है, कर्मरूप रोगके लिये वैद्यके समान है, जिसके प्रभावके आगे परद्रव्य जनित राग द्वेष आदि विभाव दूर भागते है, जो अत्यन्त प्रवीन और अनादिकालसे नहीं पाया था इसलिये नवीन है, जो सुरके समुद्रकी सीमाको प्राप्त हुआ है, जिसने सरका रूप धारण किया है, जो मोक्षमार्गका साधक है, ऐसे ज्ञानरूप वादशाहको मेरा प्रणाम है ॥ ११५॥

तेरहवे अधिकारका सार ।

जिम प्रकार सफेद वस्त्रपर नाना रँगोंका निमित्त लगनेसे वह अनेकाकार होता है, उसी प्रकार शुद्ध बुद्ध आत्मापर अनादिकालसे मोह और योगोंका सम्बन्ध होनेसे उसकी ससारी दशमे अनेक अवस्थाएँ होती हैं, उनहीका नाम गुणस्थान है । यद्यपि वे अनेक है पर शिष्योंके सम्बोधनार्थ श्रीगुरुने १४ बतलाये है ।

ये गुणस्थान जीरके स्वभाव नहीं हैं, पर अजीरमे नहीं पाये जाते, जीरमे ही होते हैं, इसलिये जीरके विभाव है, अथवा यों कहना चाहिये कि, व्यग्रहार नयसे गुणस्थानोकी अपेक्षा संसारी जीवोंके चौदह भेद हैं ।

पहले गुणस्थानमे मिथ्यात्व, दूसरेमे अनंतानुबधी, तीसरेमे मिश्रमोहनीयका उदय मुख्यतया रहता है, और चौथे गुणस्थानमे मिथ्यात्व अनंतानुबधी और मिश्रमोहनीयका, पाँचवेंमे अप्रत्याग्यानापरणीयका, छठेमे प्रत्याग्यानापरणीयका अनोदय रहता है । सातव जाठों और नवमेमे सञ्जलनका क्रमशः मंद, मंदतर, मंदतम उदय रहता है, दसवेंमे सञ्जलन सूक्ष्मलोभ मात्रका उदय और सर्वमोहका अनोदय है, ग्यारहवेंमे सर्वमोहका उपशम और बारहवेंमे सर्वमोहका क्षय है । यहाँ तक छद्मस्थ अवस्था रहती है, केवलज्ञानका विकाश नहीं है । तेरहवेंमे पूर्णज्ञान है परन्तु योगोंके द्वारा आत्मप्रदेश सकप होते हैं, और चौदहवें गुणस्थानमे केवलज्ञानी प्रभुके आत्म प्रदेश भी स्थिर हो जाते हैं । सभी गुणस्थानोंमे जीव सदेह रहता है, सिद्ध भगवान् गुणस्थानोंकी कल्पनासे रहित है, इसलिये गुणस्थान जीवके निज स्वरूप नहीं हैं, पर हैं, परजनित हैं, ऐसा जानकर गुणस्थानोंके विकल्पोंसे रहित शुद्ध बुद्ध जात्माका अनुभव करना चाहिये ।

ग्रंथ समाप्ति और अन्तिम प्रशस्ति ।

चीपाई ।

भयौ ग्रंथ संपूरन भाखा ।

वरनी गुणस्थानककी साखा ॥

वरनन और कहाँलौ कहियै ।

जथा सकति कहि चुप है रहियै ॥१॥

अर्थ—भापाका समयसार ग्रंथ समाप्त हुआ और गुणस्थान अधिकारका वर्णन किया । इसका और कहाँ तक वर्णन करें, शक्ति अनुसार कहकर चुप हो रहना उचित है ॥ १ ॥

चीपाई ।

लहिये ओर न ग्रंथ उदधिका ।

ज्यों ज्यों कहियै त्यों त्यों अधिका ॥

तातैं नाटक अगम अपारा ।

अल्प कवीसुरकी मतिधारा ॥ २ ॥

अर्थ—ग्रंथरूप समुद्रका पार नहीं पा सकते, ज्यों ज्यों रुथन, किया जावे त्यों त्यों बढ़ता ही जाता है, क्योंकि नाटक अपरम्पार है और कविकी बुद्धि तुच्छ है ॥ २ ॥

विशेष—यहाँ ग्रंथको समुद्रकी उपमा दी है और कविकी बुद्धिको छोटी नदीकी उपमा है ।

दोहा ।

समयसार नाटक अकथ, कविकी मति लघु होइ ।
तातै कहत बनारसी, पूरन कथै न कोइ ॥ ३ ॥

अर्थ—समयसार नाटका वर्णन महान् है, और कविकी बुद्धि योडी है, इससे पंडित बनारसीदामजी कहते हैं, कि उसे कोई पूरा पूरा नहीं कह सकता ॥ ३ ॥

अथ महिमा । सवैया इकतीसा ।

जैसे कोऊ एकाकी सुभट पराक्रम करि,
जीतै किहि भांति चक्री कटकसौ लरनौ ।
जैसे कोऊ परवीन तारू भुजभारू नर,
तैरै कैसे स्वयभूरमन सिधु तरनौ ॥
जैसे कोऊ उहिमी उछाह मनमाहि धरै,
करै कैसे कारज विधाता कैसे करनौ ।
तैसे तुच्छ मति मोरी तामे कविकला थोरी,
नाटक अपार में कहालौ याहि वरनौ ॥४॥

अर्थ—यदि कोई अकेला योद्धा अपने बाहुबलके द्वारा चक्रवर्तीके दलसे लड़े, तो वह कैसे जीत सकता है ? अथवा कोई जलतारिणी विद्यामें कुशल मनुष्य स्वयभूरमण समुद्रको तैरना चाहे, तो कैसे पार पा सकता है ? अथवा कोई उद्योगी मनुष्य मनमें

उत्साहित होकर विधातो जैसा काम करना चाहे, तो कैसे कर सकता है ? उसी प्रकार मेरी बुद्धि अल्प है वा काव्यकौशल कम है और नाटक महान् है, इसका मैं कहाँ तक वर्णन करूँ॥४॥

जीव-नटकी महिमा । सवैया इकतीसा ।

जैसे वट वृच्छ एक, तामें फल है अनेक,
 फल फल बहु बीज, बीज बीज वट है ।
 वटमांहि फल, फल मांहि बीज तामें वट,
 कीजै जो विचार, तौ अनतता अघट है ॥
 तैसे एक सत्तामें, अनत गुण परजाय,
 पर्जेमें अनत नृत्य तामें अनत ठट है ।
 ठटमें अनंतकला, कलामें अनतरूप,
 रूपमें अनंत सत्ता, ऐसौ जीव नट है ॥५॥

अर्थ—जिम प्रकार एक वटके वृक्षमें अनेक फल होते हैं, प्रत्येक फलमें बहुतसे बीज तथा प्रत्येक बीजमें फिर वट वृक्षका अस्तित्व रहता है, और बुद्धिसे काम लिया जावे तो फिर उस वट वृक्षमें बहुतसे फल और प्रत्येक फलमें बहुतसे बीज और प्रत्येक बीजमें वट वृक्षकी सत्ता प्रतीत होती है, इस प्रकार वट वृक्षके अनतपनेकी थाह नहीं मिलती । उसी प्रकार जीव रूपी नटकी एक सत्तामें अनत गुण हैं, प्रत्येक गुणमें अनत पर्यायें हैं,

प्रत्येक पर्यायमे अनंत नृत्य हैं, प्रत्येक नृत्यमे अनंत खेल हैं, प्रत्येक खेलमे अनंत कलाएँ हैं, और प्रत्येक कलाकी अनंत आकृतियें हैं, इस प्रकार जीव बहुत ही विलक्षण नाटक करने-वाला है ।

दोहा ।

ब्रह्मग्यान आकाशमे, उड़ै सुमति खग होइ ।
यथा सकति उद्दिम करै, पार न पावै कोइ ॥ ६ ॥

अर्थ—ब्रह्मज्ञानरूपी आकाशमे यदि श्रुतज्ञानरूपी पक्षी शक्ति अनुसार उड़नेका प्रयत्न करे, तो कमी अत नहीं पा सकता ॥ ६ ॥

चीपाई ।

ब्रह्मग्यान-नभ अंत न पावै ।
सुमति परोछ कहालों धावै ॥
जिहि विधि समयसार जिनि कीनों ।
तिनके नाम कहौ अब तीनों ॥ ७ ॥

अर्थ—ब्रह्मज्ञानरूप आकाश अनंत है और श्रुतज्ञान परोक्ष है, कहाँ तरु दौड़ लगावेगा ? अब जिन्होंने समयसारकी जैसी रचना की है उन तीनोंके नाम कहता हूँ ॥ ७ ॥

अथ कपियोंके नाम । सबैया इकतीसा ।

कुदकुदाचारिज प्रथम गाथावद्ध करि,
समैसार नाटक विचारि नाम दयौ है ।

ताहीकी परंपरा अमृतचंद्र भये तिन,
 संस्कृत कलस सम्हारि सुख लयौ हे ॥
 प्रगट्यौ बनारसी गृहस्थ सिरीमाल अव,
 किये हैं कवित्त हियै बोधि बीज वयौ है ।
 सबद अनादि तामै अरथ अनादि जीव,
 नाटक अनादि यो अनादि ही कौ भयौ है ८

अर्थ—इसे पहले स्वामी कुटकुटाचार्यने प्राकृत गाथा छदमे रचा और समयसार नाम रखा । उन्हींकी कृतिपर उन्हींके जाम्नायी स्वामी अमृतचंद्रमूरिने संस्कृत भाषामे कलशा रचकर प्रसन्न हुए । पश्चात् श्रीमाल जातिमे पण्डित बनारसीदामजी श्रावणधर्म प्रतिपालक हुए उन्होंने कवित्त रचना करके हृदयमे ज्ञानका बीज बोया । यों तो शब्द अनादि है उमका पदार्थ अनादि है, जीव अनादि है, नाटक अनादि है, इसलिये नाटक समयसार अनादि कालसे ही है ॥ ८ ॥

सुकवि लक्षण । चौपाई ।

अव कल्लु कहौ जथारथ वानी ।
 सुकवि कुकविकी कथा कहानी ॥
 प्रथमहिं सुकवि कहावै मोई ।
 परमारथ रस वरनै जोई ॥ ९ ॥

कल्पित वात हिये नहिं आने ।

गुरुपरपरा रीति बखाने ॥

सत्यारथ सैली नहि छडै ।

मृपावादसौ प्रीति न मडै ॥ १० ॥

अर्थ—अब सुकवि कुकर्मिणी बोधीसी वास्तविक चरचा करता हैं । उनमें सुकविका दरजा अचल है । वे पारमार्थिक रसका वर्णन करते हैं, मनमें कपोल कल्पना नहीं करते और ऋषि परम्पराके अनुसार कथन करते हैं । सत्यार्थ मार्गको नहीं छोड़ते और असत्य कथनसे प्रीति नहीं जोड़ते ॥ ९-१० ॥

दोहा ।

छद सवद अच्छर अरथ, कहै सिद्धांत प्रवांन ।

जो इहि विधि रचना रचै, सो है सुकवि सुजान ॥ ११ ॥

अर्थ—जो छन्द, शब्द, अक्षर, अर्थकी रचना सिद्धान्तके अनुसार करते हैं वे ज्ञानी सुकवि हैं ॥ ११ ॥

सुकवि लक्षण । चौपाई ।

अव सुनु कुकवि कहीं है जैसा ।

अपराधी हिय अध अनेसा ॥

मृपाभाव रस वरनै हितसों ।

नई उकति उपजावैं चितसों ॥ १२ ॥

ख्याति लाभ पूजा मन आनै ।

परमारथ-पथ भेद न जानै ॥

वानी जीव एक करि वृद्धै ।

जाकौ चित जड़ ग्रंथ न सूझै ॥ १३ ॥

अर्थ—अब जैसा कुकवि होता है सो कहता हूँ, उसे सुनो, वह पापी हृदयका अधा हठग्राही होता है । उसके मनमें जो नई कल्पनाएँ उपजती हैं, उनका और सासारिक रसका वर्णन बड़े प्रेमसे करता है । वह मोक्षमार्गका मर्म नहीं जानता और मनमें ख्याति लाभ पूजा आदिकी चाह रखता है । वह वचनको आत्मा जानता है, हृदयका मूर्ख होता है, उसे शास्त्रज्ञान नहीं है ॥ १२-१३ ॥

चौपाई ।

वानी लीन भयौ जग डोलै ।

वानी ममता त्यागि न बोलै ॥

है अनादि वानी जगमांही ।

कुकवि वात यह समुझै नांही ॥ १४ ॥

अर्थ—वह वचनमें लीन होकर ससारमें भटकता है, वचनकी ममता छोड़कर कथन नहीं करता । ससारमें वचन अनादिका-लका है यह तत्त्व नहीं समझते ॥ १४ ॥

घानी श्याख्या । सुरैया इकनीसा ।

जैसे काहू देसमें सलिल धारा कारजकी,
 नदीसो निकसि फिर नदीमें समानी है ।
 नगरमें ठौर ठौर फैलि रही चहु ओर,
 जाकै ढिग वहे सोई कहे मेरो पानी है ॥
 त्योही घट सदन सदनमें अनादि ब्रह्म,
 वदन वदनमें अनादिहीकी बानी है ।
 करम कलोलसो उसासकी वयारि वाजै,
 तासो कहै मेरी धुनि ऐसो मूढ प्रानी है ॥१५॥

अर्थ—जिम प्रकार किसी स्थानसे पानीकी धारा शाखा रूप होकर नदीसे निकलती है और फिर उमी नदीमें मिल जाती है, वह शाखा शहरमें जहाँ तहाँ होकर वह निकलती है, सो जिसके मकानके पास होकर बहती है वही कहता है कि, यह पानी मेरा है, उसी प्रकार हृदयरूप घर है और घरमें अनादि ब्रह्म है और प्रत्येकके मुखमें अनादि कालका उचन है, कर्मकी लहरोंसे उद्भामरूप बना बहती है इससे मूर्ख जीव उसे अपनी ध्वनि कहते हैं ॥ १५ ॥

दोहा ।

ऐसे मूढ कुंरुवि कुधी, गहै मृपा मग दौर ।
 रहै मगन अभिमानमें, कहै औरकी और ॥ १६ ॥

वस्तु सरूप लखै नहीं, वाहिज द्रिष्टि प्रवांन ।
 मृपा विलास विलोकिके, करै मृपा गुन गान ॥१७॥

अर्थ—इस प्रकार मिथ्यादृष्टी कुकवि उन्मार्गपर चलते हैं और अभिमानमें मस्त होकर अन्यथा कथन करते हैं । वे पदार्थका असली स्वरूप नहीं देखते, ग्राह्यदृष्टिसे असत्य परणति देखकर झूठा वर्णन करते हैं ॥ १६-१७ ॥

मृपा गुणगान फयन । सवेया इकतीसा ।

मांसकी गरथि कुच कंचन कलस कहै,
 कहै मुख चंद जो सलेपमाको घरु है ।
 हाड़के दसन आहि हीरा मोती कहें ताहि,
 मांसके अधर ओठ कहै विवफरु है ॥
 हाड़ दंड भुजा कहै कौलनाल कामधुजा,
 हाड़हीके थंभा जंधा कहै रंभातरु है ।
 योही झूठी जुगति वनावै ओ कहावैं कवि,
 येतेपर कहै हमे सारदाको वरु है ॥ १८ ॥

शब्दार्थ—गरथि=डली । कुच=स्तन । सलेपमा (श्लेष्मा)=कफ । दसन=दाँत । आहि=हैं । विवफरु (विवाफल)=कुँदरु । कौलनाल (कमलनाल)=कमलकी डही । रंभातरु=केलेका वृक्ष ।

अर्थ—कुकवि मांसके पिण्डरूप कुचोंको सुवर्णघट कहते हैं, कफ रक्त आदिके घररूप मुखको चन्द्रमा कहते हैं, हड्डिके

इहि विधि बोध वचनिका फैली ।

समै पाय अध्यात्म सैली ॥

प्रगटी जगमांही जिनवानी ।

घर घर नाटक कथा बखानी ॥ २४ ॥

अर्थ—जैनधर्मी पांडे राजमलजी नाटक समयसारके ज्ञाताने इम ग्रन्थकी प्रालंबीय सहन टीका की । इस प्रकार समय पाकर इस आभ्यात्मिक विद्याकी भाषा वचनिका विस्तृत हुई, जगतमें जिनगर्णीका प्रचार हुआ और घर घर नाटककी चर्चा होने लगी ॥ २३-२४ ॥

चौपाई ।

नगर आगरे मांही विख्याता ।

कारन पाइ भए बहु ग्याता ॥

पच पुरुष अति निपुन प्रवीने ।

निसिदिन ग्यान-कथा रम-भीने ॥२५॥

अर्थ—प्रसिद्ध शहर आगरेमें निमित्त मिलनेपर इसके बहुतसे जानकार हुए, उनमें पाँच मनुष्य अत्यन्त कुशल हुए, जो दिन रात ज्ञान चर्चामें लवलीन रहते थे ॥ २५ ॥

दोहा ।

रूपचंद पंडित प्रथम, दुतिय चतुर्भुज नाम ।
 तृतीय भगोतीदास नर, कौरपाल गुन धाम ॥२६॥
 धर्मदास ये पचजन, मिलि बैठे इक ठौर ।
 परमारथ-चरचा करे, इनके कथा न और ॥२७॥

अर्थ—पहले पण्डित रूपचंदजी, दूसरे पण्डित चतुर्भुजजी, तीसरे पण्डित भगोतीदासजी, चौथे पण्डित कुंजरपालजी और पाँचव पण्डित धर्मदासजी । ये पाँचों सज्जन मिलकर एक स्थानमें बैठते तथा मोक्षमार्गकी चर्चा करते थे और दूसरी वार्ता नहीं करते थे ॥ २६—२७ ॥

कवहूँ नाटक रस सुनै, कवहूँ और सिद्धंत ।

कवहूँ विग वनाइकै, कहै बोध विरतत ॥२८॥

अर्थ—ये कमी नाटकका रहस्य सुनते, कमी और शास्त्र सुनते और कमी तर्क खड़ी करके ज्ञान चर्चा करते थे ॥ २८ ॥

चित्त कौरा करि धरमधर, सुमति भगोतीदास ।

चतुरभाव थिरता भये, रूपचंद परगास ॥ २९ ॥

अर्थ—कुंजरपालजीका चित्त कौरा अर्थात् कोमल था, धर्मदासजी धर्मके धारक थे, भगोतीदासजी सुमतिमान थे, चतुर्भुजजीके भाव स्थिर थे और रूपचंदजीका प्रकाश चन्द्रमाके समान था ॥ २९ ॥

चौपाई ।

जहां तहां जिनवानी फैली ।

लखै न सो जाकी मति मैली ॥

जाके सहज बोध उत्पाता ।

सो ततकाल लखै यह वाता ॥ ३० ॥

अर्थ—जहाँ तहाँ जिनवाणीका प्रचार हुआ, पर जिसकी बुद्धि मलिन है वह नहीं समझ सका। जिनके चित्तमें स्वाभाविक ज्ञान उत्पन्न हुआ है वह इमकारहस्य तुरत समझ जाता है॥३०॥

दोहा ।

घट घट अतर जिन वसे, घट घट अंतर जैन ।

मति मदिराके पानसों, मतवाला समुझै न ॥३१॥

अर्थ—प्रत्येक हृदयमें जिनराज और जैनधर्मका निराम है परन्तु मजहबके पक्षरूपी शराबके पी लेनेसे मतवाले लोग नहीं समझते ॥ ३१ ॥

चौपाई ।

बहुत बढाई कहाँलों कीजै ।

कारिजरूप वात कहि लीजै ॥

१ यहाँ मतवाला शब्दके दो अर्थ हैं—(१) मतवाला=नशेमें धूर, (२) मतवाला=जिसको मजहबका पक्षपात है ।

नगर आगरे मांहे विख्याता ।

वानारसी नाम लघु ग्याता ॥ ३२ ॥

तामें कवित्तकला चतुराई ।

कृपा करें ये पांचों भाई ॥

पंच प्रपंच रहित हिय खोलै ।

ते वानारसीसों हंसि बोलै ॥ ३३ ॥

अर्थ—अधिक महिमा कहाँ तक कहे, मुद्देकी बात कह देना उचित है । प्रसिद्ध शहर आगरेमें वानारसी नामक स्वल्प ज्ञानी हुए, उनमें काव्य-कौशल था और ऊपर कहे हुए पाँचों भाई उनपर कृपा रखते थे, इन्होंने निष्कपट होकर सरल चित्तसे हँसकर कहा ॥ ३२-३३ ॥

नाटक समैसार हित जीका ।

सुगमरूप राजमली टीका ॥

कवित्तवद्ध रचना जो होई ।

भाषा ग्रंथ पढ़ै सब कोई ॥ ३४ ॥

अर्थ—जीविका कल्याण करनेवाला नाटक समयसार है । उसकी राजमलजी रचित सरल टीका है । भाषामें छंदबद्ध रचा जावे तो इस ग्रंथको सब पढ़ सकते हैं ॥ ३४ ॥

तव वानारसी मनमहि आनी ।

कीजे तो प्रगटै जिनवानी ॥

पच पुरुपकी आज्ञा लीनी ।

कवितवद्धकी रचना कीनी ॥ ३५ ॥

अर्थ—तव वानारसीदामजीने मनमे सोचा कि यदि इमकी कविता मरचना करूँ, तो जिनवाणीका बड़ा प्रचार होगा। उन्होंने उन पाँचों सज्जनोकी आज्ञा ली और कवितवद्ध रचना की ॥ ३५ ॥

सोरहसौ तिरानवै वीतै ।

आसौ मास सित पच्छ वितीतै ॥

तिथि तेरस रविवार प्रवीना ।

ता दिन ग्रथ समापत कीना ॥ ३६ ॥

अर्थ—वि० सम्यत् सोलहसौ तिरानवे आश्विन मास शुक्ल पक्ष तेरस तिथि रविवारके दिन यह ग्रंथ समाप्त किया ॥ ३६ ॥

बोहा ।

सुख निधान सक वध नर, साहिव साह किरान ।

सहस-साह सिर-मुकुट-मनि, साहजहा सुलतान ३७

अर्थ—उस समय हजारों बादशाहोमे प्रधान महा प्रतापी और सुप्रदायक मुसलमान बादशाह शाहजहाँ थे ॥ ३७ ॥

जाकै राज सुचैनसौ, कीनों आगम सार ।
ईति भीति व्यापी नहीं, यह उनको उपगार ॥

अर्थ—उनके राज्यमें आनन्दसे इस ग्रन्थकी रचना की ओर कोई भय वा उपद्रव नहीं हुआ यह उनकी कृपाका फल है ॥३८॥

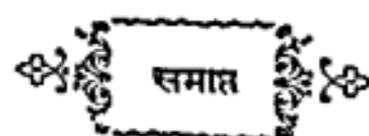
ग्रंथके सब पद्योंकी सख्या । सबेया इकतीसा ।

तीनसै दसोत्तर सोरठा दोहा छंद दोउ,
युगलसै पेटालीस इकतीसा आने हें ।
छयासी चौपाई, सैतीस, तेईसे सबैए,
वीस छप्पै अठारह कवित्त बखाने हें ॥
सात पुनि ही अडिख, चारि कुंडलिए मिलि,
सकल सात सै सत्ताइस ठीक ठानै हें ।
बत्तीस अन्छरके सिलोक कीने लेखै,
ग्रंथ-सख्या सत्रह सै सात अधिकानै हें ॥३९॥

अर्थ—३१० मोग्ठे और दोहे, २४५ इकतीसे सबैये, ८६ चौपाई, ३७ तेईसा सबैया, २० छप्पय, १८ अठारह कवित्त (घनाक्षरी) ७ अडिख, ४ कुंडलिए ऐसे ये सत्र मिलकर ७२७ सातसौ सत्ताईस नाटक समयमारके पद्योंकी सख्या है, ३२ अक्षरके श्लोकके प्रमाणसे ग्रंथ-सख्या १७०७ है ॥ ३९ ॥

समयसार आत्म दरव, नाटक भाव अनंत ।
 सोहै आगम नाममें, परमारथ विरतंत ॥ ४० ॥

अर्थ—सम द्रव्योंमें आत्मद्रव्य प्रधान है और नाटकके भाव अनंत है, सो उसका आगममें सत्याथ कथन है ॥ ४० ॥



ईडरके भंडारकी प्रतिका अंतिम अंश ।



इह ग्रंथकी परति एक ठौर देपी थी, वाके पास बहुत प्रकार करि मांगी, पै वा परति लिखनकौ नहि दीनी, पाछें पाच भाई मिलि विचारि कियो, ज्यो ऐसी परति होवे तो बहुत आछी । ऐसो विचारिकै तिन परति जुदी २ देखिके अर्थ विचारिके अनुक्रमे २ समुच्चय लिपी है ॥

दोहा ।

समयसार नाटक अकथ, अनुभव-रस-भंडार ।
याको रस जो जानहीं, सो पावे भव-पार ॥ १ ॥

चौपाई ।

अनुभौ-रसके रसियानै ।
तीन प्रकार एकत्र बखानै ॥
समयसार कलसा अति नीका ।
राजमली सुगम यह टीका ॥ २ ॥
ताके अनुक्रम भाषा कीनी ।
वनारसी ग्याता रसलीनी ॥
ऐसा ग्रंथ अपूरव पाया ।
तासै सबका मनहि लुभाया ॥ ३ ॥

दोहा ।

सोई ग्रथके लिखनको, किए बहुत परकार ।
 वाँचनको देवे नहीं, ज्यों कृपी रतन-भँडार ॥ ४ ॥
 मानसिघ चितन कियो, क्यों पावे यह ग्रंथ ।
 गोविदसो इतनी कही, सरम सरम यह ग्रथ ॥ ५ ॥
 तब गोविद हरपित भयो, मन विच घर उल्लास ।
 कलमा टीका अरु कवित, जे जेते तिहि पास ॥ ६ ॥

चाँपाई ।

जो पडित जन वाचो सोइ ।
 अधिको उचो चौरूस जोडै ॥
 आगे पीछे अधिकौ ओछो ।
 देखि विचार सुगुरुसो पूँछौ ॥ ७ ॥
 अल्प मती है मति मेरी ।
 मनमे धरहु चाह घनेरी ॥
 ज्यों निज भुजा सुमुद्रहि तरनौ ।
 है अनादि * * * *

समयसारके पद्योकी वर्णानुक्रमणिका ।



	पृष्ठांक		पृष्ठांक
अ		अमृतचन्द्र मुनिराजकृत	४६६
अचल अखण्डित ग्यानमय	३०९	अलय अमूरति अरूपी	२६४
अच्छर अरथमै भगन रहै मद्रा	४६३	अल्प ग्यान लघुना लखै	५०८
अजयारथ मिथ्या मृपा	२९	अविनासी अविहार परमरमधाम है	४४१
अतीचार ए पच प्रफारा	४८४	अशुभमै हारि शुभजीति यहै	४४२
अभुत प्रय अध्यातम धानी	३९८	अष्ट महामद अष्ट मल	४८२
अध अपूव अनवृत्तिरिक्त	४८०	असख्यात लोक परमान जे	२४६
अनुभव चिंतामनि रतन, अनुभव है रसरूप	१७	अस्तिरूप नास्तति अनक पूर	४०४
अनुभव चिंतामनि रतन		अहबुद्धि मिथ्यात्मा	२४०
जाके हिय परगास	१८६	आ	
अनुभौके रसकैं रसायन कहत	१७	आचारज कहैं जिन वचनकौ	३८७
अपनैही गुन परजायसौं प्रवाहरूप	४६	आठ मूलगुण समहै	४९५
अपराधी मिथ्यामती	२९२	आदि अत पूरन-सुभाव-सयुक्त है	४२
अप्र अनिवृत्तिरन सुनु भाइ	५१३	आतमकौ अहित अध्यातम	१५२
अप्र उपशांतमोह गुनयाना	७१४	आतम सुभाउ परमाउकी	१८९
अय कहु कहां जयारथ धानी	५२९	आपा परिचै निज विचै	४८१
अय कपि निन पूरव दमा	४६४	आन्ववकौ अधिहार यह	१५४
अय निहचै विवहार	४८९	आसवरूप प्रय उतपाता	५२०
अय पचम गुनयानको	४९३	आसवर सबर परनति शैलैं	५७१
अय यरना अष्टम गुनयाना	५१२	आसना अस्थिता वाटा	४८०
अय यरना इकईस गुन	४९१	इ	
अय यरना सप्तम विमरामा	५११	इति श्री नाटक प्रथमै	३१२
अय यह वात कहैं है जैसे	५३४	इहभव मय परलोक-मय	२०३
अय सुनि सुकवि कहां है जैसा	५३०	इह विचारि सठेसैं	४७१
अमृतचन्द्र बोले मृदुधानी	३९९	इह विधि जो प्रभावविष	४४४

	पृष्ठांक		पृष्ठांक
इहि विधि आतम ग्यान हित	४२४	एकादस वेदनीकी चारितमोहकी	५०९
इहि विधि ने जागे पुरप	१७७	ए जगवासी यह जगद	२५८
इहि विधि जे पूरन भये	३०७	एतेपर यहुरा सुगुरु	१७५
इहि विधि जो विपरीत पख	३५३	रे	
इहि विधि बोध-वचनिका पैली	५३५	पेते सकट मुनि सहै	५०७
इहि विधि घस्तु व्यवस्था जानै	२६६	ऐसी महिमा ग्यानकी	३५४
इहि विधि घस्तु व्यवस्था जैसी	२९८	ऐसे मूड कुकवि कुधी	५३२
उ		ओ	
उत्तम पुरुषकी दमा ज्यौं	२३३	ओरा घोरवरा निसिमोजन	४९२
उपजे विनसै थिर रहै	२८७	अ	
उपसम छायककी दसा	४८९	अतर-दष्टि-लक्ष्माऊ	१३०
उपसमी समकित्ती कै ली सादि	४७८	अतमुहुरत द्वै घरी	५०२
ऊ		फ	
ऊचे उचे गणके कगरे	५८	कबहु नाटक रस सुनि	५३७
ए		कबहु सुमति ह्वै कुमतिकी	१५
एई छहौं दरुव इनहीकी है	२८८	करता करम किया करै	९३
एक करम करतव्यता	९३	करता किरिया करमकी	१२१
एक कोडि पूरव गनि छीजै	५०१	करता दरवित करमकी	३२३
एक जीव वस्तुके अनेक रूप	३३६	करता परिनामी दरव	९२
एक देखिये जानिये	५०	करता याकी कौन है	३२३
एक परजाइ एक समैभैं विनसि	३२९	करनीकी घरनीभैं महामोह राजा	३७०
एक परिनामके न करता दरव	९४	करनी हित हरनी सदा	३७०
एकमैं अनेक है अनेकहीमैं	३३९	करम अवस्थामैं असुद्धसौ	४५९
एकरूप आतम दरव	४९	करम करै फल भोगवै	३४४
एकरूप कोऊ कहै	४००	करमके चरकमैं फिरत जगवासी	१४९
एक वस्तु जैसी लु है	३२१	करमके भारी समुझैं न गुनकी	३०३
एकादस प्रतिमा दसा	५०१	करम पिंड अर रागभाव	१३६

	पृष्ठांक		पृष्ठांक
करम भरम जग तिमिर हरन	२	कीचमी कनक जाके नीचसौ	२३४
करम सुभामुम दोह	१३०	कुगुर कुदेव कुधर्म धर	४८३
कर्मनाल-जोग हिंसा	२२३	कुजार्कों देखि जैयँ रोस करि	२३८
कर्मनाल-वर्गनाकी घाम	२२२	कुटिल कुस्य अंग छगी है	३५६
कर्मनाल-वर्गनामी जगर्म	२२०	कुंदकुंद नाटक विपै	३९९
कर्मनिकी करता है भोगनिमै	३१२	कुदकुद मुनिराज प्रवीना	३९०
करना बच्छल सुजनता	४८१	कुदकुदाचारिज प्रथम गायायद	५२८
करै और फल भोगवै	३२४	कुविना कारी क्यूरी	३५६
करै करम सोई करतारा	११५	कुमती याहिज द्विष्टिमौ	३८६
कलपित वात हियै नहिं आनै	५३०	कुलकौ आचार ताहि मूरत धरम	२२९
कलावत कोविद कुमल	२७	कृपा प्रसम संवेग दम	४४३
कही निरजराकी कथा	२१८	केहँ उदास रहँ प्रभु कारन	२६०
कहै अनानमकी कथा	३३०	केहँ कहँ जीव क्षनभगुर	३३३
कहै गुर करमकी नाम	१२८	केहँ भूर कष्ट मई तपसौ मरीर	१८२
कहै विचच्छन पुरय सदा भै पृकई	६४	केहँ जीव समकित पाइ अर्थ	४७९
कहै विचच्छन भै रहौ	३७३	केहँ मिष्याद्विष्टी जीव धरै	३८४
कहै सुगुर जो समकित्ती	२६१	कहँ मूढ निकल एकत पच्छ गई	३२५
कहीं दमम गुनधान दुमाग्या	५१४	केरलग्यान निरुट जहँ आनै	५१५
कहीं मुकति-पदकी कथा	३९९	कै अपनों पद आप सभारत	५२
कहीं सुद निहचैक्या	१७	कै ती सहज सुभाउकै	४८१
कहौ प्रथम गुनधान यह	४७६	कोज अज कहै शैवाकार	४१२
काच बाधे सिरसौ मुमनि बाधै	२२६	कोज अनुभवी जीव कहै	२७७
काज विना न करै निय उद्यम	१८४	कोज एक टिनवादी कहै	४२२
काया चिप्रमारीर्म करम परजक	१७५	कोज कुधी कहै ग्यान माहि	४११
कायासौं विचारे प्रीति भावाहीसौं	३३१	कोज कूर कहै काया जीव	४१७
काहू एक जैनी सावधान है परम	२७१	कोज ग्यानगान कहै ग्यान ती	४५७
किये अवस्थामें प्रगट	४४७	कोज दुखुदी कहै पहल न हुती	४१९
किया एक करता जुगल	३२४		

	पृष्ठांक		पृष्ठांक
कोऊ पक्षपाती जीव कहै	४२०	ग्यान गरव मति मंदता	४८४
कोऊ पशु ग्यानकी अर्नत प्रविश्राह	४१०	ग्यानचक्र मम लोक	२०९
कोऊ बालतुदी कहै	४२२	ग्यान चेतनाये जगो	३६५
कोऊ बुद्धिचत नर निरखै शरीर	४४	ग्यान जीयकी सजगता	३६५
कोऊ माग्यवान कहै	४५७	ग्यानद्रिष्टि जिह्वे घट अतर	४४७
कोऊ महामूर्ख कहत एक पिंड	४२१	ग्यानधर्म अविचल सदा	३५४
कोऊ मिथ्यामती लोत्रालोक	४०९	ग्यान बोध अपगम मनन	२८
कोऊ मूढ कहै जैसे प्रथम सर्वांगी	४०८	ग्यानभान भासत प्रगान	३६८
कोऊ मूरख या कहै	३५२	ग्यान भाव ग्यानी करै	१०३
कोऊ मद कहै धर्म अधर्म	४१३	ग्यान मिथ्यात न एक	११९
कोऊ सज कहै जेती ज्ञेयरूप	४१५	ग्यानवत अपनी कथा	३६५
कोऊ सिष्य कहै गुरु पाहीं	१२४	ग्यानवतका भोग निरजरा हेतु है	१०९
कोऊ मिष्य कहै स्वामी	१३१	ग्यान सकति वैराग्य चल	१९८
काऊ सिष्य कहै स्वामी राग दोष	३५१	ग्यान सरूपी आतमा	१०१
कोऊ सुनवादी कहै नेयके	४१६	ग्यानावरनीके गयै तानियै जु है	३०१
र		ग्यानी ग्यानमगन रहै	१९१
खाडो कहिये कनकवी	७५	ग्यानी भेदग्यानसों विलेष्टि	२६८
ख विहाय अंबर गगन	२६	ग्यायक भाव जहा तहां	३६१
ख्याति लाभ पूजा मन आनै	५३०	ग्रथ उक्त पय उयपि नो	४७१
ग		ग्रय रचै चरचै सुभ पय	१७१
गुन परजैमें द्विष्टि न दीजे	३८३	ग्रीपमर्म धूपथिन सीतमें अकप	५०१
गुन विचार सिंगार	३९२	घ	
गुर उपदेश कहा करै	४४०	घट घट अतर जिन बसै	५३८
ग्यान उदै जिह्वेके घट अतर	१८५	घटमें है प्रभाद जय ताई	३०९
ग्यानकला घटघट बसै	१८६	च	
ग्यानकला जिनके घट जागी	१९८	चलै निरखि भालै उचित	५०१
ग्यानकी उजागर सहज सुखसागर	६	चाकमी किरत जाकी सत्तार	४४१
ग्यानकी कारन ज्ञेय आतमा	४०६		
ग्यानकी सहज ज्ञेयाकार रूप	३४२		

पृष्ठांक	पृष्ठांक
वारितमोहकी च्यारि मिथ्यातकी ४८५	ज
चेत कौरा करि धरमधर ५३०	जगतके प्रानी जीति है रखौ ५२२
चेत प्रभावना भावशुत ४८२	जगत चश्रु आनदमय ३८९
चेदानद चेतन अल्प २५	जगतमें डोलै जगवासी नररूप २५६
चित्रमारी न्यारी परजक न्यारौ १७६	जगमें अनादिकौ भग्यानी कहै ८८
चिनमुद्राधारी ध्रुव धम ३१७	जगवासी भग्यानी त्रिकाल ३१६
चूया माधक मोरनी ४४३	जगवासी जीवनिसाँ गुरु उपदेस १७४
चेतन अरु जीव हरि लीन्हा ३१९	जगी सुद्ध समकित कला ४५१
चेतन करता भोगता ३२६	जया अधके कधपर ३६५
चेतनजी तुम जागि विलोकहु ४३३	जदपि समल विषहारसाँ ७०
चेतन जीव अजीव अचेतन ८०	जय चेतन सँमारि निज पौरुष ७४
चेतन मडित अंग अग्रडित २८५	जय जासौँ जैसौँ उदै २२४
चेतनरूप अनूप अमूरति १२	जय जीव सोवै तत्र समुझै सुपन १७८
चेतन लक्षण आतमा, आतम २८०	जय यह वचन प्रगट सु यौ ३२८
चेतन लच्छन आतमा, जड २५०	जयलग ग्यान चेतना न्यारी ३६६
चेतनवत अनत गुन परजै १८	जयलग जीव सुद्ध यस्तुकाँ २२८
चेतनवत अनत गुन सहित ७३	जय सुयोध घटमें परगासै ३९३
चौदह गुनधानक दया ५२१	जयहीतँ चेतन विभावसाँ उलटि ३७७
च्यारि रिपै त्रय उपशमे ४८७	जम कृतात अतक त्रिदस २६
छ	जमकौसौँ भ्राता दुखदाता है २०२
छपरश्रेणी आठ नैं ५१५	जहा काहू जीवको असाता उदै ५०७
छयउपसम जरतै त्रिविधि ४८७	जहा ग्यान किरिया मिलै ३६५
छय-उपसम वेदक रिपक ४८९	जहा च्यारि परकिति रिपहि ४८८
छिनमें प्रवीन छिनहीमें २६१	जहा तहा जिनवानी फौली ५३८
छिनमोह पूरन भयौ ५१६	जहा न भाव उलटि अध आवै ५१३
छै पट वेदै एक जौ ४८८	जहां न रागादिक दसा १४६
छद् सयद अठर अरथ ५३०	जहा परमातम कलाकौ परकास २१९

	पृष्ठांक		पृष्ठांक
जहाँ प्रमाद दसा नहि ब्यारे	२९९	जार्म लोक वेद मांदि धारना	२९०
जहाँही जगके निवासी जीव	२३२	जार्म लोकाडोकके मुभाव	५९
जहाँ मुद ग्यानकी कछा उद्यो	३६३	जार्मी तू कहत घट स्वपदा हमारी	२००
जाकी दुखदाना-गाती चाक्री	५१६	जाहि परमके जीव गिर	५१४
जाकी परम दया शिषे	४४१	जाई समै जीव वेद बुद्धिषी	८०
जाके उदे होत घट-अंतर	१२१	जिनरद मांदि शरीरकी	५०
जाके उर अंतर निरतर	१८०	जिन प्रतिमा जन दोष निर्दं	४००
जाके उर अंतर मुद्रिटिही	४६९	जिन प्रतिमा जिन-साराणी	४६८
जाके उर बुयजा बसै	३६२	जिनि धंधी भेदी मदी	४०६
जाके घट पेगी दसा	४५१	जिन्हकी पिण्डी पिमटायी	२९५
जाके घट अंतर मिध्यात	४५२	जिन्हकी सदा अवस्था पेगी	३०६
जाके चेतन भाष विद्वानन्द सोइ	२८३	जिन्हकी सुरष्टिमें अनिट इष्ट	२०१
जाके दह-सुतिसीं दसां दिगा	५५	जिन्हके दहबुद्धि घट अंतर	३८६
जाके परामर्ष न दीन	१५०	जिन्हके मिध्यामति नही	२९४
जाके मुख दरसगौं भगतक	४६८	जिन्हके द्विषेमें साय सूरज	१८०
जाके मुक्ति समीप	४३२	जिन्हके दाब मिति साधन	२०५
जाके घट प्रण विनेक	९	जिन्हके धाम प्यान पावक	२९४
जाके घट समता नही	२९१	जिन्हके सुमति जागी	२८३
जाके पद सोहत सुलच्छन	५१	जिन्हके कथन उर धारत	५
जाके राग सुधेनसैं	५४०	जिय करता जिय भोगता	३२४
जाके कथन धवन नहि	४४२	जिहि उतग चडि पिर पान	४३०
जाके हिरदैम स्वादाद साधना	४५३	जीव अनादि सरूप मम	३०३
जाकी अघो अपूरव अनवृति	४३१	जीव अह पुदगल करम रहै	३२०
जाकी तन दुख दहलसैं	४०५	जीव करम करता नहि पेंसैं	३१४
जाकीं विद्या हित छौ	४४२	जीव करम सजोग	३५०
जाति छाम कुल रूप तप	४८२	जीव ग्यानगुन सहित	९१
जार्म भूमकी न लेस वातकी न	१९५	जीव चेतना सजुगत	१०४
जार्म बालपनौ तरुनापी	५६		

	पृष्ठांक		पृष्ठांक
जीव तख अधिकार यह	७०	जैसें करवत एक काठ	८२
जीव निरजीव करता करम	२९	जैसें काहू चतुर सवारी है	३४०
जीव मिथ्यात न करै	११७	जैसें काहू चढाली जुगल पुत्र	१२२
जूबा आमिष मदिरा दारी	४४४	जैसें काहू जगलमें पावसकौ	४३९
जे अविकल्पी अनुभवी	३०१	जैसें काहू देसम सरिल धारा	५३१
जे असुद्ध परनति धरै	३२२	जैसें काहू देसकौ बसैया	१९३
जे केहू निकटभक्ष्यरासी	१४६	जैसें काहू नगरके वासी	४३८
जे त्रिय मोह नीदरमें सोवै	२२६	जैसें काहू याजीगर चौहटै	११०
जे जीव दरयरूप तथा	४५०	जैसें काहू रतनसौं बींध्यी है	१४
जे जे मनवाटित विलास	१९१	जैसें कोऊ एकानी सुभट	५२६
जे जे मोह करमकी परनति	२७७	जैसें कोऊ कूरर छुधित	२४५
जेते जगवासी जीव	१३९	जैसें कोऊ छुधित पुन्प	४७६
जेते जीव पहित रयोपसमी	१४७	जैसें कोऊ जन गयी	६३
जेते मनगोचर प्रगट बुद्धि	१४२	जैसें कोऊ पातुर वनाय	६६
जे दुरबुद्धी जीव	४३५	जैसें कोऊ मनुष्य अजान	२६८
जे न करै नयपच्छ विवाद	१०७	जैसें कोऊ मूरय महासमुद्र	१३
जे निज पूरव कर्म उदै	२००	जैसें कोऊ सुभट सुमाह	२३६
जे परमादी आलसी	३०१	जैसें गजराज नाज घासके	९७
जे परिनाम भण नहिं कबही	५१२	जैसें गजराज परथी	२२५
जे प्रमाद संजुगत गुसाईं	२९९	जैसें चद किरनि प्रगटि भूमि	३४८
जे मिथ्यामति तिमिरसौं	३२२	जैसें छैनी लोहकी	२७२
जे विवहारी मूढ नर	३८६	जैसें कृण काठ बास	३८
जे समकित्ती जीव समचेती	३०५	जैसें नर रिलार चौपरिकौ	३६१
जैसें उसनोदकमें उदक-सुभाव	१०१	जैसें नर रिलार सतरजकौ	३६१
जैसें एक जल नानारूप	११३	जैसें नाना वरन पुरी वनाइ	२४८
जैसें रजसोधा रज सोधिके	१६२	जैसें निसि वासर कमल रहै	१६७
जैसें एक पाकौ आंबरल	४५६	जैसें पुरय लखै परवत चडि	३०२
जैसें घट वृक्ष एक तामें फल है	५२६		

	पृष्ठांक		
जैसे किटकी लोद हरदकी	१९२	जोग घई रहे जोगसों भिन्न	३१
जैसे बनवारीमें कुधातक	३९	जो जगवी करनी सब टानत	२५५
जैसे भूप वीजुक सरप करै	१६६	जो दयालता भात्र सो	३८१
जैसे मतवातो कोउ कहै	१३५	जो दरवाखन रूप न होई	१११
जैसे महा धूपकी तपतिमें	९९	जो दसधा परिग्रहकी त्यागी	४९९
जैसे महारतनकी ज्योनिमें	१११	जो दिन ब्रह्मचर्य मन पालै	४९०
जैसे महिमडलमें मदीकी प्रसाह	२८९	जो दुरमती विकल अग्यानी	३२२
जैसे मुगध धान पहिचानै	३८५	जो दुहुपनमें एक थौ	३२
जैसे मृग मत्त वृषादिलकी	२४२	जो नर सम्यकपत कहायत	१७
जैसे रवि मडलक उदै	४१	जो नय करम पुरानसों	२
जैसे राजहसके बदनके	१००	जो भवकरि जीरन करै	२०
जैसे रक पुरपकै भायें	२३७	जो नाना विकल्प गहै	४७५
जैसे सलिल समूहमें	१९	जो निहचै निरमल सदा	३१३
जैसे साख्यमती कहै अलग	३२६	जो भी याडि सहित विधि साथै	४९७
जैसे जो दरख ताके तैसे गुन	९०	जो पद भौपद भय हरै	१०८
जैसे जो दरख तामें तैसेह मुभाड	१९६	जो परतुन त्यागत	२१२
जैसे निरभद्ररूप निहचै	३७६	जो पुमान परधन हरै	२८६
जो अडोल पराक मुद्राधारी	५१७	जो पूरवकृत करम फल	३७४
जो अपनी दुति आप विराजत	३१	जो पूरवकृत करम विरल	३७४
जो अरि मित्र समान विचरै	४९६	जो पूरव सत्ता करम	२३
जो इकर नय पच्छ गहै	४७४	जो विदु ग्यान क्रिया अवगाहै	१७३
जोइ करमउदोत धरि	२२	जो मन विषय कपायमें	२६३
जोई जीव वस्तु अग्नि	४२९	जो मिथ्या दल उपसमै	४७५
जोइ द्विग ग्यान धरनातम	३८२	जो मुनि सगतिमें रहै	५१०
जो उदार्य हं जगलसों	४४१	जो नै आपा छाडि दीनौ	४६५
जो उपयोग स्वरूप धरि	२३	जो थिलसै मुख सपदा	४३७
जो कहहु यह गाव पदारथ	१५७	जो विवेक विधि भादरै	४९९

	पृष्ठांक		पृष्ठांक
। त्रिगुद्ध भावनि यधै	२२	ठ	
। मधित्त भोजन तर्न	४९७	ठौर ठौर रक्तके कुट्ट	२५३
।। सामायिककी दसा	४९७	ड	
।। सुठद धरतै तजि डेरा	५००	डूधा प्रभु चूधा धनुर	४४१
।। सुवचन रचिसाँ सुनै	४४२	डूधा सिद्ध कहै सय कोज	४४३
।। सवरपद पाइ अनदै	१६५	त	
।। स्वस्तु सत्तामरूप	२०९	तणि विमाय हुनै मगन	३८४
।। हितभाय सु राग है	१४५	तत्पकी प्रतीतिमों लख्यौ है	६५
।। लैं अष्ट कर्मसौ बिनाम नाही	१३३	तन चेतन बियहार एकमे	६१
।। लैं ज्ञानकी उदोत तौलैं नहि	१९७	तनता माता वचनता	२१
।। यौ कलघौत सुनारकी मगति	२८०	तत्र यानारसी मनमहिं जानी	५४०
।। यौ घट कहिये धीवकी	७७	ता कारण जगपथ इत	३००
।। यौ चिरनाल गडी यमुधामहि	६२	तातैं भातम धरमसौं	३६९
।। यौ जगमै विचरै मतिमद	१४३	तातैं चिदभावनिविधै	३५३
।। यौ ज्यौ पुगल बल करै	३५२	तातैं भावित करमसौं	३२४
।। यौ तन कचुक त्यागसौं	४१८	तातैं भरै मतविप	३२८
।। यौ दीपक रानी समै	३५४	तातैं विधै कपायसौं	२६४
।। यौ नट एक धरै बहु भेस	२८२	तामैं कवितकला धनुराई	५३९
।। यौ नर कोड गिरे गिरिसौं तिहि	३६	तियथल यास प्रेम रधि निरग्न	४९८
।। यौ पथी ग्रीषम समै	२०	तिहु लोकमाहि तिहु काल सज	२३१
।। यौ मारीमैं कलस होनकी	१०६	तीन काल अतीत अनागत	२९३
।। यौ धरधै धरपा समै	४३२	तीनसै दसोत्तर सोरठा दोहा	५४१
।। यौ हिय अध त्रिफल	३१८	तो गरथ अति सोभा पावै	३९८
।। ध्रुवधर्म कर्मलय लच्छन	४७	त्याग जोग परवस्तु सब	१९०
		त्यौं सुग्यान जानै सकल	३५४
		थ	
		थधिरकलपि जिनकलपि	५०६
।। करनी आचरै	२९२	थधिरकलपि धर कछुक सरागी	५११

	पृष्ठांक		पृष्ठांक
चिति पून करि जो करम	२४	धर्मदास ये पंचजन	५३७
चिति सागर तेतीस	४९१	धर्ममें न संसै सुमकर्म	२१४
द		धर्मराग विकथा बचन	५०३
दया दान पूजादिक विषय	१०५	धायी सदा काल पै न पायी	२६२
दरब करम करता अलख	३४१	धीरके धरैया भवनीरकै	३०४
दरब करम पुगल दसा	३६०	ध्यान धरै करै हृदिय निग्रह	१७२-
दरबकी नय परजायनय दोऊ	११२	न	
दरबित ये सातौ विसन	४४४	नख सिख मित परवान	२०५
दरसन ग्यान चरन त्रिगुनात्म	४८	नगर भागरे माहि विख्याता	५३६
दरसन ग्यान चरन दसा	३८१	नटवाजी विकल्प दसा	३४०
दरस विलोडनि देरमौ	२८	नाटक समैसार हिन जीका	५३९
दरब खेत काल भाव च्यारौ	४०२	नाना विधि सरू दसा	५१०
दरब भाव विधि सजुगत	४९६	नाम साध्य साधक कष्टौ	४६४
दरबित आसव सो कहिए जह	१४०	निन निज भाव क्रियासहित	३२०
दरसन विमुदिकारी बारह बिरत	४९४	निपरूपा आत्म सकति	४५८
दसधा परिग्रह वियोग चिंता	२०४	निपुन विचण्डन विबुध बुध	२७
दुरखुद्वी मिथ्यामती	३३०	निरमिलाप करनी करै	३१८
दूपन अटारह रहित	५१८	निरमै निराकुल निगम वेद	३७५
देसु सरी यह ब्रह्म विराजित	२८१	नियत एक विचहारसौं	४७१
देव कुदेव सुगुन कुगुन	४७४	निराकार चेतना कहाँ दरसन	२७८
देवमूढ गुरुमूढता	४८३	निराकार जो ब्रह्म कहावै	३४६
देह अचतन प्रेत दरी रज	२५१	निराबाध चेतन अलख	७७
ध		निसि दिन मिथ्याभास बहु	११४
धरति धरम फल हरति	२७३	निहचै अमेद अंग उदै गुनरी	३३८
धरम अरय अर करम सिव	२२९	निहचै दरबद्रिष्टि दीजे	४६०
धरमकौ साधन जु बस्तुकौ	२३०	निहचै निहारत सुभाव	३१४
धरम न जानत बस्तानत	११	निहचैमें रूप एक विवहारमें	३५

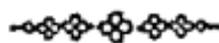
	पृष्ठांक		पृष्ठांक
नै अनंत इहविधि कही	४००	पच परकार ग्यानापरनकी नास	४६२
नदन बदन धुति करन	२९७	पच प्रमाद दसा धरै	५०३
प		पच भेद मिथ्यातके	४७५
पद सुभाव पूरव उदै	३३५	पच महात्मन पालै पच समिति	५०३
पकी संगति जो रचै	२८६	पंडित विवेक लहि एकताही	१७९
पकों पापारमकी	५००	प्रकृति नात अथ मोहकी	४८५
परमपुण्य परमेसुर परमज्योति	२४	प्रगटरूप संसारमें	३९१
परम प्रतीति उपजाय गनधरकीसी	७०	प्रगटि भेदविग्यान आपगुन	१६३
परम रूप परतच्छ	२१०	प्रथम अणानी जीव कहै	८६
पर सुभावमें भगन है	३५५	प्रथम एकांत नाम मिथ्यात	४७३
परिग्रह त्याग जोग थिर तीनों	३०६	प्रथम करन चारित्रकी	५११
पागी बाधी लोचनिसौं सबुचै	२५४	प्रथम नियत नय दूजी	१०९
पाद राजमल्ल जिनधर्मा	५३५	प्रथम निससै जानि	२१३
पाप अधोमुख पुन अध	२६	प्रथम मिथ्यात दूजी सासादन	४७२
पाप पुत्रकी एकता	१३९	प्रथम सुद्विष्टिमां सरीररूप	२६५
पाप बंध पुत्र बंध दुहुमें	१२५	प्रथम सिंगार वीर दूजी रस	३९१
पुगलकर्म करै नहि जीव	१०३	प्रभु सुमरौ पूजौ पढी	१८३
पुदगल परिनामी दरब	१०४	प्रजा धिसना सेमुसी	२७
पुन्य सुकृत उरध बदन	२६		
पुष्यकरमविष तर भए	३७३	फ	
पूरव करम उदै रस भुजै	१९०	परस जीम नासिमा	२०७
पूरव अधस्था जे करम बध कीने	१४४	करस-वरन-रस-गध	१९
पूरव बध उदय नहि ध्यापै	३०६	घ	
पूर्व उदै सनबध	१६८	घरनै सय गुनथानके	४७२
पूर्व बध नासै सोतो सगीत कला	२१५	बहुत बडाइ कहालीं कीजै	५३८
पच अकय परदोष	२१३	बहुविधि मिया कलेससौं	१८६
पच अनुव्रत भादरै	४९५	यात सुनि धौंकि उठै यातहीसौं	३३२
पच छिपै इक उपशमै	४८८	यानारसी कहै भैया भय सुनौ	५४

	पृष्ठांक		पृष्ठांक
बालापन काहू पुरप	३२८	माटी भूमि सैलकी सो सपदा	२९२
बन्पाठी प्रह्न मानि निहचै सुरप	३३७	माया छाया एक है	४३४
बौध छिनफनादी कहै	३२७	मासनी गरवि कुच कचन-बलस	५३२
बर्दी सिव भवगाहना	१२	मिथ्यामति गटि-भेद जगी	४९०
बध द्वार पूरौ भयौ	२७०	मिथ्यावत कुन्धि जे प्राणी	५३३
बध बन्पे अध है	२२७	मिथ्र दसा पूरन भइ	४७९
बधै करमसौ मूढ उयौ	२००	मुकृतिके साधनकवौ बाधक	१३२
प्रह्नग्यान आरासमै	५२८	मूढ परमकौ करता होवै	१९९
प्रह्नग्यान नभ अत न आवै	५२८	मूढ मरम जार्न नही	३४७
भ		मुनि महत तापस तपी	२८
भयौ भय सपूरन भारता	५२४	मूरुपकै घट दुरमति भासी	३५५
भयौ सुद्ध अदूर गयौ	३०८	सृपा मोहकी परनति पैली	३७१
भावकरम करत-यता	३२४	मैं करता मैं की-ही कैसी	२४०
भाव पदारथ समय धन	२४	मैं कीनौ भ यौं करौं	३६९
भेदग्यान आरासौ दुफारा करै	२७०	मैं त्रिकाल करनीसौ यारा	३७२
भेदग्यान तनला भलौ	१६०	मोघ चलिवनौ सौन करमकौ	१६
भेदग्यान सवर जिह पायौ	१६१	मोक्ष सरूप सदा चिनमूरति	१२९
भेदग्यान सावू भयौ	१६१	मोह मद पाइ निनि ससारी	२१८
भेदग्यान सवर निदान निरदोष	१५९	मोह महातम मल हरै	१९४
भेदविज्ञान जग्यौ जिहके घट	७	य	
भेदि मिथ्यात सु वेदि महारस	१५८	यथा जीव करता न कहावै	३१५
भेपधरि छोकनिर्झैं बचै सो	३८०	यथा सूत सग्रह जिना	३३४
भेपमैं न ग्यान नहि ग्यान गुर	३७९	यह अजीव अधिकारकौ	८६
भैया जगवासी नू उदासी श्हेकैं	७१	यह पुरुन्त मिथ्यात पब	३२८
भ		यह निचोर या ग्रन्थको	१४९
भनवचकाया करमपल	३६९	यह पचम गुनयानकी	५०२
महा धीर दुखकी घसीठ	९५	यह सयोगुनयानकी	५२०
महिमा सग्यकज्ञानकी	१६६		

	पृष्ठांक		पृष्ठांक
या घटमें भ्रमरूप अनादि	८१	वर्तै प्रय जगत हित कामा	३९४
वाही नर पिंडमें विरातै	२५८	घरनादिक पुदगल-दसा	७६
याहां घटमानसमै मध्यनिकी	५३	घरनादिक रागादि यह	७५
र		घरनी सवरकी दसा	१६०
रमा सल विप धनु मुरा	४४७	यस्तु विचारत ध्यायन	११
रविकै उगेत अस्त होत दिन दिन	२४१	यस्तु स्वरूप लगे नहीं	१३३
राग विरोध उदै जवलां तयलों	३४९	यह बुधिता यह राधिका	३६०
राग विरोध विमोह मल	१४५	यानी जहां निरप्यत्री	५१९
रागाकौसौ याना हीनै भापा साथै	२७४	यानी हीन भयौ जग होणै	५३६
राम-नसिक अर राम रस	२९७	त्रिनसि अनादि अमुठना	३५१
रपकी न झांक हीयै करमकां	२४४	विभाव सगि परननियै	३५३
रपकी रसीली भ्रम बुलफकी	३५८	विवहार-दृष्टियौ विनेका	३५८
रूपउद पंडित प्रथम	५३७	विसम भाव जाँम नहीं	३३९
रूप रमयंत मूरतीक एक पुदगल	७८	वेदनवारी जीय	३३९
रेतनीसी गडी किर्पा मडी है	२५२	शु	
रे रचिवत पचारि कहै गुर	२५९	शिव्य कहै प्रसु सुन कए	३३३
ल		शिव्य कहै म्वामी ईन	३०१
रक्षमी सुबुद्धि अनुभूति कउस्तुभ	४४६	शुद्धनय निहयै अदर्यै अणु	३०
लजायत दयायत प्रमत	४९१	शोमित नित्र अदर्यै अणु	३१
लहिये ओर न प्रय उदधिका	५२५	श्रवन कीरतन अदर्यै अणु	३०३
लिये द्विड पेच विरै लोटन	२४३	शु	
लीन भयौ विवहारमें	१८३	पट प्रतिमा अणु अणु	१०१
लोकनिर्सां क्यु नातौ न तेरौ	४३४	पद् गार्ति अणु अणु	५१०
लोक हास भय भोग रचि	४८४	शु	
लोकालोक मान एक सत्ता है	२८७	सकाउ-अणु-अणु-अणु	३
च		मरुत अणु अणु अणु अणु	३३३
वचन प्रवान करै सुत्रि	५३४	सत्रात्र अणु अणु अणु	३६९
		मत्ता अणु अणु अणु	—

	पृष्ठांक		पृष्ठांक
सत्यप्रतीति अवस्था जाकी	४८०	सुद्ध ग्यानके देह नहि	३७८
सद्गुरु कहै भग्यजीवनिमौ	४३	सुद्ध दरष अनुभौ करै	३४८
सदा करमसौं भिन्न	२४६	सुद्धनयातम आतमकी	४५
सबदमाहि सतगुरु कहै	४३८	सुद्ध बुद्ध अविस्व	२११
सयरसगर्भित मूल रस	३९४	सुद्धभाव चेतन असुद्धभार चेतन	९६
समकित उतपति चिह्न गुन	४८०	सुद्ध सुद्ध अभेद अबाधित	१५५
समता रमता उरधता	२१	सुद्धानम अनुभव जहाँ	२९८
समता धदन धुति फरन	५०५	सुद्धातम अनुभौ कया	३८६
समयसार आतम दरष	५४२	सुद्धानम अनुभौ क्रिया	३८८
समयसार नाटक अकथ	५२५	सुन प्राणी सद्गुरु कहै	२५२
समुझै न ग्यान कहै करम कियेसौं	१३४	सो सुष करम दसा रहित	३७४
समैसार नाटक सुवदानी	५३५	सोरहसौ तिरानवै बीनै	५४०
सम्यकबल कहै अपने गुन	३७२	सोभामै सिंगार बसै	३९२
सम्यकन्त सदा उर अतर	१६९	सकलेश परिनामनिर्सा	१२४
सम्यक सत्य अमोघ सत	२८	सकलेश भाषनि वैधै	२२
सबविमुद्धी द्वारहौं	२९५	सजम अस जग्यौ जहाँ	४९५
सरलकी सठ कहै	२३९	सगत जाके उदरमै	२०
सबविमुद्धी द्वार यह	३९०	स्यादवाद अधिकार अथ	४०१
सहै अदरमन हुदसा	५०९	स्यादवाद अधिकार यह	४२९
सान प्रकृति उपसमहि	४८६	स्यादवाद आतमदशा	४२४
साधी दधि मयमै भरापी	३८९	स्वपर प्रकासक सकति हमारी	४५८
साध्य सुद्ध केवल दशा	४३०	स्वारथके साचे परमारथके साचे	८
सामायिककीसी दसा	४९७	ह	
सासादन गुनयान यह	४७७	होसीमै विपाद बसै	४३५
सिद्ध समान रूप निज जानै	३६६	हिरदै हमारे महा मोहकी	३६७
सिद्धक्षेत्र त्रिभुवनमुकुट	२७	हिंसा मृषा अदत्त धन	५०४
सिध्य कहै स्वामी गुम करनी	१२७	है नाहो नाही सु है	४०४
सील वष सजम विरति दान	१२६	हौं निहचै तिहुँकाल	३४
मुख निधान सक बंध नर	५४०	श	
सुगुद कहै जगमै रहै	३५३	श्रेयाकार ग्यानकी परणति	३४५
		श्रेयाकार प्रश्न मल मानै	३४७

श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचित नाटकसमयसार कलशोंकी वर्णानुक्रमणिका ।



अ	पृष्ठांक	अ	पृष्ठांक
अकर्ता जीवोऽय	३१४	अस्मिन्ननादिनि महत्त्वविवेकनाट्ये	८१
अस्तण्डितमनाकुल	४६	अज्ञानतस्तु सतृणाभ्यवहारकारी	९७
अचिन्त्यशक्ति स्वयमेव	१८६	अज्ञानमय भावानामज्ञानी	१०६
अप्याप्या स्वयमुच्छलन्ति	१८०	अज्ञानमेतदधिगम्य	२३२
अतो हता प्रमादिनो	२९१	अज्ञानान्मृगतृणिका जलधिया	९९
अत शुद्धनयामय	३८	अज्ञानी प्रकृतिस्वभाव	३१७
अत्यन्त भावयित्वाविरति	३७४	अज्ञान ज्ञानमप्येव	१०२
अय स्याद्वादशुष्ययं	४०१	आ	
अय महामदनिर्झरमन्थर	१३९	आक्रामकविकल्पभावमचल	११२
अद्वैताऽपि हि चेतना	२७८	आत्मनश्चिन्तयैवाल	५०
अध्यात्म्य शुद्धनय	१४६	आत्मभाया क्रोश्यात्मा	९६
अध्यास्यात्मनि सर्गभावभवन	४२१	आत्मस्वभाव परभावभिन्न	४२
अनन्तधर्मस्तारव	३२	आत्मानुभूतिरिति	४५
अनवरतमनन्तै	२८६	आत्मान परिशुद्धमीप्सुभि	३३३
अनाद्यनन्तमचल	७७	आत्मा ज्ञान स्वय ज्ञान	१०३
अनेनाभवसायेन	२४०	आसत्कारत एव धावति	९५
अन्येभ्यो व्यतिरिक्तमात्मनियत	३७६	आसत्कारविरोधिसवर	१५४
अपि कथमपि मृत्वा	५४	आसत्कारात्प्रतिपदममी	१७४
अर्थात्मन्नकाल एव कलयन्	४१९	इ	
अलमलमतिजल्पै	३८७	इतिपरिचिततत्त्वै	६२
अवतरति न भावदृष्टि	६३	इति वस्तुस्वभाव स्व	२५०
अविचलितचिदात्म	४६३	इति वस्तुस्वभाव स्व	२५०

	पृष्ठांक		पृष्ठांक
इति सति सह	६५	एक परिणामति सदा	९३
इतीदमात्मनस्तत्र	३८९	एक ज्ञानमनाद्यनंतमण्डलं	२११
इतो गतमनेकनां	४६०	एव तत्रव्यवस्थाय्या	४२४
इत पदायप्रथमानागुण्टनादिना	३७१	एव ज्ञानस्य गुणस्य	३००
इत्य परिग्रहमपास्य समम्भमेव	१८९	एव ज्ञानधनो नित्यमारमा	४७
इत्य ज्ञानप्रकृतकलना	८२	एवैकेय हि वेदना	२०८
इत्यज्ञानविमूढाना	४२४	ए	
इत्याद्यनेकनिजनाकि मुनितरोऽपि	४२१	कतुर्द्वयिदुश्च युक्तिवशातो	३३५
इत्यालोय विवेच्य तरिकल	२६६	कतृत्वं न स्वभावोऽस्य	३१४
इत्येव विरचय्य सप्तति	८८	कथमपि समुपात	५१
इदमेक जगच्चतु	३८९	कथमपि हि लभते	५२
इदमत्र तालपर्यं	१४०	कर्त्ता कर्त्ता भवति न यथा	११७
इद्विज्ञानमिदमेवमुच्छलत्	११०	कर्त्ता कर्मणि नास्ति नास्ति	११६
उ		कर्त्तारं स्वफलेन धरिक्ल	१९९
उदयति न नयधी	४१	कस्य स्वयमपि सर्वविदो	१२६
उमुक्तमु मोच्यमनोप	३७७	कर्म्मत्र प्रवित्तस्य कतृ इतकै	३२५
उभयनयविरोध	३५	कषाय कलिरेवत	४६१
एकस्य वस्तुन इहान्यतरंग साद	३२०	कालैव रनपयति ये	५५
एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो	३७	कायत्यादृष्ट नकम	३२३
एकत्वं व्यवहारतो न तु	६१	कृतकारितानुमनै	३६३
एकमेव हि तत्सवाद्य	१७८	किञ्चिन्तां स्वयमेव	१८२
एकश्चितश्चित्तमय एवभावो	२८३	कश्चिहसति मेचक	४५९
एनस्य बद्धो न तथा परस्य	१०८	घ	
एकजायकमान निर्भर	१७९	धृतकुम्भभिधानेऽपि	७७
एको दुरात्यजति भदिरां	१२२	च	
एको मोक्षपथो य एव	३८३	धिच्छक्ति यास्मिन्वस्व	७३
एकः कर्त्ता चिदहमिह	८६	धित्तिण्डचण्डमविलासत्रिकाम	४५०
		धिपरभावभरभानिभावा	१११

	पृष्ठांक		पृष्ठांक
विरामिति नवताव	३९	न	
विशानाक्सिनुदायमयो	४५४	न करिष्यामि न कारयिष्यामि	३७०
विदुष्यं जडरूपतां च	१५५	न करोमि न फारयामि	३६९
ज		न कर्मबहुल जगत्त	२२०
जननि सहजतेज	४६२	न जातु रागादिनिमित्तभार	२४८
जानाति य न न करोति	२२८	न द्रव्येन स्पन्दयामि न क्षेत्रे	४५६
जीवादीवधिनैःपुत्रलक्षणा	७०	ननु परिणाम ष्व किल	३४२
जीवादवीधमिति	८०	नम नमपसाराय	३१
जीव करोति यदि पुत्रलक्षम	१०३	न हि विदधति यद्	४३
ज		नाशुते विषयसेवनेऽपि	१६८
ज्येष्ठीर्गविशुद्धयोधयिमरा	४२३	नास्ति सयोंऽपि सम्बन्ध	३१९
ज्योतीर्स्वरस	२१२	निज महिमतानां	१५८
ज		नित्यमधिकारमुस्थित	५६
जज्ञानस्यैव सामर्थ्यं	१६६	निर्णयते येन यदप्रविचिद्	७५
नपापि न निरगलं	२२३	निशेषकर्मफलस यसमात्मनैव	३७३
नदय कम शुभापुनमेष्टो	१२१	निपिद्ये सर्वस्मिन्	१२७
नरुवाऽनुद्विविधायि	३०५	नीत्वा सम्यक् प्रलयम	३१२
ननु जगदिदानीं	५३	नैकस्य हि कतारौ द्वौ	९४
नक्त येन परं स कर्म	२००	नैकान्तसङ्गतदना स्वयमेव वस्तु	४४९
द		नोभौ परिणमत खलु	९३
दर्शनज्ञानचारित्र	३८१	प	
दर्शनज्ञानचारित्रै	४८	पद्मिद ननु कर्म दुरासद	१८६
”	४९	परद्रव्यग्रहं कुर्वन्	२८६
दूर भूरिविकल्पजालगहने	११३	परपरणति हेतो	३४
द्वयलिङ्गमकारमीलतै	३८६	परपरिणतिमुज्जात्	८७
द्विधाहृत्य प्रशाक्त	२७०	परमार्थेन तु व्यक्तज्ञा	५०
घ		पूर्वकाद्युतशुद्धयोधमहिमा	३५४
	१४९	पूर्वग्रह निजकर्म	१९

	पृष्ठांक		पृष्ठांक
पूर्वालम्बितप्रोधयनाशसमय	४१७	मा कत्तारममी स्तृशानु	३२६
प्रच्युत्य शुद्धनयत	१४७	मिष्याये स प्वास्य	२४०
प्रत्यक्षा लिखितस्फुरस्त्रियर	४१२	मोहविलासाविजृम्भित	३७०
प्रत्याप्याय भविष्यत्कर्म	३७१	मोहाद्यदहमकार्य	३६८
प्रमादकलित कथ भवति	३०१	मोक्षहेतुतिरोधान	१३१
प्रज्ञाञ्जरी शितेय	२७१	य	
प्राकारकवलितावर	५८	य एव मुक्त्या नयपक्षपात	१०७
प्राणोच्छ्वदमुद्राहरन्ति मरण	२०७	यत्तु वस्तु कुरुनेऽन्य घस्तुन	३४४
प्रादुभावविराममुद्रित	४२२	यत्प्रज्ञाशमुपैतितस्त नियतं	२०९
य		यदि कथमपिधारावाहिना	१५७
य धस्तेदात्कलयदनुल	३०८	यदहवार्प यदहमचीकर	३६७
यहिलुंगति यद्यपि	३४२	यदिह भजति रागद्वेष	३५२
याद्यायप्रहणस्वभाजभरतो	४१०	यदत ज्ञानात्मा ध्रुवम्	१२९
याद्यायै परिपीतमुद्रित	४०१	यस्माद्द्वैतमभूरपुरा	४६५
भ		यत्र प्रतिब्रमणमेव	२९७
भावयेद्देदविज्ञान	१६०	यादक तादगिहास्ति	१९६
भावास्तवाभावमयं प्रपद्यो	१४१	यावत्पाक मुपैति कर्मविरति	१३३
भावो रागद्वेषमोहैर्विना	१४०	ये तु कत्तारमारमान	३१८
भिन्त्वा सर्वमपि स्तलक्षण	२७७	ये तु स्वभावनियम	३२२
भिक्षक्षेत्रनिपण्णवोध्द्य	११५	ये त्वेन परिहृत्य सतृतिपथ	३८४
भूत भान्तमभूतमेव रभसा	४४	ये ज्ञानमात्रनिजभावमयीमरुम्पा	४४९
भेदविज्ञानत सिद्धा	१६१	योऽय भावो ज्ञानमात्रोऽह	४५७
भेदज्ञानोच्छलन	१६२	य करोति स करोति केवल	११५
भेदोन्माद् भ्रमरसभरा	१३५	य परणमति सकर्ता	९२
भोक्तृत्व न स्वभावोऽस्य	३१६	य पूर्वभाववृत्तकर्म	३७४
भ		र	
भग्ना कर्मनयावलम्बनपरा	१३४	रागजन्मनि निमित्ततां	३५३
भ्रान्तु भिर्भरममी	६६	रागद्वेषद्वय मुदयते	३४९

	पृष्ठांक		पृष्ठांक
रागद्वेषविमोहाना	१४५	वेद्यपेदकविमानचलना	१०१
रागद्वेषविभाजमुक्तमहसो	३६३	व्यतिरिक्त परद्रव्यादेव	३७८
रागद्वेषाविह हि भवति	३५०	व्यवहरणनय स्याद्य	३६
रागद्वेषोत्पादकं तरुदृष्टया	३५१	व्यवहारविमूढदृष्टय	३८५
रागादयो यच्चनिदानमुक्ता	२४७	व्याप्यव्यापकता तदात्मनि	९०
रागादीनां ज्ञागिति विगमात्	१५०	व्यावहारिकदृशैव केवलं	३४१
रागादीनामुदयमदर्थं	२६८	श	
रागाद्यास्तवरोधतो	१६७	शुद्धद्रव्यनिरूपणार्थिन	३४५
रागोद्धारमहात्म्येन सकलं	२१८	शुद्धद्रव्यस्वरसम्भवनात्किं	३४८
रन्वन यच्चनरमिति	२१५	स	
रु		सकलमपि विहायाहाय	७४
लोकं कर्म ततोऽस्तुमोस्तु	२२२	सन्न्यस्तव्यमिदं समस्तमपि	१३२
लोकं दाश्वत पुरुं पृथ	२०५	सन्न्यस्तव्यज्ञिजबुद्धिपूर्वमिनिश	१४२
रु		समस्तमित्येवमपास्यकर्म	३७१
वणादिन्मामप्रयमिदं विदन्तु	७६	सम्पद्यते सत्तर ण्य साक्षा	१५९
वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा	७५	सम्पद्येष्टय एव साहसमिदं	२०२
वर्णाद्यै र्महिनस्तथा	७८	सम्पद्येष्टि स्वयमयमह	१७०
वस्तु चैकमिह नायस्नुनो	३४३	सम्पद्येष्टेर्भवति नियत	१६९
विकल्पक पर कर्मा	११४	सर्वत स्वरसन्निर्भरभाव	६४
विगलन्तु कर्मविपतरु	३७२	सर्वत्राध्यवसानमेवमखिल	२४६
विजहति न हि सत्ता	१४४	सत्तद्रव्यमय प्रपद्य	४१३
विरम किमपरेणा	७१	सर्वस्यामेव जीवन्त्या	१४३
विध्यात् परभाजभावकलना	४२०	मर्च सदैव नियत	२३१
विश्वादिभक्तोऽपि हि यत्प्रभावा	२४६	मिद्वान्तोऽयमुदात्तचित्त	२८५
विश्व ज्ञानमितिप्रतर्क्य	४०९	स्थितेति जीवस्य निरतरा या	१०४
वृत्तं ज्ञानस्वभावेन	१३०	स्थितेत्यविज्ञा खलु पुद्गलस्य	१०४
वृत्त कर्मस्वभावेन	१३०	स्याद्वादकौशलमुनिश्चल	
वृत्त्यांशभेदतोऽस्थन्तं	३२९		

	पृष्ठांक		पृष्ठांक
सयमाभ्यां	४५०	श	
स्वाहाददीपितलसमहसि		शसि करोतौ नहि भासतेऽन्त	११६
प्रकाणे	४५३	ज्ञानमय षय भाव	१०४
स्वशाशिसंसूचित वन्नुतस्यै	४६६	ज्ञानवान् स्वरसतोऽपि	१९४
म्बक्षेत्रस्थितये पृथग्विधि	४१६	ज्ञानस्य सचेतनयैव निरय	३६४
स्वेच्छासमुच्छलद्	१०९	ज्ञानाद्विवेचकतया तु परात्मनोर्यो	१००
स्वं रूपं किल वस्तुनोऽस्ति	२१०	ज्ञानादेव ज्वलनपयसो	१०१
ह		ज्ञानिन् कर्म न जातु	१९७
हेतुस्वभावातुमवाश्रयाणां	१२४	ज्ञानिनो नहि परिग्रह भाव	१९२
क्ष		ज्ञानिनो ज्ञाननिर्मुक्ता	१०५
क्षणिकमिदमिदं	३२७	ज्ञानी करोति न न वेद्यत स कर्म	३१८
		ज्ञानी जानन्नपीमां	९१
		ज्ञेयाकारकलङ्कमेवकचिति	४१३

आन्यात्मिक-ग्रंथ ।



भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यकृत—

१ नियमसार—समयसार प्रवचनसार आठिके समान अध्यात्मका प्राकृत गाजाखद अर्पुर् ग्रंथ है । निर्गम मुनि श्रीपद्मप्रभमल्यारीकी संस्कृत टीका है और ब्रह्मचारी शीलप्रसादजीकी बनाई हुई सरल भाषाटीका है । इसमें जीवार्थिकार, अजीवार्थिकार, शुद्ध भाव, व्यवहार चारित्र, निश्चय प्रति-क्रमण, निश्चय प्रत्याख्यान, निश्चयालोचन, निश्चय प्रायश्चित्त, परम समाधि, परमभक्ति, निश्चयावश्यक, शुद्धोपयोग ऐसे १२ अर्थिकार हैं । मूल्य १।।।) कपटकी जिल्द बँधीका २।)

२ पचास्तिकाय—अमृतचन्द्रमूरिकृत तत्त्वदीपिका, जयसेनाचार्यकृत तात्पर्यवृत्ति ये दो संस्कृत टीकाये और २५० पाण्डे हेमराजजीकृत बालबोध भाषागीका सहित । इसमें जीव, पुद्गल, धर्म, अवर्म और आकाश इन पाँच अस्तिकायोंका वर्णन है । सजिल्दका मूल्य २)

३ पचास्तिकायदर्पण—जयसेनाचार्यकृत तात्पर्यवृत्तिके अनुसार ३० शीलप्रसादजीकृत सरल भाषाटीका है । मूल्य प्रथम भागका २) द्वितीय भागका १।=)

४ प्रवचनसार—श्रीअमृतचन्द्रमूरिकृत तत्त्वदीपिका जयसेनाचार्यकृत तात्पर्यवृत्ति ये दो संस्कृत टीकायें, और २५० पाण्डे हेमराजजीकृत बालबोध भाषाटीका सहित । मूल्य सजिल्दका ३)

५ प्रवचनसारटीका—जयसेनाचार्यकृत तात्पर्यवृत्तिके अनुसार ३० शीलप्रसादजीकृत विस्तृत भाषाटीका सहित । मूल्य प्रथमखंडका १।।) द्वितीयखंडका १।।।) तृतीयखंडका १।।।)

६ समयसार—अमृतचद्रमूरिहृत आत्मस्याति और जयसेनाचार्य-
वृत तापर्यवृत्ति ये दो संस्कृत टीकार्ये और १२० पं० जयचद्रजीहृत
आत्मस्याति भाषानचनिका । इसमें शुद्ध नयका कवन है । जनरमके असली
स्वरूपका दिग्दर्शन इसीसे होता है । मुदर जिन्द बेगी हुई है ।
मूल्य सिर्फ ४॥)

७ समयसारटीका—जयसेनाचार्यवृत तापर्यवृत्तिके अनुसार ३०
शीतलप्रसादजीहृत विस्तृत भाषाटीका सहित । मूल्य सजिल्दका २॥॥)

८ अष्टपाहुड—मूठ गायये और १२० पं० जयचद्रजीहृत विस्तृत
भाषानचनिका सहित । इसमें दर्शन, सूत्र, चारित्र, वीर, भाव, मोक्ष, लिंग
शील ये आठ पाहुड हैं । पृष्ठसंख्या ४६० मूल्य लागतमात्र १॥२) कप-
डेकी जिन्द बेगी हुई है ।

९ पद्मप्राभृतादिसग्रह—(संस्कृत) श्रीश्रुतसागरमूरिहृत संस्कृत-
टीकासहित । मूल्य लागतमात्र ३)

१० समयप्राभृत—अमृतचद्रमूरि और जयसेनाचार्यवृत संस्कृत
टीकासहित । मूल्य ३॥)

आत्मानुशासन—भगवजिनसेनाचार्यके शिष्य श्रीगुणभद्राचार्यवृत
मूठ श्लोक, और न्यायतीर्थ ५० नंशीधरनी शास्त्रीहृत विस्तृत सरल भा
पाटीकासहित । बड़ा ही उत्तम और उपदेशपूर्ण ग्रंथ है । इसके उपदेशका
हृदयपर उदा प्रभाव पड़ता है । आत्मानुशासन, आत्माका शासन करनेके
टिप्—उसको बशीभूत करनेके टिप् न्यायी शासकके समान है । अघ्या
त्मके प्रेमी इसके स्वाध्यायसे जर्पूर शान्ति-लाभ करते हैं । दूसरी बार
बड़ी सुन्दरता और शुद्धतापूर्वक छपा है । मूल्य २)

ज्ञानार्णव—राजर्षि शुभचद्राचार्यवृत मूल और १२० पं० जयच-
द्रजीहृत भाषानचनिका । इसमें वैराग्य, योग, ध्यान, ब्रह्मचर्यका विस्तृत
वर्णन है । मूल्य सजिल्दका ४)

परमात्मप्रकाश—श्रीयोगीन्द्रदेवकृत मूठ गाययें, श्रीनन्ददेवमृरिक्त सखलटीका, ओर स्व० प० दोडनरामजीकृत भाषानचनिका सहित । यह अथामप्रंय निश्चय मोक्षमार्गका साधन होनेमे मुमुक्षुनोंके लिये ढुत ल्पयोगी है । मूल्य सजिन्दका ३)

समाधिगतक—श्रीपूयपादस्वामीकृत मूल श्लोक और ढलचारी शीतलप्रमादजीकृत निम्नृत भाषाटीका सहित । इस ढ्रयमें परमानकी प्रातिके ल्पाय अच्छी तरह वनाया है । मूल्य १।)

आराधनासार—श्रीदेवसेनाचार्यकृत मूल गाययें प० गनापरलाडजीकृत भाषाटीका । सम्पददर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इन चार आगप्रनाओंका ढर्णन है । मूल्य १।)

इष्टोपदेश—श्रीपूयपादस्वामीकृत मूल ओर ढलचारी शीतलप्रमादजीकृत । निज आत्मस्वभाषकी प्राति स्वय अपनेही रशामानुभषसे होती है । इमीके प्रातिके ल्पायोंका ढर्णन है । मूल्य १।)

थ्रयत्रयी—श्रीनागनेनकृत तत्प्रानुशासन श्रीचद्रकृत पैराग्यमणिमाला और पूयपादस्वामीकृत इष्टोपदेशका प० लडरामनी शास्त्रीकृत भाषानुषा । मूल्य १)

योगमार—श्रीअमितगतिआचार्यकृत मूल और प० गजाधरलालनी शास्त्रीकृत भाषाटीका । इस ढ्रयमें जीव, अनीन, आम्नत्र, वंय, सनर, निर्जरा, मोक्ष और चारित्रका निम्नृत ढर्णन है । मूल्य २।।)

शान्तिमोषान—परमानदस्तोत्र, स्वरूपसंढोधन, सामायिक्रपाठ, मृत्युमहोत्मव समाधिगतक—इन छोटे छोटे पाँच ढ्रयोकी ढ० ज्ञानानदजीकृत भाषाटीका है । मूल्य ॥)

समयमार नाटक—स्व० कविनर जनारमीदासजीकृत मूलमात्र । मूल्य १)

ग्रन्थचनसारपरमागम—स्व० कविर वृन्दावनजीकृत । २
अव्यासके गूढ तत्वोंका वर्णन है। बड़ी सुन्दर कविता है। मूल्य १।

आत्मसिद्धि—शतारधानी महात्मा रायचन्द्रजीकृत, बड़ा मह
पूर्ण ग्रन्थ है, इसमें प्रौढ़ युक्तियों द्वारा आत्माकी सिद्धि की गई
रायचन्द्रजी महात्मा गौरीजीके गुरु हैं, प्रसारभमें प्रयत्नकर्त्ताकी प्रित्तृप्त जी
है। मूल्य सजिल्दका १।)

अनुभवानन्द—२० शीतलप्रसादजीके आयात्मिक निग्रह। मूल्य

आत्मधर्म—३० शीतलप्रसादजीकृत आत्मचिन्तनके लिये
उपयोगी है। मूल्य १=)

आत्मानन्द-सौपान—३० शीतलप्रसादजीकृत

आयात्मिक निवेदन— ”

सुखशान्तिकी सच्ची कुजी— ”

स्वप्नमरानन्द (चेतनकर्मपुद्गल)— ”

निश्चयधर्मका मनन— ”

आत्मशुद्धि और शीलभाषना—स्व० लाला मुन्दीलालजी एम
ए० कृत । मूल्य ३=)॥

इनके सिवाय हमारे यहाँ सब जगहके सब तरहके उपे हुए जैनग्र
और सर्व साधारणोपयोगी हिन्दीके उपन्यास, नाटक, जीवनचरित
इतिहास, विज्ञान, कृषि, अर्थशास्त्र, संश्लेषी उत्तमोत्तम पुस्तकें भी मिल
हैं। बड़ा सूचीपत्र मुफ्त मँगाकर पढ़िये।

मंगानेका पता —

छगनमल बाकलीवाल

मालिक—जैनग्रन्थरत्नाकर

धरारावाग

प्रवचनमारपरमागम—ख० कविर वृन्दावनजीकृत । इसमें
अध्यामके गूढ़ तत्त्वोंका वर्णन है । बड़ी सुन्दर कविता है । मूल्य १।)

आत्मसिद्धि—शतावधानी महात्मा रायचन्द्रजीकृत, बड़ा महत्त्व-
पूर्ण ग्रन्थ है, इसमें प्रौढ़ युक्तियों द्वारा आत्माकी सिद्धि की गई है ।
रायचन्द्रजी महामा गौड़ीनीके गुरु हैं, प्रारम्भमें प्रपञ्चकी विस्तृत जीवनी
है । मूल्य सजिल्दका १।)

अनुभवांन्द—ब० शीतलप्रसादजीके आध्यात्मिक निबंध । मूल्य ॥)

आत्मधर्म—ब० शीतलप्रसादजीकृत आत्मचिन्तनके लिये अति
उपयोगी है । मू० १=)

जात्मानन्द-सोपान—ब० शीतलप्रसादजीकृत १)॥

आध्यात्मिक निवेदन— " १)॥

सुरशान्तिकी सच्ची कुजी— " १)॥

स्वसमरानन्द (चेतनकर्मयुद्ध)— " ३)॥

निःशयधर्मका मनन— " १।)

आत्मशुद्धि और शीलभाजना—ब० लाला मुन्शीलालजी एम०
ए० कृत । मूल्य ३)॥

इनके सिवाय हमारे यहाँ सब जगहके सब तरहके उपे हुए जैनग्रंथ
और सर्व साधारणोपयोगी हिन्दीके उपन्यास, नाटक, जीवनचरित
इतिहास, विज्ञान, कृषि, अर्थशास्त्र, संबन्धी उत्तमोत्तम पुस्तकें भी मिलती
हैं । बड़ा सूचीपत्र मुफ्त मँगाकर पढ़िये ।

मँगानेका पता —

छगनमल थाकलीयाल

मालिक—जैनग्रंथरत्नाकर कार्यालय,

ठि० हीराबाग पो० गिरगाव बम्बई ।

